हिन्दी साहित्य और विभिन्नवाद

लेखक
श्री रामजीलाल बघौतिया
एम० ए० (हिन्दी व संस्कृत), शास्त्री

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—
राजकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण

नवम्बर १९५८

मूल्य ५)

मुद्रक
राकेशचन्द्र उपाध्याय
आगरा पॉपूलर प्रेस, आगरा।

प्राक्कथन

आज का युग विज्ञान एवं विश्लेषण का युग है, तर्क एवं चिन्तन का युग है। यही कारण है कि साहित्य में विभिन्न वादों का प्राबल्य है। इन विविध वादों को हम साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों की संज्ञा भी दे सकते है। प्रस्तुत 'हिन्दी साहित्य और विभिन्नवाद' पुस्तक में हिन्दी साहित्य की उन्ही विभिन्न प्रवृत्तियों अथवा विभिन्न वादों के स्वरूप का विवेचन किया गया है। वादों की व्याख्या एवं समीक्षा करते समय लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों की सम्बन्धित व्याख्याओं एवं मान्यताओं को विशिष्ट स्थान दिया गया है तदनन्तर वाद की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि एवं उसके व्यापक प्रभाव पर भी यथासाध्य सम्यक् विचार किया गया है।

इन वादों के विवेचन में इस क्षेत्र के लेखकों की कृतियों तथा पत्र-पत्रिकाओं आदि से पर्याप्त सहायता मिली है। लेखक उन सभी विद्वानों का हृदय से आभारी है।

आशा है विभिन्न वादों का समवेत रूप में परिचय देने वाली यह पुस्तक अध्ययनशील पाठकों की सुरुचि की पूर्ति कर सकेगी।

रामजीलाल बधौतिया

दीपावली—१६१५ विक्रमी

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—प्रयोगवाद	१
२—प्रगतिवाद	२६
३—प्रकृतिवाद	५४
४—छायावाद	१०१
५—रहस्यवाद	१५५
६—अभिव्यंजनावाद	१८४
७—प्रतीकवाद	१९९
८—हालावाद	२१३
९—नग्नवाद	२२५
१०—सूफीवाद	२४१
११—राष्ट्रीयतावाद	२६६
१२—आदर्शवाद	२८२
१३—यथार्थवाद	२९९
१४—गाधीवाद	३१७



प्रयोगवाद

प्रयोगवाद आधुनिक हिन्दी कविता की एक नवीनतम शैली विशेष है जिसमें कवि अपनी अनुभूति की व्यञ्जना के लिए नवीन प्रयोगों को अपनाता है। प्रगतिवादी कवि की भाँति प्रयोगवादी कवि राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में साम्यवाद के सिद्धान्तों द्वारा क्रान्ति करना ही अपना प्रथम कर्तव्य नहीं मानता है। वह तो किसी राजनीतिक वाद का क्रीतदास न होकर साहित्य में अपने व्यक्तित्व को बनाये रखना अपना सबसे प्रथम कर्तव्य समझता है। उसका उद्देश्य तो आज के अस्थिर एवं अनेक रूप जीवन की स्पष्ट तथा काव्यमयी व्याख्या करना होता है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह हिन्दी के कवियों की रूढ़गत परम्परा का अनुसरण नहीं करता है। उसका विचार है कि आज के व्यावहारिक जीवन की सफल अभिव्यक्ति काव्य वस्तु एवं शैली शिल्प के नवीन प्रयोगों द्वारा ही हो सकती है। इसीलिए वह अपने काव्य में नये विषय नये छन्द, नये रूप, नये स्वर, नयी शैलियाँ, नयी ध्वनियाँ तथा नयी अभिव्यक्ति आदि का समावेश करता है। उसका मत है कि काव्य में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए जो स्थान सुन्दर, मधुर एवं कोमल को है, वही स्थान भदेस, अनगढ़ और परुष को होना चाहिये। आज के जीवन मे अनगढ़ और भदेस हमारे अधिक समीप है। इसलिए काव्य में, जो कि जीवन की वास्तविक एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, मसृण, मधुर एवं कोमल की अपेक्षा परुष, अनगढ और भदेस का महत्व अधिक होना चाहिए। नवीन कवियों की इस विचारधारा को ही हिन्दी काव्य में प्रयोगवाद की संज्ञा दी गयी है।

हिन्दी काव्य में प्रयोगवाद का इतिहास लगभग एक दशक का इतिहास है। प्रगतिवाद का सहोदर होने के नाते इस विशेष प्रवृत्ति का जन्म भी छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के में रूप हुआ है। छायावाद की अतीन्द्रियता, अमूर्त-साधना, रहस्यभावना और कल्पनासृष्टि ही छायावाद के पतन के मुख्य कारण हुए। इसके अतिरिक्त छायावाद में रूढ़िगत अध्यात्म का भी अभाव था। फलतः

पलायनवृत्ति छायावाद की एक विशेषता बन गयी। परिवर्तन प्रिय कवियों ने इसका लाभ उठाया। उन्होंने प्रचार करना आरम्भ किया कि आधुनिक जीवन की सफल अभिव्यक्ति के लिए छायावाद की वायवी भाववस्तु तथा शैली उपयुक्त नहीं है। आज का जीवन अत्यन्त ही अस्थिर एवं अनेक रूप है। अतः आज के जीवन की स्पष्ट तथा काव्यमयी व्याख्या सामाजिक एवं व्यावहारिक जीवन की मूर्त अनुभूतियों को अपनाने से ही हो सकती है, और यह कथन कुछ-कुछ सत्य भी था। छायावाद की एकान्त-अन्तर्मुख तथा आकाश चारिणी कविता वास्तविक जीवन के अंचल को पूर्णरूप से छोड़ चुकी थी। अतः जनता ने नवीन कविता का अति स्वागत किया क्योंकि ये कविताएँ व्यावहारिक जीवन के अधिक निकट थीं। फलतः उनमें स्पष्टता तथा प्रभावोत्पादकता पर्याप्त मात्रा में थी।

हिन्दी काव्य मे प्रयोगवाद के प्रादुर्भाव का अन्य कारण मानव की स्वाभाविक रुचि है। मानव स्वभाव से ही आगत के प्रति अनास्था तथा अनागत के प्रति आस्था से देखता आया है। कारण—वह परिवर्तन एवं नवीनता का चिर प्रेमी है। साधारण से साधारण नवीन वस्तु उसकी दृष्टि में प्राप्त वस्तु से अधिक आकर्षक एवं सुन्दर प्रतीत होती है। चिर साहचर्य्य एवं सतत सान्निध्य एक वस्तु के वाह्य सौन्दर्य्य एवं आकर्षण को तो कम कर ही देता है, चाहे उसका वास्तविक मूल्य बढ़ जाए। मानव स्वभाव की इसी नवीनता एवं परिवर्तन-प्रियता की स्वाभाविक वृत्ति के फलस्वरूप हमारे हिन्दी साहित्यिकों की लेखनी पर भी प्रभाव पड़ा। अब तक हमारे कवि छायावाद के एक काल्पनिक एवं स्वप्निल जगत मे निराधार उड़ते थे। अब वे क्षितिज के उस पार एक ऐसे साकार जगत में पहुँचने लगे जहाँ उनकी कल्पनाएं साकार हो उठीं। वहाँ के नये तराने, नये गाने, नयी शैली और सबसे अधिक नये विचारों ने हमारे तरुण कवि हृदय को अधिक प्रभावित किया। रूस के प्रसिद्ध युग प्रवर्त्तक कवि मायकावस्की के 'कविबन्धु' में कहे हुए शब्द—

"श्रीमान कवियो,
क्या तुम नहीं थके ?
इन महलों, राजकुमारियों, प्रेम और नरगिस के गुच्छों से ?
मगर जैसे तुम हो

वैसे ही कलाकार होते हैं,
तो मै कविता पर थूकता हूँ''

जितने रूसी समाज के लिए उत्तेजक एवं प्रभावशाली सिद्ध हुए, उतने ही वे हमारे भारतीय तरुण कवियों के लिए हृदय स्पर्शी। यहाँ तक कि हमारे प्रौढ़ छायावादी कवि श्री पन्त भी इस प्रभाव से न बच सके। उनकी 'ग्राम्या' रचना इसी विश्वव्यापी प्रभाव की घोषणा करती है। मायकावस्की सौन्दर्योपासना, रीतिकाव्य, पौराणिक काव्य, गीतिकाव्य, आदि की सभी मनोवृत्तियों को हथौड़े के एक प्रहार में चूर-चूर करने का पक्षपाती था। उसकी दृष्टि में गुलाब, मलयज, तितलियाँ, चमकती धूप, हिमकरण, इन्द्रधनुष इत्यादि सभी बेकार के विषय थे। अतः हम कह सकते हैं कि हिन्दी काव्य मे प्रयोगवादी साहित्य के सूत्र-पात्र का मूल कारण रूसी साहित्य की वही विश्वव्यापी लहर थी जिसने एक ओर वहाँ की जनता के हृदय मे क्रान्ति के भाव अंकुरित किये दूसरी ओर रूस के प्रेमगीतों के सम्राटकवि थेसेनिन को आत्महत्या करने के लिए बाध्य कराया।

डाक्टर नगेन्द्र का कथन है कि आज का जीवन अत्यन्त ही अव्यवस्थित है। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक आदि सभी प्रकार की समस्याओं ने जीवन को बोझिल सा बना दिया है। उसमें अतीत का सा माधुर्य एवं प्रवाह नहीं है। इसका कारण यह है कि पहले राजनीति और संस्कृति अपनी पृथक-पृथक सत्ता रखती थी, किन्तु आज दोनों पूर्णरूप से मिश्रत है। आज यदि किसी भी प्रकार का राजनीतिक परिवर्तन होता है, तो संस्कृति पर उसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। विज्ञान की उन्नति ने तो आस्तिक-नास्तिक तथा भौतिकवादी-अध्यात्मवादी के विचारों में एक संघर्ष सा उत्पन्न कर दिया है। आज सारा विश्व एक असन्तोष तथा अविश्वास के विशेष रोग से पीड़ित है। आज "राजनीति में हिंसा-अहिंसा, प्रजातन्त्रवाद, साम्यवाद सर्वाधिकारवाद का और अर्थनीति में पूँजीवाद और समाजवाद का, दर्शन के क्षेत्र में आदर्श और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदि का और मनोविज्ञान में चेतन और अवचेतन आदि का ऐसा कुहराम मचा है कि आज के मानव की चेतना एकान्त, धूमिल और तमसाछन्न हो गई है।" (नगेन्द्र—प्रयोगवादी कविता) ऐसी अवस्था में यथार्थता के अभाव में आज के कवि के लिए किसी स्थिर रोमानी सौन्दर्य बोध

को अपनाना नितान्त असम्भव है। फलतः आज का कवि काल्पनिक जगत को छोड़ वास्तविक जगत का चित्रण करने चला है। इस प्रकार प्रयोगवाद के आविर्भाव का मूल कारण विश्व की अव्यवस्था तथा विशृङ्खलता ही है। डाक्टर नगेन्द्र का उपर्युक्त कथन ठीक ही है। आज सारा विश्व किसी न किसी प्रकार से पीडित है। पंत जी के शब्द देखिए—

'जग पीड़ित है, अति दुःख से,
जग पीड़ित है अति सुख से;
मानव जग में मिल जाएँ,
सुख दुःख से और दुःख सुख से।

ऐसा प्रतीत होता है कि आज का प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी कवि इसी स्वप्न को पूर्ण करने का प्रण कर काव्य-भूमि में अवतरित हुआ है।

प्रयोगवाद के आविर्भाव के विषय में विचार करने के पश्चात् हमारा ध्यान अनियन्त्रित रूप से प्रयोगवादी कवि के काव्य-परक दृष्टिकोण की ओर आकर्षित होता है। प्रयोगवादी कवि काव्य के उभयपक्ष, भावपक्ष और कलापक्ष दोनों में अपने पूर्ववर्ती कवियों से भिन्न दृष्टिकोण रखता है। उसे पुरातन से एक प्रकार की चिढ़ है। नूतन उसके लिए ग्राह्य तथा पुरातन अग्राह्य है। नूतनता में उसके लिए प्रगति, सौन्दर्य, जीवन तथा प्रकाश की आभा दिखाई देती है तो पुरातनता में उसे अवनति, कुरूपता, मरण तथा अंधकार की छाया। नूतनता उसके लिए बंशी का मधुर स्वर है तो पुरातनता फटे ढोल की आवाज; नूतनता में उसके लिए यदि काकली का कण्ठ छिपा है तो पुरातनता में काग की कर्कश काँउ-काँउ। कहने का तात्पर्य यह है कि नूतनता से प्रयोगवादी कवि को राग और पुरातन से विराग है। प्रयोगवादी कवि की इस सर्वव्यापी नूतनप्रियता का उसके काव्य में पूर्ण प्रभाव प्रति लक्षित होता है।

सर्वप्रथम प्रयोगवादी कवि का काव्य-विषय सम्बन्धित दृष्टिकोण लीजिए। इस दिशा में उस पर मार्क्सवाद का प्रभाव अधिक पड़ा है। प्रयोगवादी कवि की दृष्टि में आज चन्द्र, बसन्त, कमल, सरिता, उद्यान आदि को उतना ही महत्व है जितना तीन टाँगों पर खड़े नतग्रीव गदहा, भैंसागाडी, हरी घास, नदी के द्वीप, चप्पल, चाय और सीला बीनने वाले चमार का।

१—निकटतर धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र सिंचित मृतिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत-ग्रीव
धैर्य-धन गदहा ।

२—छोटा सा सूरज सिर पर बैसाख का
काले धब्बों से बिखरे वे खेत में ।
फटे अँगरखों में, बच्चे भी साथ ले,
ध्यान लगा सीला चमार हैं बीनते ।
खेत कटाई की मजदूरी, इन्होंने,
जोता, बोया, सींचा भी था खेत को ।

—डाक्टर रामविलास शर्मा

सारांश यह है कि प्रयोगवादी संसार की प्रत्येक वस्तु पर लिखना चाहता है। जीवन में उठते-बैठते, सोते-जागते, हँसते-रोते जिन वस्तुओं से उसका समागम होता है, वही उसके लिए कविता का विषय बन जाते है। चाहे वह गदहा हो चाहे भारवाही डोटियाल। उसकी दृष्टि में समाज तथा साहित्य का लघु-गुरु का वर्गीकरण मान्य नही। साम्यवाद से समदृष्टि तथा समभाव का तो उसे वरदान मिला है। हाँ नूतन के प्रति आकर्षण तथा जन-साधारण के प्रति सहानुभूति रखने के कारण उसके विपय एक विशेष संवेदना लिये हुए होते है। प्रयोगवादी कवि की कामना होती है कि वह अपने विषय को अधिक से अधिक संवेदनशील बनाये। उसका विचार है कि काव्य-वस्तु की आन्तरिक व्यंजना को यथार्थ रूप में अङ्कित कर दिया जाए तो कविता अधिक हृदयग्राही हो सकती है। कल्पना से रञ्जित होकर कविता अपनी प्रभावशालिनी शक्ति को खो बैठती है। अतः प्रयोगवादी कवि का वस्तु-परक दृष्टिकोण अत्यन्त ही संवेदन शील होता है। अज्ञेय जी, शमशेर सिंह तथा केदार जी की कविताएँ इस दृष्टि से अत्यन्त ही प्रभावपूर्ण हैं।

द्वीप हैं हम।
यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड़ में।

वह बृहद् भूखंड से हमको मिलाती है।
और वह भूखंड
अपना पितर है।
[अज्ञेय—नदी के द्वीप]

डाक्टर नगेन्द्र प्रयोगवादियों के इस वस्तु-गत दृष्टिकोण के विरोध मे हैं। उनका मत है कि आज के हिन्दी कवियों पर छायावाद का नर्वाधिकार है। अतः यह सोचना कि किसी कवि की कविता छायावाद की भावपरकता से मुक्त अथवा कल्पना के रंग से रञ्जित न हो, नितान्त असम्भव है। इसके अतिरिक्त उनका कथन है कि कविता का विपय विज्ञान, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान आदि से नितान्त भिन्न है। विज्ञान आदि की भाँति कविता के विषय और उसकी अनुभूति मे बुद्धिगत सम्बन्ध हो सकता है किन्तु ऐसी कविता संवेदनशील तथा हृदयस्पर्शी नही हो सकती है क्योंकि आचार्य शुक्ल जी के कथनानुसार कविता तो शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध जोड़ती है। आज की प्रयोगवादी कविताओ मे भी कविता के विपय और उसकी काव्यानुभूति मे बुद्धिगत सम्बन्ध पाया जाता है। इसलिए ये कविताएँ भी बौद्धिकता के भार से दबी हुई प्रतीत होती है। डाक्टर नगेन्द्र जी के शब्दो मे 'एक गहन बौद्धिकता इन कविताओं पर सीसे के पर्त की तरह जमती जाती है।'

वस्तुतः देखा जाय तो नगेन्द्र जी का यह कथन सत्य ही है। बौद्धिक तत्त्व के कारण प्रयोगवादी कविताएँ ऐसी बोझिल प्रतीत होती हैं कि छायावाद की भाँति उनकी स्पष्ट अनुभूति भी दुर्लभ ही प्रतीत होती है। साधारणीकरण, जो कि कविता की आत्मा है, ऐसी कविताओं में ढूँढ़ने पर भी दिखाई नही देता है। कारण प्रयोगवादी कवि प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का कट्टर पक्षपाती होता है। जिन प्रतीकों का सम्बल लेकर वह अपने मनोरथ को पूर्ण करना चाहता है, वह कल्पना भाव में अत्यन्त ही निकटतम तथा प्रभावहीन होते हैं। अर्धव्यक्त प्रतीकों में साधारणीकरण के उत्पादन की शक्ति का अभाव होता है। अतः ऐसी कविताएँ हृदय को स्पर्श करने के अमरगुण से रहित होती है। इसके अतिरिक्त अधिकांश प्रयोगवादी कवि प्रयोगवाद के आदर्शानुसार अपने दृष्टिकोण को अधिकाधिक वस्तुगत बनाने में सफल नहीं हुए है। उनके काव्य में उनके व्यक्तित्व

का प्रतिविम्ब पूर्ण रूप से प्रतिविम्बित होता है। जिस प्रकार उनकी प्रवृत्ति एकान्त एवं अन्तमुंखी है, वैसी ही उनकी रचनाऐं समाज के लिए न होकर व्यक्ति के लिए ही दिखाई देती है। उनमे वह गुण जो जन-साधारण को मुग्ध करे, नहीं रहता है। उदाहरण के लिए अज्ञेय जी तथा गिरजाकुमार की रचनाएँ। उनमें अवचेतन की काम-कुन्ठाओं का वैज्ञानिक प्रतीकों द्वारा चित्रण पूर्ण स्पष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनोविज्ञान शास्त्र के अवचेतन का ज्ञानार्जन ही इनके अध्ययन का मुख्य विषय हो। अज्ञेय जी की ऐसी ही रचना देखिए—

'आओ बैठो !
क्षणभर तुम्हें निहारूँ।
अपनी जानी एक-एक रेखा पहचानूँ
चेहरे की, आँखों की—
अन्तर्मन की
और—हमारी साझे की अनगिन स्मृतियों की :
तुम्हें निहारूँ,

[अज्ञेय—हरी घास पर क्षणभर]

अतः स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रयोगवादी कवियों को अपने दृष्टिकोण को वस्तुगत बनाने में पूर्ण सफलता नही मिली है। कही उनकी रचनाऐं छायावाद की भाव परकता से आछन्न दिखाई देती हैं तो कही व्यक्तिवाद की भावनाओं से प्रभावित दिखाई देती है।

कलापक्ष की दृष्टि से भी प्रयोगवादी कवि अपनी निजी विशेषता रखता है। उसकी भाषा नितान्त निराली तथा वैयक्तिक है। कारण वह शब्दों के प्राचीन, प्रचलित एवं परम्परागत अर्थ को ग्रहण करना नहीं चाहता है। साधारणीकरण भी आज की कविता के लिए अव्यावहारिक है, ऐसा उसका विश्वास है। अतः वह अपनी कविता को संवेदनशील बनाने के लिए, व्यक्तिगत अनुभूति को समाजगत बनाने के लिए तथा अपने विशेष भावों की अभिव्यक्ति के लिए नाना प्रकार के प्रयोगों का आश्रय लेता है। ऐसे शब्द उसे जहाँ कहीं मिलते हैं, उन्हें सहसा ग्रहण कर लेता है। चाहें वे दर्शन-शास्त्र के हों, चाहे विज्ञान-शास्त्र के, चाहे हिन्दी के हों, चाहे अहिन्दी के। बाजार, गाँव तथा साधारण कोटि के

समाज में भी प्रयुक्त होने वाले शब्दों को ग्रहण करने में वह नही चूकता है। फल यह होता कि कविता निरर्थक एवं विचित्र शब्दों का गठबंधन सी प्रतीत होती है। उसमें अर्थ-व्यंजना का अभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। कहीं-कहीं उसकी भापा समासादि पदावली से ऐसी भाराक्रान्त प्रतीत होती है कि वह अपनी स्वानुभूति को पाठक तक पहुँचाने के लिए अपने को नितान्त अशक्त पाता है। फल यह होता है कि ऐसी अवस्था में उसे अन्य साधनों का आश्रय लेना पड़ता है। ये आश्रय होते है—विराम चिह्न, सीधी-तिरछी लकीरें, छोटे बडे टाइप तथा अधूरे वाक्य इत्यादि। सारांश यह है कि प्रयोगवादी कवि भाषा के प्रयोग मे कुशल कलाकार की भाँति परिपक्व नहीं हो पाया है। शब्दों के परुष, अनगढ़ और भदेस रूपों के प्रयोग से भाषा मे एक विचित्रता दिखाई देती है—

सरग था ऊपर
नीचे पताल था
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था,
दिल-दिमाग भुस का, खद्दर का खाल था।

[नागार्जुन]

एक अन्य रचना देखिए—

काँय ! काँय ! काँय !
क्या करें, कहाँ जाँय
मुँह से यही हाय !
निकले है मेरे—
'धत्तेरे ! नास जाय !'
सच, मुँह—अँधेरे
सबेरे—सबेरे !

—श्री अज्ञेय

छंद-विधान के विषय में भी प्रयोगवादी कवि का अपना विशेष दृष्टिकोण है। हम पूर्व कह चुके है कि प्रयोगवादी कवि को पुरातन के प्रति विराग सा है। अतः वह कविता की प्राचीन छंद-पद्धति को भी आज की व्यावहारिक कविता के उपयुक्त नही मानता। उसका विचार है कि प्राचीन वर्णिक अथवा मात्रिक छंद

विधान जो कि अपनी विशेष सीमा एवं स्थिरता रखते हैं, आज के अस्थिर एवं गतिशील जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल नही हैं। आज का कवि राज्याश्रित नहीं है। आज वह पूर्ण स्वतन्त्र है। उसकी भावनाएँ स्वतन्त्र है और उसका मार्ग स्वतन्त्र है। इसलिए स्वतन्त्र भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए भी छंदों का किसी प्रकार का बन्धन नहीं होना चाहिए। आज की भावनाओं को छंद में सीमित करना अथवा उन पर वर्णों या मात्राओं का नियन्त्रण रखना भावनाओं को कुचलना है। कवि हृदय के लिए इस बन्धन से बढ़कर अन्य कोई आघात नही है। इसीलिए आज के स्वतन्त्रता प्रिय प्रयोगवादी कवि ने मुक्त छंद को ही अपनाया है। अन्त्यानुप्रास आदि में भी वह विश्वास नहीं करता है। उसका विचार है कि अन्त्यानुप्रास छन्द को अधिक नादमय बनाकर विचारों के प्रवाह तथा विषय की गम्भीरता को नष्ट कर देता है। अतः प्रयोगवादी कवि पूर्णान्त तुकों का तो पूर्ण बहिष्कार कर देता है। हाँ, कही-कही पंक्ति के बीच में तुकान्त शब्दों का प्रयोग कर देता है। निदान प्रयोगवादी कवि की छन्द विधान सम्बन्धी उपर्युक्त धारणा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्रयोगवादी कविता मे पद्य की स्वाभाविक सरसता, गति तथा मधुरता का अभाव सा रहता है। संगीत की स्वर लहरी, जो कि कविता के लिए अति आवश्यक होती है, प्रयोगवादी कविता में देखने को नही मिलती।

वह मित्र का मुख
ज्यो अटल आत्मा हमारी बन गई साक्षात निज सुख
वह मधुरतम हास
जैसे आत्म परिचय सामने ही आ रहा है मूर्त होकर
आत्मा के मित्र मेरे

[गजानन]

उपर्युक्त स्वर छन्द में न तो भावव्यंजना है और न संगीत लहरी का माधुर्य। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी गद्य के अर्थ अनुच्छेद को कही बड़े आकार में कहीं छोटे रूप मे काटकर मनोनुकूल रख दिया गया है। वस्तुतः देखा जाए तो उपर्युक्त कविता में गद्य जैसा प्रवाह भी दिखाई नही देता है।

यहाँ तक हुई प्रयोगवादी कवि के काव्य परक दृष्टिकोण की बात। अब प्रश्न

यह उठता है कि क्या प्रयोगवादी कवि का समाज अथवा साहित्य के प्रति कोई उत्तरदायित्व है ? यों तो प्रत्येक युग के प्रत्येक कवि का साहित्य तथा समाज में कुछ न कुछ उत्तरदायित्व अवश्य ही होता है। साहित्य अतीत का प्रतिबिम्ब तथा अनागत का प्रदीप है। इस नाते साहित्यिक पर किसी प्रकार का उत्तरदायित्व न होना समाज के लिए अति घातक सिद्ध होगा। अतः साहित्यिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण से कवि अत्यन्त उत्तरदायित्व पूर्ण व्यक्ति है। प्रयोगवादी कवि भी इस लौकिक नियम से मुक्त नही किया जा सकता। अज्ञेय जी ने तो प्रयोगवादी कवि के तीन उत्तरदायित्व बताये हैं—काव्य विषय, सामाजिक उत्तरदायित्व तथा संवेदना का पुनः संस्कार। काव्य विषय से अज्ञेय जी का तात्पर्य प्रयोगवादी कविता के विषय-चयन से है। ये विषय एक विचित्रता लिए होते हैं। कारण, प्रयोगवादी कवि को इतना आत्मज्ञान होता है कि उसमें उस काव्य प्रतिभा का अभाव है जो शब्द चित्र अथवा भावचित्र द्वारा पाठक को सहसा मुग्ध करदे। अतः वह मदारी की भाँति पाठक का मन विषय की विचित्रता द्वारा पहले से आश्चर्यान्वित कर देता है। परिणाम यह होता है कि पाठक एकदम विषय की विचित्रता में फंस जाता है। उसे यह विचार करने का ध्यान नही रहता कि विषय के अतिरिक्त कविता में इतर काव्योचित गुण हैं अथवा नही। इस प्रकार प्रयोगवादी कवि मदारी की भाँति पाठकों को अचरज में तो डाल देता है किन्तु मदारी के दर्शकों की भाँति प्रयोगवादी कविता के पाठकों की बुद्धि भी चक्कर में पड़ जाती है। वे नही समझ पाते कि इस विषय चयन से कवि का क्या आशय है ? कविता की अन्तरात्मा का भी थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं हो पाता। इसका मुख्य कारण है प्रयोगवादी कवि की अस्पष्ट चिन्तन पद्धति। वह पुरातन के प्रति उदासीन तथा नूतन के प्रति उत्सुक होने के कारण सर्व स्वीकृत उपमाओं, रूपकों तथा प्रतीकों का वर्जन करता है। नये प्रतीक उसकी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त ही प्रभावहीन सिद्ध होते हैं क्योंकि वे उसके हृदय के रागात्मक सम्बन्ध की उपज नही होते अपितु बौद्धिक तत्व द्वारा पुरातन प्रतीकों के अभाव की पूर्ति के लिए बरबस खींचकर लाये जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि प्रयोगवादी कवियों को प्रथम उत्तरदायित्व के निर्वाह में तो सफलता नही मिली है।

अज्ञेय जी का द्वितीय उत्तरदायित्व सामाजिक है। प्रयोगवादी कवि समाज

के प्रति पूर्ण जागरूक है किन्तु उसने समाज-कल्याण के लिए जिस पथ को अप-नाया है, वह उसको गन्तव्य स्थान तक नही पहुँचने देगा। कारण—केवल प्रयोगों की शक्ति का आधार लेकर सामाजिक उत्तरदायित्व पूर्ण नही हो सकता है। उसके लिए उसे भावनाओ की आवश्यकता है। भावनाएँ केवल अपनी ही नही, समाज की भी। जब प्रयोगवादी कवि स्वयं सामाजिक भावनाओं को पह-चानेगा तथा उनका सच्चा मूल्याङ्कन करेगा तो समाज भी उसकी भावनाओं का मान करेगा। समाज और कवि की भावनाओं के सामंजस्य से ही सामाजिक उत्तरदायित्व पूर्ण हो सकता है। ऐसा करने के लिए उसको काव्य के सर्व स्वीकृत सिद्धान्तों का पालन करना होगा।

तदनन्तर अन्तिम उत्तरदायित्व है संवेदना पुनः का संस्कार। वस्तुतः प्रयोगवादी कवि के समक्ष यह एक जटिल समस्या है। इसका कारण यह है कि प्रयोगवादी कवि काव्यानुभूति और भावतत्व के बीच बुद्धिगत सम्बन्ध को स्वीकार करता है। यह काव्य सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योंकि कविता तो हमारे हृदय का शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है। प्रयोगवादी कवि ने मूलतः इस विश्व-जनीन सत्य का हनन किया है। फलतः प्रयोगवादी कविता मे हृदय स्पर्शिता का अद्भुत गुण नही मिलता है। इस प्रकार अज्ञेय जी का तीसरा उत्तरदायित्व भी अपूर्ण ही रह जाता है।

प्रयोगवाद की विशेषता, उसके आविर्भाव तथा प्रयोगवादी कवि के दृष्टिकोण, उत्तरदायित्व आदि के विवेचन के पश्चात् यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि यह प्रवृति विशेष जिस उद्देश्य को लेकर हिन्दी काव्य भूमि मे अंकुरित हुई थी उसमे शतशः असफल रही है। कतिपय मूल घोषणाओं में से इस प्रवृति के जन्म-दाताओं का एक तर्क यह भी था कि छायावादी कविता अपनी दुरूहता, भाव-परकता आदि के कारण आज के व्यावहारिक जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल नही हैं। आज हम देखते है कि छायावाद की कविताओं की भाँति प्रयोगवाद में भी वही दुरूहता है। इसके वस्तुतः कुछ कारण है—पुरातन के प्रति ईर्ष्या तथा नूतन के प्रति मोह, साधारणीकरण की अमान्यता, अनुभूति पर बौद्धिकता का भार, तथा भाषा और शब्दों का वैयक्तिक अनर्गल प्रयोग। इन्ही सामान्य कारणों से प्रयोगवादी कविता अधिक विकसित नही हो सकी है।

प्रयोगवादी कवि नूतनता के प्रति अधिक आकर्षित होने के कारण, पुरातनता के प्रति उदासीन सा हो गया है। फलतः वह चिर परिचित एवं चिर प्रयुक्त पथ, जिनको साहित्यिक महारथियों ने भागीरथ प्रयत्नों से निर्मित किया था, छोड़ चुका है। अब तो उसे अपने नूतन मार्ग का निर्माण करना है। नये मार्ग में काँटे भी होते है तथा ऊँची नीची भूमि भी। यही दशा आज प्रयोगवादी कवि की कविता की है। नये प्रयोग, जिनको 'साधन' मानकर उसने अपने पावन कार्य के सम्पादन का बीड़ा उठाया था, आज साध्य बन गये हैं। उसकी दृष्टि में जीवन के मूल तत्वों से भी अधिक मान नवीन प्रयोगों का है। आज वे उसके लिए साधक के स्थान पर बाधक बन गये हैं। अतः प्रयोगवादी कविता में भी छायावाद की भाँति एक दुरूहता दृष्टिगोचर होती है।

साधारणीकरण की अमान्यता भी प्रयोगवादी कविता की दुरूहता का प्रमुख कारण है। प्रयोगवादी कवि का तर्क है कि आज की नई कविता के लिए काव्य सिद्धान्तों की पुरानी प्रणालियाँ उपयुक्त नहीं हैं। यही कारण है कि प्रयोगवादी कवि व्यक्ति की अनुभूति को समष्टि तक पहुंचाने में सफल नहीं हो सका है। कविता इतिवृत्त नहीं है। काव्य में वातावरण चित्रण अपेक्षित है। मनोविज्ञान के शास्त्र का सांगोपांग अध्ययन करने से रसोद्बोध नहीं हो सकता। और न अर्थ ग्रहण मात्र से कविता हृदय में स्थान पा सकती है। कविता का यथार्थ रसास्वादन बिम्ब ग्रहण आदि से होता है। केवल इसका नाम लेने से इसकी निष्पत्ति सम्भव नहीं। उसके लिए तो कल्पना-शक्ति, शब्द-शिल्प, हृदय की रागात्मक वृत्ति आदि की आवश्यकता पड़ती है। प्रयोगवादी कवि नवीन प्रयोगों की खोज के प्रयत्न में विशेष को विशेष रूप में ही प्रयुक्त करता है। वह नही सोचता कि काव्य का सिद्धान्त तो विशेष को साधारण रूप में प्रयुक्त करता है। फल यह होता है कि उसकी शब्द व्यंजना तथा भाव व्यंजना फीकी पड़ जाती है। उसकी स्वानुभूति में इतना बल नही होता कि वह पाठकों की मधुमयी भूमिका में अपनी संवेदना का बिम्ब रूप ग्रहण करा सके। फलतः प्रयोगवादी कविताओं में साधारणीकरण के तिरस्कार के कारण सरसता तथा हृदय ग्राह्यता का अभाव दिखाई देता है।

तदनन्तर प्रयोगवादी कविताओं की दुरूहता का कारण प्रयोगवादी कवि को

अनुभूति पर बौद्धिकता का भार है। इसकी व्याख्या अज्ञेय जी के प्रयोगवादी कवि के उत्तरदायित्वों का विवेचन करते हुए हो चुकी है। कारण स्पष्ट ही है—बुद्धि कभी भी काव्य का प्राणतत्व नहीं हो सकती। सभी साहित्याचार्यों तथा काव्य शास्त्र के विद्वानों ने एक मत होकर स्वीकार किया है कि काव्य के लिए रागात्मक वृत्ति अति आवश्यक है। इस वृत्ति के बिना काव्य में संवेदन शीलता के गुण का समावेश नही हो सकता है। प्रयोगवादी कवि इस सर्व स्वीकृत सिद्धान्त की अव-हेलना कर बुद्धितत्व को ही प्राथमिकता देता है। परिणाम यह होता है कि उसकी कविता पाठक के लिए एक गोरखधन्धा बन जाती है। पाठक को न उसकी कविता का अर्थ ही ग्रहण होता है और न रसास्वादन।

भाषा और शब्दों का वैयक्तिक एवं अनर्गल प्रयोग प्रयोगवादी कविता की दुरूहता का अन्य कारण है। भाषा समाज की अर्जित सम्पत्ति है, व्यक्ति की नहीं। इसलिए इसका प्रयोग भी सामाजिक रूप में होना चाहिए, व्यक्तिगत रूप में नही। शब्दों का भी प्रचलित एवं व्यावहारिक रूप ही ग्रहण करना चाहिए। प्रयोगवादी कवि इन सिद्धान्तों के नितान्त प्रतिकूल चलता है। वह भाषा को वैयक्तिक सम्पत्ति समझता है। वह व्यावहारिक एवं प्रचलित अर्थ में शब्दों को प्रयुक्त नही करता। वह तो साधारण शब्द में साधारण अर्थ के विपरीत विशेष अर्थ भरना चाहता है। वह भाषा की एकरसता तथा शब्दों के साम्य पर ध्यान नहीं देता। हिन्दी, अहिन्दी, ग्रामीण, नागरिक, शिष्ट, अशिष्ट, सुन्दर, भदेस आदि सभी शब्दों के रूपों को ग्रहण करना—प्रयोगवादी कवि का कार्य होता है। फल यह होता है साधारण पाठक कवि के आशय को नहीं समझ पाता।

इस प्रकार प्रयोगवादी कविता विकसित होने से पूर्व ही अपने महत्व को खो चुकी है। प्रारम्भिक दुरुहता के कारण उसे साहित्य में छायावाद की भाँति मान प्राप्त होना नितान्त असम्भव नही तो दुर्लभ तो अवश्य प्रतीत होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि हिन्दी साहित्य में प्रयोगवादी साहित्य का प्रादु-र्भाव कब हुआ तथा प्रयोगवादी साहित्य के वे कौन से सुमन हैं जिनके पराग से धरा सरस और दिशाएँ सुरभित हो रही है? प्रयोगवादी साहित्यकारों का तो यह कथन है कि साहित्य में प्रयोग आदिकाल से ही होते आये हैं। आधुनिकतम प्रयोगवादी साहित्य के विषय में उनका मत है कि सर्व प्रथम सूर्यकान्त त्रिपाठी

'निराला' की 'कुकुरमुत्ता', 'नये पत्ते' शीर्षक रचनाओं से प्रयोगशील साहित्य का स्पष्ट विकास हुआ। सुमित्रानन्दन पन्त जी का कथन है कि प्रयोगवादी साहित्य का जन्म छायावाद के काल से हुआ जब कि प्रसाद जी ने 'प्रलय की छाया' और 'वरुण की कछार' लिखकर वस्तु तथा छन्द सम्बन्धी नवीन प्रयोगों का श्री गणेश किया था। निराला जी के अनेक प्रकार के छन्द शैलियाँ, प्रयोगवादी साहित्य के विकास के ही स्पष्ट रूप हैं। परवर्ती कवियों ने उसी काव्य विधान को नवीन दृष्टिकोण, तीव्र उद्‌गारों आदि का अवलम्बन देकर प्रयोगशील साहित्य का अधिकाधिक विकास किया है। साधारणतया प्रयोगवादी साहित्य के प्रादुर्भाव का काल सन् १९४३ ई० माना जाता है जबकि प्रथम 'तार सप्तक' का प्रकाशन हुआ। तदनन्तर सन् १९४७ ई० में 'प्रतीक' नामक पत्रिका के प्रकाशन से भी हिन्दी जगत में प्रयोगवादी साहित्य का प्रचार बढा। सन् १९५१ ई० मे द्वितीय 'तारसप्तक' के प्रकाशन से अधिक प्रयोगवादी रचनाएँ प्रकाश मे आईं। इनके अतिरिक्त 'दृष्टिकोण', 'पाटल', 'हंस' आदि पत्रिकाएँ भी प्रयोगवादी साहित्य के इतिहास में विशेष महत्त्व रखते हैं। इस प्रकार— प्रयोगवादी साहित्य का इतिहास लगभग एक दशक का इतिहास है।

तारसप्तक के प्रथम संग्रह में हमे सात कवियों की रचनाएं प्राप्त होती हैं। अज्ञेय जी तारसप्तक के सम्पादक हैं। उन्होंने आरम्भ में भूमिका के रूप में प्रयोगवादी कविता के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं जिससे पाठक या आलोचक नयी कविता को समझने में किसी भ्रम में न पड़ जाएँ। इसी प्रकार द्वितीय तारसप्तक मे सात कवि और आ गये हैं। इन सभी कवियों को प्रयोग-वादी कवि की संज्ञा दी गयी है। सभी कवियों के विचार भिन्न-भिन्न हैं। सभी अपने-अपने दृष्टिकोण को लेकर आये हैं। इस विषय में अज्ञेय जी के विचार महत्वपूर्ण हैं।

प्रयोगवादी कवि "किसी एक स्कूल के नही हैं, किसी मञ्जिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी"।

अज्ञेय जी का यह कथन गम्भीरतया विचार करने पर अक्षरशः सत्य दिखाई देता है। तारसप्तक के दोनों भाग तथा अन्य प्रयोगवादी पत्रों में लिखने वाले कवि, डाक्टर राम विलास शर्मा, अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल, गजानन

मुक्तिबोध, नैमीचन्द्र जैन, गिरिजा कुमार माथुर, नागार्जुन, भवानी मिश्र, रघुवीर सहाय, नरेश कुमार महता, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुरसिंह, धर्म भारती, मदन वात्सायन आदि हैं। ये कवि सभी प्रयोगवादी कवि माने जाते हैं। सभी कवियों के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं। कुछ कवियों पर तो प्रगतिवाद एवं साम्यवाद की पूर्ण छाप है; यह बात कुछ कवियों द्वारा अपने विषय में कही, निजी घोषणाओं से पूर्ण स्पष्ट हो जाती है—

१—जो व्यक्ति एक विकासोन्मुख साहित्य की आवश्यकताओं को चीन्हकर उनके अनुरूप गद्य लिखे, वह कवि हो भी कैसे सकता है। मेरे बहुत से लेख साहित्य के अशाश्वत सत्य, वाद विवादों से पूर्ण हैं।

—डा० रामविलास शर्मा

२—शौक दो ही चीजों का—सिनेमा और सिगरेट, आजकल राजनीति का अध्ययन अच्छा लगता है। मार्क्सवाद को आज के समाज के लिए रामबाण मानता हूँ। कम्यूनिस्ट हूँ। —भारतभूषण अग्रवाल

३—क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। —मुक्तिबोध

४—पढ़ने में विशेष दिलचस्पी है, राजनीति में भी क्रियात्मक रूप से। मार्क्सवादी और 'कम्युनिस्ट' भी। —नैमिचन्द्र जैन

अतः यह सत्य है कि प्रयोगवादी कवि भिन्न-भिन्न राहों के अन्वेषी हैं। इन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को देखकर अज्ञेय जी ने तो द्वितीय तारसप्तक की भूमिका में यह स्वीकार किया है कि प्रयोग का कोई वाद नहीं है और हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना। वस्तुतः यह कहना ठीक ही है; क्योंकि तारसप्तकों में प्रगतिवादी और साम्यवादी विचारधारा के कवि भी तो हैं। किन्तु जब किसी प्रवृत्ति को विशेष नाम दे दिया तो उसका प्रचार हो गया। आज यदि कोई अनेक बार कहे कि प्रयोगवाद न कोई वाद है और न तारसप्तकों के कवि—प्रयोगवादी कवि—तो कोई मानने को तैयार नहीं। कबीर दास जी संसार की इसी रीति (चलती को गाड़ी (गढ़ी) कहे) को देखकर ही तो रोये थे।

प्रयोगवादी कवियों का उल्लेख पूर्व हो चुका है। अब हमें उनकी रचनाओं पर विहगम दृष्टि डालनी है। सर्वप्रथम प्रयोगवाद के कर्णधार सच्चिदानन्द हीरानन्द

वात्स्यायन 'अज्ञेय' को लीजिए। आपका भाषा पर पूर्ण अधिकार है। उसमें लालित्य एवं माधुर्य कूट-कूट कर भरे हैं। कल्पना भी उच्चकोटि की है। किन्तु भावनाओं की सरल अभिव्यक्ति करने में अज्ञेय जी को सफलता नही मिली है। कारण उनकी कविता का विषय ही उलझी हुई संवेदना से परिपूर्ण रहता है। इसके अतिरिक्त कवि का मन, यौन-परिकल्पनाओं की व्यापक, वासनात्मक एवं अश्लीलपूर्ण प्रवृत्ति से प्रभावित है। कवि प्रकृति, नारी तथा सौन्दर्य के मोह से मुक्त प्रतीत नही होता है। एक ओर कवि यह घोषणा करता है कि भदेस, अनगढ़ आदि का भी काव्य में यथोचित स्थान है और दूसरी ओर कवि द्वारा उसका पूर्ण परित्याग—ये दोनों बातें हमें कवि की क्रियात्मकता में सन्देह उत्पन्न करती हैं। भाषा और भाव दोनों की दृष्टियों से अज्ञेय जी की 'प्रथम किरण' कविता देखिए :—

भोर की प्रथम किरण फीकी,
अन जाने जागी हो याद किसी की,
अपनी मीठी, नीकी ।
धीरे-धीरे उदित रवि का लाल गोला,
चौंक कहीं पर छिपा मुदित बन-पाँखी बोला। —अज्ञेय

उपर्युक्त कविता में भाषा सरस है किन्तु कल्पना असत्य। काव्य हृदय की अनुभूति न होकर केवल मस्तिष्क का निराधार प्रयत्न दिखाई देता है। कवि का यह कथन, कि सूर्य के लाल-गोले को देखकर बन के पक्षी का चौंक उठना एवं जगना लौकिक सत्य से रहित दिखाई देता है क्योंकि पक्षी तो ब्राह्म मुहूर्त में ही अपने नीड़ों को छोड़कर चहचहाना तथा बन यात्रा करना प्रारम्भ कर देते है। बन के पक्षी ही क्या घर का पक्षी (मुर्गा) घर के सभी व्यक्तियो को गम्भीर निद्रा में देखकर भी ब्राह्म मुहूर्त में उठने के पक्षी स्वभाव को नही छोड़ता और बाँग देना प्रारम्भ कर देता है।

अज्ञेय जी के उपमान भी यौन-प्रतीकार्थ हैं—

"ठहर-ठहर आततायी ! जरा सुनले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुनजा।" —अज्ञेय

डाक्टर राम विलास शर्मा के काव्य में प्रयोग देखिए :—

'हाथी घोड़ा पालकी,
जै कन्हैयालाल की ।
हिन्दी हिन्दुस्तान की,
जै हिटलर भगवान की ।'

—डाक्टर राम विलास शर्मा

किन्तु डाक्टर साहब का दृष्टिकोण प्रगतिवादी है, यह हमें स्वीकार करना पड़ेगा । उन्हें यथार्थ तथा प्रत्यक्ष से प्रेम है । यह निम्नलिखित कविता से स्पष्ट हो जाता है—

'छोटा सा सूरज सिर पर बैसाख का,
काले धब्बों से बिखरे वे खेत मे ।
फॅटे अँगरखों में, बच्चे भी साथ ले,
ध्यान लगा सीला चमार हैं बीनते ।
खेत कटाई की मजदूरी, उन्होंने,
जो, बोया सीचा भी था खेत को ।'

—डाक्टर राम विलास शर्मा

भारतभूषण अग्रवाल के प्रयोग भी सुन्दर हैं—

खाना खाकर विस्तर पर कमरे मे लेटा ।
सोच रहा था मै मन ही मन हिटलर बेटा ।
बड़ा मूर्ख है जो लड़ता है तुच्छ मिट्टी के कारण ।
लिखूँ एक खत हो जा गान्धी का चेला··· ········ ।

—भारतभूषण अग्रवाल

गजानन मुक्तिबोध की कविताएँ सरस हैं । उदाहरण के लिए उनकी 'हे महान्', 'अन्तदर्शन' और 'नाश देवता' आदि कविताओं में कवि की प्रतिभा के अनुपम दर्शन होते हैं । उनकी कविता का झुकाव गद्य की ओर अधिक है—

कर सको घृणा—
क्या इतना
रखते हो अखंड तुम प्रेम
जितनी अखंड होसके घृणा

उतना प्रचंड
रखते क्या जीवन का व्रत नेम
प्रेम करोगे सतत ? कि जिससे
उससे उठ ऊपर बह लो— 'नूतन अहम्'

—गजानन मुक्तिबोध

कहीं-कही गजानन जी को अपनी भावना की अभिव्यक्ति में पूर्ण सफलता नही मिली है। कविता से कवि की संवेदना का पूर्ण अभिप्राय विदित नही होता है—

वह मित्र का सुख
ज्यों अटल आत्मा हमारी बन गई साक्षात निज सुख
वह मधुर तम हास
जैसे आत्म परिचय सामने ही आ रहा है मूर्त होकर
आत्मा के मित्र मेरे

—गजानन मुक्तिबोध

गिरिजा कुमार जी माथुर को अन्य प्रयोगवादी कवियों की तुलना मे अधिक सफलता मिली है। वस्तुतः उनमें काव्य प्रतिभा है। उनकी नवीन कल्पनाएँ अनुपम हैं। उनकी कविता में सबसे बड़ा गुण एक विशेष प्रकार का माधुर्य है जो पाठकों को सहसा एक मस्ती प्रदान करता है। देखिए :—

जीवन में फिर लौटी मिठास है।
गीत की आखिरी मीठी लकीर सी।
वैभव की वे शिलालेख सी यादें आती
एक चाँदनी भरी रात उस राजनगर की।
रनिवासों की नंगी बांहों सी रंगीनी।
वह रेशमी मिठास मिलन के प्रथम दिनों की।

कहीं-कही गिरजाकुमार जी को प्रयोगों में पूर्ण सफलता मिली है। निम्न-लिखित कविता में पहियों के निशानों के लिए माथे पर पड़ी सोच भरी रेखाओं से उपमा देखकर कवि ने अपनी अलौकिक काव्य प्रतिभा का परिचय दिया है:—

भीगा दिन पश्चिमी तटों में उतर चुका है,
बादल ढकी रात आती है,
धूल भरी दीपक की लौ पर मंदे पग धर।
गीली राहें धीरे-धीरे सूनी होतीं।
जिन पर बोझिल पहियों के निशान है,
माथे पर की, सोच भरी रेखाओं जैसे,
पानी रँगी दिवालों पर, सूने राही की छाया पड़ती।
पैरों के धीमे स्वर भर जाते है,
अनजानी उदास दूरी में।

—गिरिजाकुमार माथुर

भवानीप्रसाद मिश्र की साधना विशेष है। उनकी अभिव्यक्ति ही सरल और हृदय स्पर्शी है। माधुर्य, प्रवाह और प्रभाव उनकी कविता में कूट-कूट कर भरे है। स्वाभाविक माधुर्य, अनुपम व्यंजना, सरस शब्दावली पूर्ण निम्नलिखित कविता को देखिए—

'पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।
हरियाली छा गई हमारे, सावन सरसा री।
बादल आये आसमान में, धरती फूली री।
अरी सुहागिन, भरी माँग में भूली भूली री।
बिजली चमकी, भाग सखी री, दादुर बोले री,
अन्ध प्राण ही बहो, उड़े पंछी अनमोले री।

—भवानीप्रसाद मिश्र

भवानी प्रसाद मिश्र की कविता में वस्तुतः व्यञ्जना, कल्पना तथा स्वाभाविकता का अलौकिक मिश्रण है। निम्नलिखित कविता में एक परमुखापेक्षी गीत-फरोश की दयनीय दशा का कैसा स्वाभाविक चित्रण किया गया है :—

'जी हाँ हुजूर गीत बेचता हूँ।
मै तरह-तरह के गीत बेचता हूँ।
मै सभी किस्म के गीत बेचता हूँ।
जी माल . देखिए दाम बताऊँगा,

बेकाम नही है, काम बताऊँगा,
कुछ गीत लिखे हैं भरती मे मैंने।
कुछ गीत लिखे हैं पस्ती में मैने।
जी, और गीत भी दिखलाता हूँ,
जी सुनना चाहें, आप तो गाता हूँ।
जी, छन्द और वे छन्द पसन्द करें,
जो अमरगीत और वे जो तुरंत मरें।
ना,बुरा मानने की इसमे क्या बात,
मै पास रखे हूँ कलम और दवात।
इनमें से भाये नही, नये लिख दूँ!
जी नये चाहिए नहीं, गये लिखदूँ।

× × ×

जी, बहुत देर लग गई हटाता हूँ,
गाहक की मर्जी, अच्छा जाता हूँ,
मै बिल्कुल अन्तिम और दिखाता हूँ—
या भीतर जाकर पूछ आइये आप
है गीत बेचना वैसे बिलकुल पाप।
क्या करूँ मगर लाचार हारकर गीत बेचता हूँ।
जी हाँ हुजूर, मै गीत बेचता हूँ।

—भवानीप्रसाद मिश्र

रघुवीरसहाय जी के काव्य में व्यक्तिवाद तथा सौन्दर्य प्रियता की पूर्ण छाप है। आपकी भाषा में प्रयोग अप्रचलित एवं अव्यावहारिक रूप मे दिखाई देते हैं। व्याकरण की शिथिलिता भी देखने को मिलती है—

शक्ति दो बल दो हे पिता।
जब दुख के भार से मन थकने आय।
पैरों मे कुली की-सी लपकती चाल छटपटाय।

× × ×

तुमने जोरी है अनाहत ज़िजीविषा

उसे क्या करें ? कही—अपने पुत्रों, मेरे छोटे—
भाइयो के लिए यही कहो।

—रघुवीर सहाय

ऊपर की कविता मे "थकने आय, और 'छटपटाय' आदि शब्द खड़ी बोली के नहीं हैं। अतः सुन्दर नही लगते। इसी प्रकार अनाहत तथा जिजीविषा शब्द अव्यावहारिक एवं अप्रचलित है।

नरेश कुमार मेहता की रचनाओं मे भी व्यक्तिवाद की पूर्ण छाप है। वह साम्यवाद से अधिक प्रभावित होने के कारण अपने सिद्धान्त की घोषणा करते से प्रतीत होते है—

नये मनुज के हाथों में श्रम की रेखायें
आलपस रचेगा नये रूप में।
राइन बोल्गा गंगा के वह इस धरती पर आज
लिखेगा नये जल छन्द

—नरेशकुमार मेहता

हरिनारायण व्यास पर भी मार्क्सवाद का अधिक प्रभाव है। शमशेर बहादुर की भाषा में शक्ति है, प्राण है, यत्र तत्र प्रभावोत्पादकता भी कूट-कूट कर भरी हैं किन्तु उनमें कल्पना की फीकी उड़ान तथा भावों की अव्यावहारिकता है। धर्मवीर भारती के काव्य की अभिव्यक्ति साधारण स्तर से कुछ ऊँची उठ गयी है। उन पर हालावाद और रोमासवाद का प्रभाव अधिक है। अन्त में मदन-वात्स्यायन की 'शिफ्ट फोरमैन' कविता के एक उद्धरण को देखिए :—

भोंपा चीख उठा, मेरी भोर हो गयी,
श्रीमती जी जरा एक कप चाय बनादो।
सुना है सोने सा चमकीला गोला एक सूर्य होता है।
जब वह आता है तो कुहासे के जाल को काटकर,
× × ×
सारी दुनिया को जगाने लगता है।
सुना है चाँदी-सा चमकीला गोला एक चाँद होता है।
जब वह आता है, तब मस्जिदों के गोल-गोल गुम्बदों पर

+ + +

खड़ा हो मुअज्जिन खुदा के नाम पर
उसके सारे बन्दों को पुकारने लगता है।

—मदन वात्स्यायन

इस कविता में प्रगतिवाद का प्रभाव पूर्ण लक्षित है। इसमें जो कुछ कहा है वह अतिशयता पूर्ण है। पाठक फोरमैन के जीवन से पूर्ण रूप से परिचित रहता है। फोरमैन शिफ्ट मे काम करता है अतः क्रमानुसार कभी रात, कभी दिन में कार्य करना पड़ता होगा । इस प्रकार उसने सूर्य और चन्द्र दोनों को देखा होगा। इस दृष्टि से कवि का यह प्रयोग कि—

'सुना है सोने सा चमकीला गोला एक सूर्य होता है।
× × ×
सुना है चाँदी सा चमकीला गोला एक चाँद होता है।'

सत्यता की कसौटी पर खरा नही उतरता है । इसमें 'सुना है' प्रयोग शिथिल है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रयोग वादी साहित्य का स्वरूप क्या है ? गम्भीरतया विचार करने पर यह साहित्य प्रगतिवादी साहित्य के अधिक निकट दिखाई देता है। जब समाज आर्थिक विषमता आदि से त्रस्त हो जाता है, तो उसमें विद्रोह की भावनाएँ अंकुरित हो जाती हैं। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होने के कारण, समाज की उस नव-चेतना की अभिव्यक्ति करने लगता है। उसका उद्देश्य बदल जाता है। ऐसी अवस्था में साहित्य कल्पना लोक से हटकर, जन-जागरण के गीत गाने लगते हैं। प्रयोगवादी साहित्य भी इसी कोटि के साहित्य मे आता है। अतः स्पष्ट है कि प्रयोगवादी साहित्य भी विद्रोहात्मक भावनाओं का प्रचार करना चाहता है। उसका मूल उद्देश्य कविता को जन-जीवन की वस्तु बनाना है। इसीलिए प्रयोगवादी साहित्यकार भारतीय काव्य के प्रथम नियम 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' की अवहेलना कर उसके प्रति अपनी अनास्था प्रकट करता है। अतः प्रयोग वादी साहित्य में 'रस' के लिए कोई विशेष स्थान नहीं है।

प्रयोगवादी साहित्य के प्रति द्वितीय आक्षेप यह है कि इसका कवि अपने

व्यक्तित्व से अधिक प्रभावित है। यह भारतीय साहित्य की परम्परा के प्रतिकूल है। भारतीय साहित्यकार 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का अमर उपासक रहा है। उसने व्यष्टि को सदैव समष्टि में ही लीन करने का सिद्धान्त रक्खा है। उसने अपने व्यक्तित्व को कभी प्रधानता नही दी है। उसकी भावनाओं की अभिव्यक्ति सदा समाज-कल्याण एवं लोक-कल्याण के लिए हुई है। उसने जो कुछ लिखा है उसमें समाज की भावनाओं का प्रतिरूप है। समाज के उन प्रतिबिम्बित सिद्धान्तों के अनुसार ही वह व्यक्ति को जीवन-पथ पर बढ़ने का आदेश देता आया है। प्रयोगवादी साहित्यकार ठीक इसके विपरीत चल रहा है। वह व्यक्ति के सिद्धांतों की घोषणा करता है। उसका सन्देश है कि समष्टि व्यष्टि में लीन हो जाए। दूसरे शब्दों में व्यक्ति-सिद्धान्त समाज-सिद्धान्त बन जाएँ। उसका यह सिद्धान्त भारतीय साहित्य के सिद्धांतों का प्रतिपादन नहीं करता है। इसीलिए प्रयोगवादी साहित्यकार वैयक्तिकता के भार से पूर्णतया दबा हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार वह काव्य की आत्मा का निर्मम बध कर देता है। उसकी यह भ्रान्ति कि वह अपने उत्तराधिकारी कवियों के लिए एक आदर्श और पावन पथ का निर्माण कर रहा है, असत्य एवं असफल हो जाती है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि 'प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणः उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में कोई तात्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक विकास क्रम या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो।'

तृतीय आक्षेप यह है कि प्रयोगवादी साहित्यकार ने व्यावहारिक जगत का पूर्ण परित्याग कर रक्खा है। वह व्यावहारिक भाषा, व्यावहारिक भाव आदि का कट्टर विरोधी है। वह न प्रचलित अर्थ को कोई महत्व देता है और न व्याकरण के नियमों का पालन करता है। इतना ही नहीं शब्दों को पूर्णतया विकृत कर, उनका प्रयोग करना ही प्रयोगवादी साहित्यकार का सिद्धान्त है। इसीलिए प्रयोगवादी साहित्य की भाषा हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, ग्रामीण हिन्दी आदि की एक विचित्र खिचड़ी सी जान पड़ती है। छन्द के विषय में भी प्रयोगवादी कवि का विचित्र विचार है। उसका मत है कि भावनाओं की व्यापकता के दृष्टिकोण से मुक्त छन्द अधिक उपयुक्त है। इसीलिए प्रयोगवादी साहित्य के छन्द प्रभाव शून्य प्रतीत होते हैं। इन कवियों की छन्द-साधना में उस तपश्चर्या का अभाव है

जो अपनी सुडौलता, संगीतात्मकता और स्वर लहरी से भावों की तीव्रानुभूति में सहायक हो। प्रयोगवादी साहित्यकार अपने निजी छन्द विधान से विस्मय-कारिणी सृष्टि का सृजन कर सकता है, किन्तु पाठकों के हृदय को द्रवित नहीं कर सकता।

पूर्व उद्धृत कविताओं से प्रयोगवादी साहित्यकार के अलंकार-विधान के सम्बन्ध में भी हमें पूर्ण ज्ञान हो जाता है। आधुनिक युग में विज्ञान के नवीन-नवीन आविष्कारों ने अनेकानेक नवीन वस्तुओं का निर्माण किया है। अतः आज के कवि के समक्ष असंख्य नई वस्तुएँ है। भावनाओं की सरल और स्वाभाविक अनुभूति के लिए कवि को नवीन वस्तुओं, नवीन व्यापारों के संसर्ग मे आना आवश्यक है किन्तु उसी सीमा तक कि कवि की सुरुचि तथा अभिव्यक्ति अपने स्तर से न गिर जाएँ। प्रयोगवादी कवि नवीनता के आवेश में आकर उस सीमा को पार गये हैं। उसके उपमानों की योजना, रूपकों का विधान अति विचित्र है। निम्नलिखित उद्धरणों से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाएगी—

१—पहिले दरजे मे लोग कफन की भाँति उजले वस्त्र पहने··· ।

२—कितनी सहमी-सहमी सी क्षिति की सुरमई पिपासा

उपर्युक्त उदाहरणों में उजले वस्त्रों को कफन के तुल्य कहना कवि की सुरुचि को प्रकट नही करता है। ऐसी उपमा केवल कवि-हृदय के विक्षोभ को व्यक्त करती है। उसमें काव्य-सौन्दर्य दिखाई नही देता है। इसी प्रकार 'पिपासा' को सुरमई कहना कोई विशेष अर्थ नही रखता है। इन 'अलंकार विधानों' को ग्रहण करने से प्रयोगवादी कवि एक बाजीगर का रूप धारण कर लेता है। उसमें भाव मयता का अभाव पूर्ण रूप से खटकता है। यह ठीक भी है। सद्गुरु शरण अवस्थी जी ने ठीक ही कहा है—'जिस प्रकार युग के साथी होने के कारण, चाँदनी, झरने, हरी-हरी बनस्थली, चन्द्र, सूर्य अपनी अनेकार्थी भावुकता के साथ हमारे पुराने साथी हैं और हम उनका रागमय वर्णन सामने रख सकते हैं, उस धुलाहट के साथ हम आज बिजली का पंखा, रैफ्रीजेटर, फाउन्टेनपेन, अटैची केस, बाइसिकल इत्यादि के अपर्याप्त सहवास से यथेष्ट भावमयता के अभाव में उत्तम चित्र सामने नहीं रख सकते।

इसीलिए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डाक्टर नगेन्द्र आदि आलोचक प्रयोग-

वादी साहित्य के विरोध में है। श्री शिवदानसिंह जी ने तो प्रयोगवादी साहित्य को 'त्रिशंकुओं' का साहित्य कहा है।

ऊपर के विवेचन का यह अर्थ नही कि प्रयोगवादी साहित्य ने जो कुछ साहित्य की सर्जना की है, वह अनुपयोगी तथा निरर्थक है। यदि परिवर्तन ही जीवन है, तो प्रगतिवादी साहित्य जीवन की पुकार है। उसमें साहित्य की प्रगति, उत्थान और उत्कृष्टता के बीज निहित है। प्रयोगवादी साहित्य के विषय मे प्रयोगवादी साहित्यकारों के मत देखिए :—

अज्ञेय—'प्रयोगशील कविता में नये सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नये रागात्मक सम्बन्ध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचाने यानी साधारणीकरण की शक्ति है।'

धर्मवीर भारती—"प्रयोगवादी कवि मे भावना है, किन्तु हर भावना के आगे एक प्रश्न चिह्न लगा है। इसी प्रश्न चिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते है। सांस्कृतिक ढाँचा चरमरा उठा है। और यह प्रश्न उसी की ध्वनि-मात्र है।"

गिरजा कुमार माथुर—"प्रयोगो का लक्ष्य है—व्यापक सामाजिक सत्य के खण्ड अनुभवों का साधारणीकरण करने मे कविता को नवानुकूल माध्यम देना जिसमें 'व्यक्ति' द्वारा इस 'व्यापक' सत्य का सर्वबोधगम्य प्रेषण संभव हो सके।"

साराश यह है कि प्रयोगवादी कवि एक विशेष अनुभूति और साहित्यिक साधन को लेकर काव्य क्षेत्र मे अवतरित हुए है। उनका काव्य हेय एवं अग्राह्य नहीं है। कही-कहीं तो अभिव्यक्तियाँ अत्यन्त ही सरस, मार्मिक, हृदयग्राही तथा व्यञ्जनापूर्ण है। इसके अतिरिक्त अभी प्रयोगवादी साहित्य अपनी शैशवावस्था में ही है। इस अवस्था में अपरिपक्वता स्वाभाविक ही है। जिस गति, जिस आवेश के साथ प्रयोगवादी साहित्यकारों ने कदम उठाये है, वह सराहनीय है। प्रारम्भ में आलोचना सभी की होती है। जब प्रयोगवादी साहित्य सशक्त हो जाएगा, उसमें गतिमत्ता आजाएगी तो आलोचक एक स्वर से गुण गान करने लगेगें। संक्षेप में प्रयोगवादी साहित्य का भविष्य अति उज्ज्वल है।

प्रगतिवाद

जगत परिवर्तनशील है। प्रकृति की कोई वस्तु समानावस्था मे नहीं रह सकती है। आज जो भूमिखण्ड सरिता-सलिल-सिंचित लताओं और वृक्षों पर लदे सुमनों एवं फलों से अपने सौन्दर्य पर इठला रहा है, कल मरुभूमि का दृश्य उपस्थित कर सकता है। आज जो मानव राजमुकुट धारण किये भविष्य की कल्पनाओं मे मग्न हो रहा हो, कल फटी, पुरानी झोली का मुँह फैलाये भिक्षार्थ द्वार-द्वार घूम सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि संसार में प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। यही दशा समाज, राष्ट्र तथा साहित्य की है।

साहित्य और समाज का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ट है। दूसरे शब्दों में यदि साहित्य को समाज का प्रतिविम्ब एवं दर्पण कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। कारण स्पष्ट है। साहित्यकार समाज से भिन्न प्राणी नहीं है। वह भी समाज की इकाई है। अतः सामाजिक, भावनाओं, मनोवृतियों आदि का साहित्यकार के संवेदनशील हृदय पर पूर्ण प्रभाव पड़ता है। सामाजिक भावनाओं की सह अनुभूति से साहित्यकार के मानस में जो भाव अंकुरित होते हैं, वही भाव साहित्य में एतादृशः चित्रित कर दिये जाते हैं। साहित्यकार के हृदय रूपी ताल-फलक के माध्यम द्वारा सामाजिक भावनाएँ साहित्य का रूप धारण कर रही हैं। सामाजिक परिस्थितियों, मनोवृत्तियों, भावनाओं, विचारधाराओं आदि के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के रूप एवं विचार भी परिवर्तित होते रहते हैं। हिन्दी साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने से समाज की परिवर्तनशीलता पूर्ण रूप से लक्षित होती है। हमारा देश आठवी, नवीं तथा दसवी शताब्दियों में शौर्य प्रदर्शनार्थ किये गये युद्धों का क्षेत्र बना हुआ था। अतः उस काल के साहित्य पर वीर-रस पूर्ण प्रवृत्तियों की छाप पूर्ण रूप से है। तदनन्तर मुसलमानों द्वारा पराजित होने पर हिन्दू जनता के हृदय मे वैराग्य की भावनाएँ जाग्रत हुईं। रक्त से सनी तलवार की छाया में पले हुए हिन्दी साहित्य ने भी अपना मार्ग बदला। भक्ति की चारों सामाजिक क्रान्तियाँ, हिन्दी साहित्य में ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी,

कृष्णभक्ति मार्गी, रामभक्ति मार्गी धाराओं के रूप में अंकित हैं। तदनन्तर यवन सम्राटों के विलासमय जीवन ने हिन्दी काव्यधारा को रीति-क्षेत्र में प्रविष्ट कराया। वासनामय प्रेम ही कविता का मुख्य विषय रहा। इसके पश्चात् पाश्चात्य सभ्यता तथा साहित्य के प्रभाव से हिन्दी कविता राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख हुई। छायावाद, रहस्यवाद आदि पश्चिमी साहित्य की देन हैं। प्रगतिवाद हिन्दी काव्य का नवीनतम रूप है।

'प्रगतिवाद' शब्द का निर्माण 'प्रगति' शब्द से हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है—प्रकृष्ट गति, उच्च-गति अथवा उन्नति। कतिपय आलोचकों के अनुसार 'प्रगति' शब्द अंगरेजी शब्द 'प्रोग्रेस' शब्द का पर्यायवाची माना गया है। 'प्रोग्रेस' में 'प्रो' का अर्थ है 'आगे' और 'ग्रेस' का अर्थ है 'चलना'। ऐसी स्थिति मे 'प्रगतिवाद' का अर्थ ऐसे साहित्य से होगा जो हमारी सामाजिक भावनाओं से आगे चले। यह नितान्त असम्भव है क्योंकि साहित्य तो सामाजिक भावनाओं का प्रतिविम्ब होता है। यदि साहित्य की प्रगति का अर्थ साहित्य की उन्नति समझा जाए, तो उसका अर्थ होगा समाज की उन्नति। क्योंकि समाज की उन्नति पर ही साहित्य की उन्नति अवलम्बित है। इस दृष्टिकोण से हमारा हिन्दी साहित्य सदैव से प्रगतिवाद की ओर उन्मुख रहा है। कारण, भारतीय साहित्य सदा ही 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' के आदर्श वाक्य का पालन करता हुआ चला है। कबीर, सूर, तुलसी प्रभृत्ति कलाकारों ने मानव-कल्याण की प्रवृत्ति से ही प्रेरित होकर लोक-मंगल की भावना से साहित्य का सृजन किया है। इन संत कवियो की वाणी केवल जन-जीवन को ही नही अपितु युग-जीवन को भी प्रेरणा देने में समर्थ रही है। यही नही भूषण, दीनदयालगिरि, गिरधर, भारतेन्दु आदि कवियों के साहित्य में भी समाज-कल्याण एवं लोक-हित के बीज निहित हैं। इस दृष्टि से क्या हमारे सभी प्राचीन हिन्दी कवि प्रगतिवादी कवि हैं? यदि गम्भीरतया विचार किया जाए तो सभी कवियों की मर्मस्पर्शी वाणी मानव एवं समाज को आगे बढ़ाने के लिए दिव्य संदेश देती है। अतः उनका साहित्य भी शाश्वत-प्रगतिवाद के अन्तर्गत आ सकता है। किन्तु ऐसा नहीं। आज के प्रगतिवाद का अर्थ दूसरे ही अर्थ में लिया जाता है। यह साम्यवाद का साहित्यिक रूप है। आज का प्रगतिवाद शोषित-पीड़ित मानवता का पक्ष

लेकर, पूँजी-पतियों और शोषकों के प्रति-विद्रोह करने चला है। यदि छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है तो इसके विपरीत प्रगतिवाद सूक्ष्म के प्रति स्थूल का विद्रोह है। प्रगतिवादियों के मतानुसार मानव का अन्तजर्गत, बाह्य जगत का छायामात्र है। अतः उनका आदेश अन्याय और अत्याचार का सामना करने के लिए स्फूर्ति और शक्ति का संचय करना है। अतः प्रगतिवादी साहित्य काव्य का नवीनतम रूप है। डाक्टर रामविलास शर्मा के कथनानुसार 'प्रगतिशील साहित्य से मतलव उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।' इस प्रकार प्रगतिवाद का स्पष्ट अर्थ उस साहित्य से है, जो एक विशेष ढंग से, विशेष दिशा में आगे बढ़ावे। डाक्टर नगेन्द्र के मतानुसार प्रगतिवाद के इस दृष्टिकोण का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है।

आज का युग विज्ञान का युग है। इसमें पदार्थ (मैटर) की सघनता को विशेष महत्व दिया जा रहा है। संसार का मूलाधार यही पदार्थ अथवा मैटर है। पञ्चभूत इसी पदार्थ का नाम है। सृष्टि की जड़-चेतन प्रकृति, सूक्ष्म-स्थूल रूप इसी पदार्थ से बने हैं। मानव-शरीर भी पंचाभूतात्मक है। उसका संचालन करने वाली शक्ति मस्तिष्क है। शरीर की अन्य इन्द्रियों की भाँति मस्तिष्क भी भौतिक है। मस्तिष्क शरीर का सबसे अधिक चेतनशील एवं विकसित अवयव है। वाह्यजगत की घटनाओं से शारीरिक इन्द्रियों का अनुभव मस्तिष्क द्वारा ही होता है। मस्तिष्क से कुछ अधिक विकसित अवस्था का नाम ही आत्मा है। मस्तिष्क की भाँति आत्मा भी पदार्थ का ही एक रूप है। वह कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है। पदार्थ गतिशील है। इसकी आन्तरिक प्रक्रिया अतिमनोरञ्जक है। प्रत्येक प्रस्तुत अवस्थान में स्वतः ही आभ्यन्तरिक असंगतियाँ अंकुरित होती रहती हैं। उनके विकसित होने पर पूर्व अवस्थान का बिलीनीकरण एवं विनाश हो जाता है। तदनन्तर नवीन प्रत्यवस्थान उस स्थान को ग्रहण कर लेते हैं। पूर्व क्रम के अनुसार नवीन प्रत्यवस्थान में भी असंगतियाँ उत्पन्न होती हैं। ये असंगतियाँ ही नवीन प्रत्यवस्थान के विनाश का कारण होती है। तत्पश्चात् एक नये समवस्थान का स्थापन होता है। इस नवीन समवस्थान का आदि और अन्त भी पूर्व अवस्थान तथा प्रत्यवस्थान की

भाँति होता रहता है। इस प्रकार विद्यमान विरोधी तत्वों के द्वन्द्व में ही जगत का क्रम निहित है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सृष्टि के क्रम का आधार भौतिक पदार्थ ही है। अतः सृष्टि की उत्पत्ति के लिए किसी अव्यक्त शक्ति की कल्पना निराधार है। 'परलोक' अथवा 'मोक्ष' आदि की कल्पना भी केवल काल्पनिक है। जगत् को उत्पन्न, .करने के लिए किसी आधि-दैविक शक्ति की आवश्यकता नही है। पदार्थ की पारस्परिक शक्तियों के द्वन्द्वात्मक संघर्ष से ही जगत की उत्पत्ति और विनाश का क्रम लगा रहता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का संक्षिप्त रूप यही है। इसी विचार-धारा का आधार लेकर प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव हुआ है। प्रगतिवाद का दार्शनिक आधार वस्तुतः द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद ही है।

प्रगतिवादियों की धारणा है कि जीवन के मूल में दो विरोधी शक्तियों का संघर्ष निरन्तर ही होता रहता है। इन विरोधी शक्तियों में यदि एक धनात्मक (Protonic) है तो द्वितीय ऋणात्मक (Electronic) है। यदि एक उत्थान की ओर ले जाने वाली है, तो दूसरी विनाश की ओर। चैतन्य मस्तिष्क का कार्य यह है कि विनाशोन्मुख शक्तियों का विनाश कर, उत्थानोन्मुख शक्तियों को सहायता दे। अतः प्रगतिवादी भौतिक जीवन को ही सत्य समझता है। उसकी दृष्टि में समाज भौतिक जीवन की प्रमुख संस्था है। समाजोत्थान के लिए, प्रगतिवादी दृष्टिकोण के अनुसार, अर्थ अति आवश्यक है। हमारी भारतीय संस्कृति के अनुसार जीवन के चार लक्ष्य निर्देशित किये गये हैं—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। प्रगतिवादी केवल अर्थ को प्रमुखता देता है।

आर्थिक दृष्टिकोण से प्रगतिवादियों ने समाज को दो विरोधी शक्तियों में विभाजित किया है—पूँजीवाद और समाजवाद। पूँजीवाद समाज की उन्नति के लिए घातक और समाजवाद पोषक है। अतः प्रगतिवाद समाजवाद एवं साम्यवाद के पक्ष में है। इस प्रकार प्रगतिवाद का आविर्भाव साम्यवाद के सिद्धान्तों को लेकर ही हुआ है। साम्यवाद की आधार शिला व्यक्ति और उसकी आवश्यकताएँ है। उसका सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार ही संचय करे। आवश्यकता से अधिक संचित करना निश्चय ही दूसरे के भाग

का अपहरण करना है। इसी असमान विभाजन का समान विभाजन करने के लिए प्रगतिवाद कवि अवतरित हुआ है। उसकी आन्तरिक कामना है :—

'जग पीड़ित है, अति दुःख से,
जग पीड़ित है, अति सुख से,
मानव जग में मिल जाएँ,
सुख दुःख से औ दुःख सुख से।'

साम्यवाद का राजनीतिक नारा भी यही है। शोषक का शोषण और शोषितों का पोषण ही साम्यवाद चाहता है। अतः पूँजीपति और मजदूर साम्यवाद के मुख्य विषय हैं। मजदूर के जीवन का प्रश्न साम्यवाद का प्रश्न है। आज मजदूर दुःखी है। पूँजीपति ने उसके संसार में आग लगा रक्खी है। पूंजीपति कम से कम व्यय में मजदूर की अधिक से अधिक शक्ति का उपयोग चाहता है। मजदूर भी कम से कम समय में, अपनी शक्ति से अधिक परिश्रम करके, अधिक से अधिक कमाने की कामना करता है। फलतः पूँजीपति सबल और मज़दूर दुर्बल होता चला जा रहा है। पूँजीपति अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए मज़दूर के लिए क्वार्टर आदि के प्रलोभन भी देने लगा है। मजदूर ऐसे ही आकर्षणों के कारण अपने पारिवारिक एवं समाजगत व्यवसाय को छोड़कर नगरों की ओर दौड़ रहा है। यहाँ वह एकाकी जीवन व्यतीत करता है अथवा अपनी स्त्री को रखता है। प्रथम दशा में मजदूर उच्छृंखल हो चारित्रिक निर्बलताओं का शिकार होता है। द्वितीय में निर्धनता का बन्दी हो स्त्री को ही मनोरंजन की सामग्री समझने लगता है। अतः उसकी पारिवारिक वृद्धि होती चली जाती है। समाज मे मजदूरों की जनसंख्या भी बढ़ती जाती है। श्रम का मूल्य गिरता जाता है। इस प्रकार मजदूर का स्वास्थ्य, उसका चरित्र, उसकी निर्धनता, उसका जीवन स्तर आदि अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। पूँजीपति श्रमिक जीवन के युवावस्था के काल को प्रलोभनों द्वारा अधिकाधिक शक्ति के व्यय में लगाता है। अतः श्रमिक की शारीरिक शक्ति शीघ्र ही क्षीण हो जाती है। पूँजीपति अथवा उद्योगपति को इसकी चिन्ता नहीं रहती है क्योंकि वह जानता है कि एक श्रमिक के वृद्ध होने पर, उसे दूसरा युवा श्रमिक उतने ही मूल्य पर मिल जाएगा। उसकी उत्पादन-शक्ति वृद्ध युवक की उत्पादन शक्ति की तुलना में

अधिक ही होगी। उद्योगपति एवं पूँजीपति का यह विचार मानवता के प्रतिकूल है, किन्तु विश्व का सारा समाज इसी व्यापक रोग से पीड़ित है।

हमारे भारतवर्ष में भी इस विश्वव्यापी समस्या का प्रभाव पड़ा। यहाँ का धनिक पुरुष जो अर्थ को धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति का साधन समझता था, अपने विचार बदलने लगा। भारत में गौरांग शक्ति के उदय होते ही यहाँ व्यापार और उद्योग के केन्द्रीकरण का श्रीगणेश हुआ। फलतः यहाँ श्रमिकवर्ग की उत्पत्ति हुई। जनसंख्या की वृद्धि, नगर का आकर्षण आदि कारणों ने भारतीय कृषक को पैतृक व्यवसाय छोड़ने के लिए विवश किया। भारतीय किसान अब एक मजदूर हो गया। स्वाधीन कृपक ने अब पराधीन श्रमिक का रूप ले लिया। वह निर्धनता को प्रारब्ध की देन मानने लगा। फलतः श्रमिक का स्तर निम्नतर होता गया। उसकी यह दयनीय दशा ही भारत में साम्यवादी विचारधारा का मूल कारण बनी। जैसे-जैसे देश में निर्धनता एवं बेकारी बढती गयी, वैसे-वैसे ही यहाँ साम्यवादी विचारधारा का पोपण होता गया। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी साहित्य के आविर्भाव का मूल हेतु भारत में साम्यवादी विचारधारा का सूत्रपात ही है।

साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी में प्रगतिवाद के आविर्भाव का कारण छायावाद का पतन है। प्रगतिवाद का जन्म छायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ है। छायावाद की अतीन्द्रियता, अमूर्तसाधना, रहस्यभावना और कल्पनासृष्टि ही छायावाद के पतन के मुख्य कारण हुए। इसके अतिरिक्त छायावाद में रूढ़िगत अध्यात्म का भी अभाव था। फलतः पलायनवृत्ति छायावाद की एक विशेषता बन गयी। परिवर्तन प्रिय कवियों ने इस अवसर का लाभ उठाया। उन्होंने प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया कि आधुनिक जीवन की सफल अभिव्यक्ति के लिए छायावाद की वायवी भाववस्तु तथा शैली उपयुक्त नही है। छायावाद की एकान्त अन्तर्मुखी तथा आकाश चारिणी कविता वास्तविक जीवन के अंचल को पूर्णरूपेण छोड़ चुकी थी। अतः जनता ने नवीन कविता का स्वागत किया क्यों कि प्रगतिवादी कविताएँ जीवन के अधिक निकट थी। छायावाद के सम्राट-कवि पन्त भी इस प्रभाव से अछूते न बचे—

'वहीं कही जी करता मै जाकर उड़जाऊँ।
मानव जग के क्रन्दन से छुटकारा पाऊं।
प्रकृति नीड़ में व्योम खगों के गाने गाऊँ।
अपने चिर स्नेहातुर उर की व्यथा भुलाऊं।
—सुमित्रानन्दन पन्त (ग्राम्या)

यही नही महादेवी वर्मा भी छायावाद से मुक्ति पाने का आश्रय खोजने लगी।

'चाहता है यह पागल प्यार,
अनोखा एक नया संसार,
जहाँ सपने हों पहरेदार'

पन्त जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि छायावाद "नये युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका। उसमें व्यावसायिक क्रान्ति और विकासवाद के बाद का भावना वैभव तो था पर महायुद्ध के बाद की 'अन्न-वस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नही आई थी। उसके 'ह्रास-अश्रु आशाऽकांक्षा' 'खाद्य मधु पानी' नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ, रहस्यात्मक भाव प्रधान (सब्जेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेकनीक आवरण मात्र रह गया।"

इसके अतिरिक्त फ्राइड और डार्विन की विचारधाराएँ भी प्रगतिवाद के आविर्भाव का कारण हुईं। युग परिवर्तन के कारण भारतीय साहित्य के आदर्श वाक्य 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का आशय भी परिवर्तित हो गया। इस पर विश्व के परिवर्तित दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ा। अब सत्य का अर्थ भौतिक वास्तविकता के अर्थ में ग्रहण किया जाने लगा। जो स्वाभाविक अथवा प्रकृत है, वह सुन्दर समझा जाने लगा। शिव का अभिप्राय भौतिकजीवन एवं सामाजिक विकास के सहायक के अर्थ में लिया जाने लगा। फलतः प्राचीन दार्शनिक दृष्टिकोण भी बदल गया। अब तक साहित्य समाज को इन्द्रियों के दमन और शमन का उपदेश देता था। अब दृष्टिकोण के परिवर्तन से मानव प्रवृत्तियों की क्षुधा को शान्त करने को प्रमुखता दी गयी। अतः प्रगतिवादी साहित्य के उदय का अन्य कारण फ्रॉयड का सैक्सवाद तथा डार्विन का विकासवाद हुए। संक्षेप में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद,

छायावाद का पतन, फ्रायड का सैक्सवाद, डार्विन का विकासवाद तथा रूस का मार्क्सवाद, हिन्दी में प्रगतिवादी साहित्य के जन्मदाता कहे जा सकते हैं।

सर्व प्रथम सन् १९०७ ई० में इटली में प्रगतिशील विचारधारा का जन्म हुआ। इसके जन्मदाता मारिनेत्ति नामक व्यक्ति थे। भविष्यवाद (Futurism) के प्रवर्त्तक यही थे। इनका कथन था कि सुन्दरता का वास्तविक रूप चन्द्र में न देखकर मशीन में देखा जा सकता है। इसके आगे चलकर दो रूप हो गये— 'क्यूबो भविष्यवाद' और 'ईगो भविष्यवाद'। प्रथम विचारधारा ने वर्तमान में भविष्य के दर्शन किये। द्वितीय विचारधारा ने मनुष्य को सर्वोपरि प्राणी मानकर मानव-महत्तावाद का प्रचार किया। तदनन्तर वर्तमानवाद 'प्लैटीसिज्म' का आविर्भाव इसी विचारधारा द्वारा हुआ। प्रगतिवाद वस्तुतः इसी विचारधारा का प्रतिविम्बित रूप है।

मारिनेत्ति साहित्य के रूढ़िगत विचारों का पूर्ण विरोधी था। उसने छंदबन्धन को साहित्योत्थान के लिए घातक बताया तथा व्याकरण को भी कोई महत्त्व प्रदान नहीं किया। सन् १९१४ ई० पर्यन्त मारिनेत्ति की यह विचार-धारा अत्यन्त फूली-फली, तदनन्तर स्वतः ही शान्त हो गयी। सन् १९२१ के लगभग रूस में आडम्बरवाद (Formlism) का अधिक प्रचार हो गया। इसकी लहर फ्रांस में भी फैल गयी। तदनन्तर इसके विरोध में रूस में यथार्थवाद तथा फ्रांस में प्रकृतिवाद का जन्म हुआ। रूसी विचार-धारा ने उग्ररूप धारण कर लिया। वहाँ के साहित्यकारों ने विरोधात्मक तथा संघर्षात्मक विचार-धारा की शैली को प्रमुखता प्रदान की। तदनन्तर रूस में राज्यक्रांति हुई। इसका साहित्य पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। इस क्रान्ति से पूर्व साहित्यकार स्वतन्त्र थे। उनका काव्य-क्षेत्र विस्तृत और व्यापक था। साहित्यकारों की भावनाओं पर किसी प्रकार का राजनीतिक नियंत्रण नहीं था। क्रान्ति के पश्चात् रूसी साहित्यकार तथा उसकी भावनाओं पर राज्य का नियन्त्रण हो गया। अब राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए काव्य-साहित्य का निर्माण होने लगा। फलतः रूसी साहित्य में प्रकृत साहित्य का लोप होने लगा। धीरे-धीरे रूसी साहित्य मार्क्सवाद का खुला प्रचार करने लगा। इसने जन-जागरण के संदेश का नारा लगाया तथा वर्गहीन समाज की स्थापना का बीड़ा उठाया। रूसी कवि

श्रमिक-वर्ग एवं दलित-वर्ग का गुणगान करने लगे। उनकी दृष्टि में गुलाब, मलयज, तितलियाँ, चमकती धूप, हिमकण, इन्द्रधनुप आदि बेकार के विषय हो गये। वे सौन्दर्योपासना, रीति काव्य, पौराणिक काव्य, गीति काव्य आदि की सभी मनोवृत्तियों को हथौड़े की एक चोट से चूर्ण करने के पक्ष में थे। सन् १९३२ ई० मे रूसी सरकार द्वारा कवियों पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया। अव तो वह पूर्णरूप से क्रीत उपदेशको की भाँति मार्क्सवादी विचार-धारा का प्रचार करने लगे।

रूस की मार्क्सवादी विचार-धारा का अँगरेजी साहित्य पर भी पूर्ण प्रभाव पड़ा। ख्याति प्राप्त कवि डब्ल्यू० एच० आडेन, सेसिल डेलेविस, स्टेफिन स्वेंडर आदि पर मार्क्सवाद का पूर्ण प्रभाव पड़ा। उन्होंने पूँजीपतियों एवं उद्योगपतियों के विलासमय जीवन के विरोध में पूर्ण प्रचार किया। श्रमिक वर्ग के प्रति अंगरेजी साहित्यकारों की सद्भावनाएँ भी मुखरित हो उठीं। भारत अँग्रेजों के आधीन होने के कारण इस विचार-धारा से कब अछूता रह सकता था। विज्ञान के युग में सारे देशों की सीमाएँ अति निकट है। फलतः अंग्रेजी साहित्य के माध्यम द्वारा भारतीय चिन्तन-धारा भी मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हो गयी। इस प्रकार हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य का जन्म रूसी तथा अंग्रेजी साहित्य के संसर्ग से हुआ।

सन १९२७ ई० में सर्वप्रथम भारत में कम्युनिष्ट दल (साम्यवादी दल) की स्थापना हुई। तदनन्तर कांग्रेस संस्था में भी एक अवान्तर सोशलिस्ट दल (समाजवादी दल) की स्थापना हुई। इसी समय से भारतीय साहित्य में प्रगतिवादी साहित्य का उदय हुआ, सर्वप्रथम इस विचार-धारा का प्रभाव बँगला साहित्य पर लक्षित होता है। बुद्धदेव बसु और अजितदत द्वारा ढाका से प्रकाशित 'प्रगति' नामक पत्र इस बात का प्रमाण हे। तदनन्तर भारत के अन्य प्रान्तों के साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा। सन् १९३५ ई० के नवम्बर मास में भारत के कुछ छात्रों द्वारा जिनमें मुल्कराज आनन्द तथा सज्जाद जहीर प्रसिद्ध थे, लन्दन के नैनकिङ्ग होटल में प्रगतिशील संघ की स्थापना हुई। फ्रान्स के प्रसिद्ध उपन्यासकार ई० फारेस्टर की अध्यक्षता में इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। भारत में प्रगतिशील संघ का सर्वप्रथम अधिवेशन सरस्वती के वरदपुत्र उपन्यास सम्राट

प्रेमचन्द के सभापतित्व में लखनऊ में हुआ। अध्यक्ष के रूप मे उन्होंने भाषण देते हुए कहा था—"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति संघर्ष और बैचैनी पैदा करे; सुलाये नहीं, क्योंकि अधिक सोना मृत्यु का लक्षण है।" प्रेमचन्द जी ने अपने कथन का अक्षरशः पालन किया। उन्ही से अनुप्राणित होकर प्रसाद जी ने 'कङ्काल' उपन्यास की रचना की जिसमें यथार्थवाद तथा प्रगतिवाद कूट-कूट कर भरा है।

प्रेमचन्द के पश्चात् प्रगतिशील साहित्य को सबसे बड़ी देन कविवर सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की है। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में प्रगतिशील साहित्य का सृजन किया। उनकी 'चतुरी चमार' एवं 'पगली' कहानियाँ तथा 'चोटी की पकड़', 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि उपन्यास प्रगतिशील साहित्य की सुन्दर रचनाएँ हैं। पन्तजी की ग्राम्या और युगवाणी प्रगतिशील साहित्य की ही वृद्धि करने वाली रचनाएँ हैं। अन्य कवियों मे नरेन्द्र, शिवमंगल सिंह सुमन, अंचल, दिनकर आदि प्रसिद्ध हैं। सन् १९४१ ई० से प्रेमचन्द जी द्वारा प्रकाशित होने वाले पत्र 'हंस' ने भी प्रगतिशील साहित्य के सृजन में सराहनीय कार्य किया है। आज कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, समालोचना तथा कविता आदि के सभी रूपों में प्रगतिवादी साहित्य का निर्माण हो रहा है। रांगेयराघव, यशपाल, अमृत लाल नागर प्रगतिवादी कहानीकार हैं। राहुल, निराला, आदि के उपन्यास भी प्रगतिवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते है। डाक्टर रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय आदि की आलोचनाएँ प्रगतिवादी दृष्टिकोण को लेकर ही लिखी गयी है। शंकर शैलेन्द्र, केदारनाथ, नागार्जुन, अली सरदार जाफरी आदि प्रगतिवादी कवि है। इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्य का इतिहास प्रगति-पथ पर है।

प्रगतिवादी साहित्य के इतिहास का अवलोकन करने के पश्चात् प्रगतिवादी साहित्य की विशेषताओं का विश्लेषण करना है। राजनैतिक क्षेत्र में जो मार्क्सवाद है वही साहित्यिक क्षेत्र में प्रगतिवाद है। अतः प्रगतिवादी साहित्य की विशेषताएँ मार्क्सवाद के सिद्धान्तों पर ही आधारित है। प्रगतिवादी साहित्यिक विशेष-

ताओं का अधस्तन रूप से वर्गीकरण किया जा सकता है :—

(क) वर्गहीन समाज की स्थापना--इस उद्देश्य से लिखे गये साहित्य के अन्तर्गत वे कविताएं आती है जो शोषित वर्ग की विपन्नावस्था, दीन वर्ग के जागरण तथा नारी की मुक्ति आदि का चित्रण करती हैं।

(ख) पूँजीवाद का विनाश—इस उद्देश्य से लिखे गये साहित्य में शोषक वर्ग की क्रूरता, विलासिता तथा लालसेना की विजय आदि का चित्रण करने वाली कविताएं आती है। गांधीवाद के प्रति विद्रोह की भावना से पूर्ण कविताएँ भी इसी वर्ग के अन्तर्गत है।

(ग) सामाजिक क्रान्ति द्वारा जन संस्कृति का निर्माण- भाग्यवाद का तिरस्कार, यथार्थवाद का चित्रण तथा सामयिक समस्याओं का अंकन करने वाली कविताएँ इसी वर्ग के अन्तर्गत आती है।

(ख) साम्यवाद की स्थापना।

(ङ) शैलीगत विशेषताएं।

उपर्युक्त वर्गीकरण को दृष्टि में रखते हुए प्रगतिवादी साहित्य का क्रमशः पर्यवेक्षण सुलभ होगा। प्रगतिवाद की प्रथम विशेषता, वर्ग हीन समाज की स्थापना है। शोषित वर्ग समाज के लिए एक अभिशाप है। इस वर्ग का जीवन दु:खों की एक लम्बी कहानी है। इसी प्रकार नारी सृष्टि के आदि से नर के अत्याचारों का शिकार रही है। उसकी दयनीय दशा एवं करुण जीवन सहानुभूति चाहते है। प्रगतिवादी कवि इसीलिए शोषितों एवं नारी के जागरण का सन्देश देता है। दलित और पीड़ित मानव की दयनीय दशा पर अश्रु प्रवाहित करते हुए 'अंचल' के विचार देखिए :—

'वह नस्ल जिसे कहते मानव, कीड़ों से आज गई बीती।
बुझ जाती तो आश्चर्य न था, हैरत है पर कैसे जीती।'

अकाल-ग्रस्त प्रदेशों में भूख से विवश होकर माता-पिता सन्तति को पशुवत बेचने लगते हैं। इससे कारुणिक स्थिति और क्या हो सकती है ?

'बाप बेटा बेचता है,
भूख से बेहाल होकर,

धर्म धीरज प्राण खोकर
हो रही अनरीति बर्बर।
राष्ट्र सारा देखता है।
बाप बेटा बेचता है।'

प्रगतिवादी कविओं ने शोषित, पीड़ित मानव को अपने काव्य का अवलम्बन बनाया है। अतः कृषक और श्रमिक के प्रति उनकी पूर्ण सहानुभूति है। उदयशंकर भट्ट ने एक श्रमिक का बड़ा मर्मभेदी चित्र उपस्थित किया है। ग्रीष्म, बसन्त तथा वर्षा के सभी दृश्य उसके शरीर में मिल जाते हैं :—

'मेरी बरसातें आँसू रे, मेरा बसन्त पीला शरीर,
गरमी झरनों सा स्वेद, मेरे साथी दुख दर्द पीर।
दिन उनको मुझको रात मिली, श्रम मुझे उन्हे आराम मिला।
बलि दे देने को प्राण मिले, हण्टर को सूखा चाम मिला।

श्री भगवती चरण वर्मा ने 'भैंसा गाड़ी' नामक कविता मे भूखे नग्न कृषकों का कैसा हृदय द्रावक एवं यथार्थ चित्र अङ्कित किया है :—

'वे भूखे अधखाए किसान,
भर रहे जहाँ सूनी आहें,
नंगे बच्चे चिथड़े पहने,
माताएँ जर्जर डोल रही,
है जहाँ विवशता नृत्य कर रही
धूल उड़ाती है राहें।'

श्रमिक के जीवन का सहानुभूमि पूर्ण चित्रण 'हितैषी' जी की रचना में देखिए :—

ओ मज़दूर ! ओ मज़दूर !!
तूही सब चीज़ों का कर्त्ता, तूही सब चीज़ों से दूर,
ओ मज़दूर ! ओ मज़दूर !!
गर्मी तुझे तपाती आती, वर्षा देह धुलाती आती,
सर्दी खून सुखाती आती, तेरे उद्यम तेरे साधन,
तो भी तू इतना मजबूर, ओ मज़दूर, ओ मज़दूर !!

मूल जगत का मालिक तू है, मालिक का भी मालिक तू है।
इस खिलकत का खालिक तू है, तू चाहे तो पलमें करदे,
इस दुनिया को चकनाचूर, ओ मजदूर ! ओ मजदूर !!

निराला जी द्वारा चित्रित भिक्षुक का चित्र भी इसी भावना से पूर्ण है :—

'वह आता ।
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता ।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता
वह आता ।'

'वह तोड़ती पत्थर' शीर्षक कविता में भी निराला जी ने एक शोषित प्राणी का सजीव चित्रण किया है। केदारनाथ अग्रवाल जी ने 'चन्दू' फोकट के जीवन का भी ऐसा ही हृदय द्रावक चित्र उपस्थित किया है।

'चंदू चना चबैना खाता।
मुफ्त मिले अपने जीवन के
घण्टों मिनट सैकण्डों को गिन–
कभी नही वह दाम लगाता।
भीख माँगते पैसा पाता।
× × ×
कहीं एक कोने में बैठा
हाथ चरस की चिलम दबाये
शेष आयु का धुआँ उड़ाता
चन्दू चना चबैना खाता।

नारी की परवशता तथा दुर्दशा की ओर भी प्रगतिवादी कवियों की दृष्टि गयी है। नारी युगों-से पुरुष की काम वासना की तृप्ति का साधन मात्र समझी गयी है। युग-युगान्तरों से पुरुष उसे क्रीत दासी समझता रहा है :—

क्षुधा काम वश गत युग ने,
पशुबल से कर जन शासित।
जीवन के उपकरण सदृश,
नारी भी करली अधिकृत।

उसी नारी को मुक्त करने के लिए प्रगतिवादी कवि ने पुरुष को फटकारना प्रारम्भ किया है :—

यौनि नही है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।

× × ×

मुक्त करो जीवन संगिन को जननि देवि को आहत
जग-जीवन में मानव के सङ्ग, हो मानवी प्रतिष्ठित।

× × ×

मुक्त करो नारी को मानव, चिर वन्दिनि नारी को,
युग-युग की बन्दी कारा से, जननि, सखी, प्यारी को।

× × ×

उसे मानवी का गौरव दे पूर्ण स्वत्व दो नूतन,
उस का मुख जग का प्रकाश हो उठे अन्ध अवगुन्ठन।
खोलो हे मेखला युगों की, कटि प्रदेश से तन से,
अमर प्रेम ही बन्धन उसका, हो पवित्र वह मन से।।

अतः स्पष्ट है कि कृषक वर्ग तथा श्रमिक वर्ग की भाँति नारी वर्ग को सुखी बनाने का भी प्रगतिवादी कवियों ने प्रण सा कर लिया है। प्रगतिवादी केवल नारी स्वातन्त्र्य से ही सन्तुष्ट नहीं है। वह तो रूढ़ि विरोधी है। अतः वह तो नारी के स्वच्छन्द-प्रेम की परिपाटी को भी प्रश्रय देता है किन्तु वह नारी के उस अधःपतन का पोषक नही जिसमें उसे पुरुष की कृपा पर अवलम्वित रहना पड़े। वह तो उन्मुक्त प्रेम का पक्षपाती है।

प्रगतिवादी साहित्य की द्वितीय विशेषता है—पूँजीवाद का नाश। प्रगतिवादी कवि की जीवन की विषमता पर पूर्ण दृष्टि पड़ी है। उसने अपने नेत्रों से देखा है कि एक ओर पूँजीपतियों के कुत्तों को भर पेट दूध मिलता है और

दूसरी ओर श्रमिकों और कृषकों के दुधमुँहे बच्चे दूध के लिए तरसते हैं। इसीलिए इस भेद को मिटाने के लिए प्रगतिशील साहित्य की एक विशेषता पूँजीपतियों एवं शोषकों के अत्याचारों आदि का चित्रण करना है। सामाजिक असमानता को देखकर उसका आक्रोश उमड़ पड़ता है। देखिए :—

"श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती की लज्जा वसन बेच, जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल-फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं।"

—दिनकर

कवि को केवल पूँजीपति से ही नही अपितु श्रमिक एवं कृषक का शोषण करने वाले व्यापारी, उद्योगपति, सूदखोर आदि सभी से पूर्ण द्वेष है। कवि इनके प्रति घृणात्मक भावों का प्रचार करना चाहता है—

'वह राजकाज जो सधा हुआ है इन भूखे कङ्कालों पर,
इन साम्राज्यों की नीव पड़ी है तिल-तिल मिटने वालों पर,
वे व्यापारी वे ज़मींदार, जो हैं लक्ष्मी के परम भक्त।
वे निपट निरामिष सूदखोर पीते मनुष्य का उष्ण रक्त।

—भगवतीचरण वर्मा

वस्तुतः पूँजीपति, सूदखोर, ज़मींदार, राजा, आदि सभी दीन वर्ग के लिए घातक है। सामाजिक विशृङ्खलता का उत्तरदायित्व उन्हीं पर है। इस विशृंखलता का अन्त होने पर ही श्रमिक और कृषक सुखी रह सकते हैं। अतः प्रगतिवादी कवि का अमर विश्वास है कि एक न एक दिन इस विषमता का अन्त अवश्य होगा—

"वे नृशंस है, वे जन के श्रमबल से पोषित,
दुहरे धनी जोंक जग के, भू जिनसे शोषित।
नही जिन्हें करनी श्रम से जीविका उपार्जित।
नैतिकता से भी रहते जी अतः अपरिचित।

दर्पी-हठी, निरंकुश, निर्भय, कलुषित, कुत्सित,
गत संस्कृति के गरल, लोक जीवन जिनसे मृत ।
जग-जीवन का दुरुपयोग है उनका जीवन,
अब न प्रयोजन उनका, अंतिम है उनके क्षण ।।"

—पन्त

पूँजीपतियों के विलास-वैभव को देखकर प्रगति प्रिय कवि अति पीड़ित हो जाता है ।

'जिनके प्रपुष्ट कन्धों पर है साम्राज्य तुम्हारे आज टिके ।
उनके यश मान लाज सब कुछ है आज तुम्हारे हाथ बिके ।
तुम चूस प्रजा का रक्त-माँस शोषण कर हृष्ट-पुष्ट बने ।
उनके लोहू से रगते हो, तुम अपने वैभव के सपने ।'

—सुधीन्द्र

इन शोषकों का अन्त करने के लिए प्रगतिवादी कवि पूँजीपतियों आदि के अत्याचारों का चित्रण करता है । वह पूँजीपतियों को चेतावनी देता है कि यदि उन्होंने अपना मार्ग नहीं बदला तो लालसेना उनको समूल नष्ट कर देगी । उसकी धमकी देखिए :—

चली जा रही है, बढी लाल सेना ।
युगों की सड़ी रूढ़ियों को कुचलती,
जहर की लहर सी मचलती,
अँधेरी निशा में मशालों सी जलती ।
चली जा रहती है, बढ़ी लाल सेना ।
समाजी विषमता की नीवें मिटाती,
गरीबों की दुनियाँ में जीवन जगाती ।
अमीरों की सोने की लंका जलाती,
चली जा रही है, बढ़ी लाल सेना ।

—सुमन ।

यह स्पष्ट है कि प्रगतिवादी कवि पर रूसी साम्यवादी विचार-धारा का पूर्ण प्रभाव पड़ा है । अतः मार्क्सवाद की सभी मान्यताओं को भारतीय प्रगति-

प्रिय कवि ने भी आप्तवाक्य की भाँति मान लिया है। यही कारण है कि 'लाल सेना' तथा 'लाल निशान' के स्तुति-परक गीत प्रगतिशील हिन्दी काव्य में पूर्ण रूप से मिलते हैं :—

"लाल रूस है ढाल साथियो, सब मजदूर किसानों की,
वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नही है बेकारी।
लाल रूस का दुश्मन साथी, दुश्मन सब इन्सानों का,
दुश्मन है सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानों का।

—नरेन्द्र

प्रगतिवादी कवि की आन्तरिक कामना यह है कि सारे विश्व में लाल-पताका लहराती हुई दिखाई दे।

'खोलो लाल निशान।
हो सब लाल जहान! खोलो लाल निशान!'

प्रगतिवादी कवि गांधीवाद का पूर्ण विरोधी है। वह तो ध्वंस द्वारा निर्माण के प्रश्न को सुलझाना चाहता है। पूँजीवाद को समूल नष्ट करने के लिए उसकी हिंसा की प्रवृत्ति देखिए :—

नष्ट कर दो,
आज धरती पर खड़े—
अभिशाप से—
इन राजमहलों को जलाकर
नष्ट कर दो,
लक्ष्मी के लाड़लों के,
ये विशाल भवन!

—विश्वनाथ मिश्र,

यही नहीं कविवर पंत कोकिल से पावक-कण बरसाने की याचना करते हैं :

गा कोकिल बरसा पावक कण,
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
पावक पग धर आवे नूतन।

प्रगतिवादी साहित्य की तृतीय विशेषता सामाजिक क्रान्ति द्वारा जन-संस्कृति के निर्माण की भावना है। प्रगतिवादी कवि भाग्यवाद के तिरस्कार, यथार्थवाद के चित्रण, तथा सामाजिक समस्याओ के अंकन करने के पक्ष में है। प्रगतिवाद का निर्माण 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' का आधार लेकर हुआ है। अतः उसे 'ईश्वर' जैसी शक्ति की आवश्यकता नही है। 'मोक्ष', 'परलोक' आदि की कल्पना भी उसकी दृष्टि में निराधार एवं असत्य है। वह यह स्वीकार करने को भी तैयार नही है कि धन एवं सुख विधाता का वरदान तथा निर्धनता एवं दुख प्रारब्ध की देन है। ईश्वर के विषय में प्रगतिवादी कवि के विचार देखिए:—

'आज भी जन-जन जिसे करबद्ध होकर याद करते।
नाम ले जिसका गुनाहों के लिए फरियाद करते।
किन्तु मैं उसका घृणा की धूल से सत्कार करता।'

—अंचल।

मंदिर-मस्जिद, कुरान-गीता आदि की ओर भी प्रगतिवादी कवि का ध्यान नहीं है। इस लौह-युग में ईश्वर तथा धर्म में उसका अविश्वास है। धार्मिक ग्रन्थों का अर्थ भी प्रगति-प्रिय कवि के लिए बदलता हुआ दिखाई देता है।

'हैं काँप रही मन्दिर, मस्जिद की मीनारें,
गीता, कुरान के शब्द बदलते जाते हैं।
ढहते जाते हैं दुर्ग द्वार मकबरे महल,
तख्ता पर स्याही बादल मँडराते हैं।
अँगड़ाई लेकर जाग रहा इन्सान नया,
जिन्दगी कब्र पर बैठी बीन बजाती है।
भूखी धरती अब भूख मिटाने आती है।।' —नीरज

इस प्रकार प्रगतिवादी कलाकार अपने बाहुबल द्वारा सुख अर्जित करने के पक्ष में है। ब्रह्म तो उसकी दृष्टि में कोरा ढकोसला है।

'मिल जाता है जब कभी लगा सम्मुख पथ पर,
भूखे भिखमँगों नंगों का सूना बजार।
तब मुझको लगता है कि तुम्हारा ब्रह्म स्वयं,
है खोज रहा. धरती पर मिट्टी का मजार।' —नीरज

भूखे, नंगे, भिखमंगे, दीन, हीन, पराधीन मानव को सुख एवं शान्ति प्रदान करने के लिए प्रगतिवादी कवि क्रान्ति के पक्ष में है। उसका अमर विश्वास है कि क्रान्ति द्वारा ही शोषकों और शोषितों के मध्य मे उत्पन्न हुई विषमता का अन्त हो सकता है। इसीलिए वह क्रान्ति की चिनगारी द्वारा महानाश का भैरव गान सुनना चाहता है :—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल पुथल मच जाए।
एक हिलोर इधर से आए,
एक हिलोर उधर से आए।
प्राणों के लाले पड़ जाएँ,
त्राहि त्राहि रव नभ में छाए।
बरसे आग जलद जल जाएँ,
भस्मसात भूधर हो जाए।
पाप पुण्य सदसद भावों की,
धूल उठे दाएँ बाएँ।'

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

प्रगतिवाद धार्मिक क्रान्ति, सामाजिक क्रान्ति सभी को लेकर आगे बढ़ना चाहता है। इसीलिए वह रूढ़िवाद का पूर्ण विरोधी है। निम्नलिखित कविता में नरेन्द्र ने मानवतावाद की कैसी आदर्श झाँकी कराई है :—

मैं हिन्दू हूँ तुम मुसलमान,
पर क्या दोनों इन्सान नहीं।
मैं तुम्हें समझता रहा म्लेच्छ
तुम मुझे बणिक औ दहकानी।
सदियों हम दोनों साथ रहे,
यह बात न अब तक पहिचानी।
दोनों ही धरती के जाये,
हम अन चाहे मेहमान नहीं।

मैं हिन्दू हूँ तुम मुसलमान,
पर क्या दोनों इन्सान नही।

धार्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति के उपासक प्रगतिवादी कलाकार को समाज का यथार्थ चित्रण करने में पूर्ण सफलता मिली है। आज का समाज अति दुखी है। यत्र तत्र सर्वत्र कष्ट, दुःख, पीड़ा, निर्धनता, अत्याचार, अन्याय आदि का साम्राज्य है। अतः ऐसे युग में समाज का यथार्थ चित्रण कर प्रगतिवादी कवियों की भावनाएँ अत्यन्त हृदय स्पर्शी सिद्ध हुई है। कही-कही प्रकृति चित्रण में तो प्रगतिवादी भावनाएँ अत्यन्त ही सरसता एवं संवेदनशीलता के साथ मुखरित हुई है। उनमें निर्मल एवं उच्चकोटि की कला की अभिव्यञ्जना है। प्रकृति के 'स्वयंवर' की पावन झाँकी कीजिए :—

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर—
छोटे गुलाबी फूल का,
सज कर खड़ा है
पास ही मिलकर उगी है
बीच में अलसी हठीली
देह की पतली, कमर की है लचीली;
नील फूले फूल को सिर पर चढ़ाकर
कह रही है,
जो छुये यह
दूँ हृदय का दान उसको
और,
सरसों की न पूछो,
होगई सबसे सयानी,
हाथ पीले कर लिये हैं,
ब्याह मंडप में पधारी।
फाग गाता मास फागुन

आ गया हो पास जैसे।
देखता हूँ मैं, स्वयंवर हो रहा है।

—केदारनाथ अग्रवाल

सामयिक समस्याओं का अंकन करने में प्रगतिवाद पीछे नही रहा है। उसका सिद्धान्त है कि युग बदलता नही है, बदला जाता है। इसीलिए प्रगतिवादी कवि जब विषमता का ताण्डव नृत्य देखता है तो उस सामयिक समस्या को सुलझाने के लिए क्रान्ति का सन्देश देता है।

'उठ समय से मोरचा ले,
धूल धूसर वस्त्र मानव,
देह पर फबते नही है,
देह के ही रक्त से तू देह के कपडे रंगाले। —बच्चन

प्रगतिवादी साहित्य की चतुर्थ विशेपता साम्यवाद की स्थापना है। यह प्रमाणित सत्य है कि प्रगतिवाद का निर्माण साम्यवाद के मूल सिद्धान्तों को लेकर ही हुआ है। अतः प्रगतिवादी साहित्य की विशेपता साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रसार एवं प्रचार तथा साम्यवाद की स्थापना की ओर भी रही है। साम्यवाद का नारा समानता का नारा है। अतः इसे विश्व का बहुमत प्राप्त हे। साम्यवाद अथवा मार्क्सवाद के विधाता, निर्माता एवं जन्मदाता मार्क्स थे। प्रगतिवादी मार्क्स को जनता के त्राता के रूप में देखते हैं। वस्तुतः मार्क्स का जीवन दर्शन शोषित, पीड़ित एवं दलित जनता के उत्थान के लिए था। अतः उनकी वन्दनीयता मानवता का परिचय देती है :—

'धन्य मार्क्स चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर।

इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्य की विशेपता महा मानव मार्क्स का गुणगान तथा उसके सिद्धान्तों का प्रचार करना भी है।

प्रगतिवादी साहित्य की अन्य विशेषता शैलीगत विशेषता है। इसे दूसरे शब्दों में सैद्धान्तिक विशेषता भी कह सकते हैं। कविवर पंत तथा आलोचक शान्तिप्रिय द्विवेदी के कथनानुसार प्रगतिवाद उपयोगितावाद का दूसरा नाम है। कला के क्षेत्र में प्रगतिवाद उपयोगितावाद को लेकर चला है। प्रगतिवाद का

दृष्टिकोण भावगत न होकर वस्तुगत होता है। प्रगतिवादी सिद्धान्तों के अनुसार काव्य की सार्थकता भावों और विचारों का यथार्थ एवं वास्तविक चित्रण करने मे है। अतः प्रगतिवादी कलाकार को भाषा विभूषित करने के लिए अलंकारों की भी आवश्यकता नही है। उसकी दृष्टि में सुन्दरता का जितना स्थान है; उतना ही कुरूपता का। उसका मत है कि आज के अस्थिर एवं अनेक रूप जीवन में अनगढ़ और भदेस हमारे अधिक समीप हैं। इसलिए काव्य में जो कि जीवन की वास्तविक एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, कुरूपता का भी वही स्थान है जो सुन्दरता का। काव्य की इसी विचारधारा को लेकर प्रगतिवादी कलाकार काव्य क्षेत्र में अवतरित हुआ है। निम्नलिखित कविता इसी दृष्टिकोण की परिचायक है—

'तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिए, तुम्हें क्या अलंकार !
भवकर्म आज की स्थितियों से है पीड़ित,
जन का रूपान्तर भी जनैक्य पर अवलम्बित,
तुम रूप कर्म से मुक्त, शब्द के पंख मार,
कर सको सुदूर मनोनभ में जन के विहार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

प्रगतिवाद ने निराली भावधारा के साथ-साथ अभिव्यञ्जना के लिए नये-नये आलम्बन और उपादानों की अवतारणा की है। इसने विशेष को छोड़कर सामान्य को अपनाया है। भाषा में गद्यात्मकता की छटा अवलोकनीय होती है। चमत्कारपूर्ण अभिव्यञ्जना तथा प्रभावोत्पादन के लिए प्रगतिवादी काव्य में अन्योक्तियों तथा व्यंग्योक्तियों को भी स्थान दिया जाता है। भाषा सरल, सुबोध तथा व्यावहारिक होती है। छन्दों के बन्धन का विचार नहीं किया जाता है। मुक्त-छन्दों की प्रवृत्ति को प्रमुखता दी जाती है। उदाहरण के लिए निराला जी की 'कुकुरमुत्ता' शीर्षक कविता देखिए। कुकुरमुत्ता गुलाब से कहता है—

'अबे, सुन वे गुलाब,
भूल मत गर पाई खुशबू, रंगोआब,

खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा कैपीटलिस्ट,
कितनों को तूने बनाया है गुलाम,
माली कर रक्खा, खिलाया जाड़ा घाम'

संक्षेप में प्रगतिवादी साहित्य नूतन विशेषताओं को लेकर चला है। एक ओर उसने रूढ़िवाद, सामन्तवाद, गांधीवाद, पूँजीवाद आदि का विरोध किया है, तो दूसरी ओर भारतीय काव्य की प्राचीन परम्परा कलावाद का पूर्ण परित्याग कर दिया है। कविवर पन्त ने अपनी 'युगवाणी' में 'नवदृष्टि' शीर्षक कविता में प्रगतिशील काव्य के लक्षणों का संक्षेप में परिचय दिया है—

'खुल गये छन्द के बन्ध, प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त औ युगवाणी बहती अयास
बन गये कलात्मक भाव जगत के रूप नाम,
जीवन संघर्षण देता सुख लगता ललाम।
सुन्दर, शिव सत्य कला से कल्पित माप मान,
बन गये स्थूल जग जीवन से हो एक प्राण।
मानव स्वभाव ही बन मानव आदर्श सुकर,
करता अपूर्ण को पूर्ण, असुन्दर को सुन्दर॥'

प्रगतिवाद की कतिपय विशेपताओं का विवेचन करने के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह काव्यधारा जनहित का दृष्टिकोण लेकर, प्राचीन काव्य-परम्परा के प्रति विद्रोह की भावना लेकर पल्लवित हुई है। यथार्थ जीवन का चित्रण तथा स्थूल समस्याओं का विवेचन ही प्रगतिवाद का मुख्य उद्देश्य होने के कारण प्रगतिवादी रचनाएँ केवल विवरण मात्र रह गई हैं। उनमें रसात्मकता तथा संवेदनशीलता का अभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। अतः प्रगतिवाद के शैशवकाल में ही अनेक विरोधी आलोचक जन जागरण के इस हितकारी काव्य पर अनेक प्रकार के आक्षेप करने लगे हैं।

प्रथम आक्षेप यह है कि प्रगतिवाद यथार्थवाद को प्रमुखता देता है। फलतः उसमें एक ओर नंगे-भूखे, आलसी-कायर, भिखारियों, पागलों, श्रमिकों एवं कृषकों का घृणास्पद चित्रण है तो दूसरी ओर प्रेम का अत्यन्त स्वच्छन्द, नग्न

एवं कुण्ठित रूप चित्रित किया गया है। प्रगतिवाद ने रीतिकाल के अवास्तविक एवं अनुपयोगी साहित्य के विरुद्ध नारा लगाकर शुद्ध और स्वस्थ साहित्य-सृजन का बीड़ा उठाया था। किन्तु आज प्रगतिवाद अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में असफल दिखाई देता है। आज प्रगति के नाम पर, कला की आड़ मे अनेक वासनापूर्ण, मर्यादाहीन चित्र चित्रित किये जा रहे हैं। वे साहित्यिक प्रगति के लिए ही अवरोध नहीं अपितु समाज के सदाचारपूर्ण वातावरण के लिए भी घातक है। प्रगतिवाद की प्रेम की अभिव्यक्ति अत्यन्त स्थूल और माँसल है। उसमें शृङ्गारिक नग्नता पर किसी प्रकार के आवरण डालने का प्रयत्न नही किया गया है। फ्राइड के सैक्सवाद से प्रगतिवाद की और दुर्गति हो गयी है। 'मंगलामोहन' की निम्न कविता में सैक्स चेतना देखिए—

'उन धान के कटे हुए खेतों के उस पार,
भैंस के पीछे एक काली-सी किसान कन्या।
नाटे से बरगद की घनी उस छाँह में
पास में मोटा सा लट्ठ लिये एक युवक
भैंस की पीठ पर कुहनी टिकाए हुए
देखते-ही देखते चिकोटी काटी उसने
छातियाँ मसल दीं और............।

यही नहीं छायावाद में तो प्रेम की अभिव्यक्ति सांकेतिक तथा सूक्ष्म थी किन्तु प्रगतिवाद में तो शृङ्गार का नग्न रूप दिखाई देता है। नरेन्द्र शर्मा की एक कविता देखिए—

'प्रिय अभी मधुराधर चुम्बन, गात-गात गूँथे आलिंगन।
सूने अभी अभिलाषी अन्तर, मृदुल उरोजों का मृदु कम्पन।'

इस प्रकार ही प्रगतिवाद के विषय में पन्त जी के विचार भी इस साहित्य की अश्लीलता एवं वीभत्सता की ओर संकेत करते हैं—"नवीन लोक-मानवता की गम्भीर सशक्त चेतना के जागरण-गान के स्थान पर उसमें नंगे भूखे श्रमिक कृषकों के अस्थि पंजरों के प्रति मध्यवर्गीय आत्मकुंठित बुद्धि वादियों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का हुंकार भरा क्रन्दन सुनाई पड़ने लगा।......अपने

निम्न-स्तर पर प्रगतिवाद में सुरुचि-संस्कारिता का स्थान विकृत कुत्सित भदेस ने ले लिया ।"

आलोचकों का द्वितीय आक्षेप यह है कि प्रगतिवाद प्रत्येक बात में रूस का अनुकरण करता है। इसीलिए ऐसे साहित्य में मौलिकता का नितान्त अभाव है। वस्तुतः किसी भी विदेशी विचार-धारा का इतना स्वागत अन्धानुकरण ही कहा जायगा। इसके अतिरिक्त अपने देश की प्रत्येक बात में रूस की साम्यवादी भावना की छाया देखना स्वदेशी भावना के प्रतिकूल है। प्रगतिवादी आलोचक अमृतराय द्वारा अपने सुपिता, सरस्वती के वरद पुत्र, प्रेमचन्द पर लिखित आलोचना देखिए:—

'प्रेमचन्द की प्रगतिशीलता ही उनकी अजरता-अमरता का रहस्य है। उनकी पंक्ति-पंक्ति मे पराधीन दुखी, शोषित भारत के प्राण बोलते हैं। आज हमें फिर एक प्रेमचन्द की आवश्यकता है। आज जब कि कुछ न्यस्त स्वार्थ वाले लोग सोवियत रूस के विरोध में भाँति-भाँति की झूठी बातों का प्रचार कर रहे है, हमें प्रेमचन्द की स्वस्थ्य सोवियत भक्ति के अचल ध्रुवतारे की आवश्यकता थी।"

तृतीय आक्षेप यह है कि प्रगतिवादी साहित्य मुख्यतः प्रचारवादी है। इसलिए उसमें कला के निर्मल रूप का अभाव है। कारण स्पष्ट है। मुक्त छन्दों के प्रयोग से कविता में प्रवाह नही आ सकता है। प्रचारवादी साहित्य में व्यावहारिक शब्दों को महत्त्व दिया जाता है। अतः ऐसे साहित्य में उस कोमल, व्यञ्जनात्मक शब्दावली के दर्शन नही हो पाते जो हृदय को अनियन्त्रित भाव से मुग्ध कर अलौकिक आनन्द की प्राप्ति करा सके। यह सत्य है कि प्रचार के दृष्टिकोण से लिखे गये साहित्य में प्रभावोत्पादक शैली के दर्शन होते हैं किन्तु यह गुण गद्य का है पद्य का नहीं। पद्य के लिए कोमल कान्त पदावली की आवश्यकता है जिसका प्रगतिवादी साहित्य में पूर्ण अभाव है। कवि का कर्म, एक राजनीतिज्ञ के कर्म से भिन्न होता है। कवि, हृदय से भावुक एवं भोला होता है। वह समाज के केवल सुन्दर और आकर्षक रूप को ग्रहण करता है। इसके विपरीत राजनीतिज्ञ का हृदय छल, कपट आदि से पूर्ण होता है। उसकी दृष्टि में अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिए अनुचित कार्य भी उचित है। इस प्रकार कवि

और राजनीतिज्ञ दोनों के कार्य भिन्न है। राजनीति एक विशेष युग की विशेष विचार-धारा है। कविता युग की सीमाओं का अतिक्रमण कर आगे चलती है। उसका सत्य शाश्वत सत्य होता है। काव्य में जो आज सत्य है, वह कल भी सत्य के रूप में दिखाई देगा। राजनीति का सत्य गिरगिट की भाँति अपने रंग को बदलता रहता है। ऐसी अवस्था में काव्य और राजनीति का समन्वय नितान्त असम्भव है। इसके विपरीत प्रगतिवादी कवि राजनीति का आधार लेकर आगे बढ़ता है। वह राजनीतिज्ञ पहले है और कवि पीछे। इसीलिए प्रगतिवादी साहित्य में काव्य की आत्मा, साधारणीकरण का, पूर्ण अभाव रहता है।

प्रगतिवादियों के विरुद्ध चतुर्थ आक्षेप यह है कि उनके मूल्यांकन की दृष्टि संकुचित, भ्रामक तथा एकांगी है। वह केवल भौतिक जीवन को सर्वस्व समझ कर अर्थ को प्रमुखता देते हैं। यही नही, आगे चलकर वह परोक्ष सत्ता में भी अविश्वास करने लगते हैं। फलतः मानव की सासारिक क्षुधा शान्त नहीं होती है। वास्तविकता बढ़ती जाती है। मानव-हृदय से सात्विक भावों का विनाश होता जाता है। प्रगतिवादी कवि मानव-जीवन को पदार्थ द्वारा निर्मित समझकर केवल रोटी का राग अधिक अलापता है। उसका दृष्टिकोण केवल आवश्यकता की पूर्ति रहता है, आनन्द की प्राप्ति नही। साहित्य का उद्देश्य भी अलौकिक आनन्द की प्राप्ति है। प्रगतिवादी कवि साहित्य के इस चिरन्तन उद्देश्य का पालन नहीं करता है। वह यह स्वीकार नहीं करता है कि आनन्द प्राप्ति के अतिरिक्त साहित्य का और कोई माप-दण्ड नही है। इस प्रगतिवादी दृष्टिकोण का प्रभाव उसकी आलोचना शैली पर भी पड़ता है। यही कारण है कि प्रगतिवादी आलोचना भी अति संकुचित एवं साम्प्रदायिक होती है। प्रगतिवादी आलोचक केवल अपने सम्प्रदाय के कवियों की प्रशंसा करना जानते हैं। शेष समस्त कवि एवं साहित्यकार उनकी दृष्टि में पूँजीवाद एवं सामन्तवाद के पोषक दिखाई देते हैं। उनकी साम्प्रदायिक भावना इतना उग्ररूप धारण कर लेती है कि वह सूर, तुलसी जैसे महान कलाकारों को भी रूसी दृष्टिकोण से परखने लगते है। प्रगतिवादियों का यह दृष्टिकोण उनको साहित्य-साधना से गिरा देता है।

उपर्युक्त आक्षेपों के अतिरिक्त भी प्रगतिवादियों पर अनेक आक्षेप लगाये जाते है। कतिपय आलोचकों का कथन है कि प्रगतिवादी कवियों में शोषित वर्ग

के लिए केवल मौखिक सहानुभूति है। इसलिए उनकी रचनाओं में कृत्रिमता एवं आडम्बर अधिक है। अन्य का मत है कि प्रगतिवादी साहित्य केवल असत् का चित्रण करता है, शान्ति की अपेक्षा संघर्ष मे उसका अधिक विश्वास है। इसीलिए उसमें सृजन की साधना का अभाव है। वह सामाजिक उत्थान के लिए किसी आदर्श को भी उपस्थित नही करता है।

इन आक्षेपों में वस्तुतः कुछ ठीक भी है और अन्य द्वेष के कारण प्रगतिवाद पर लादे गये है। डाक्टर रामविलास शर्मा का कथन है कि "मार्क्सवाद पर जो एकांगी होने का दोष लगाया गया है, वह वस्तुगत सत्य नहीं है। मार्क्सवाद हमें संसार की घटनाओं को उनकी परस्पर सम्बद्धता मे देखने के लिए कहता है। वह सामाजिक विकास के नियमों से हमें परिचित कराता है और उनके प्रकाश में हमारी गतिविधि को पहचानने में हमारी सहायता करता है। साहित्य को वह एक सामाजिक क्रिया के रूप में देखता है, उसे कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की पूँजी नहीं मानता। वह यह नही कहता कि साहित्य से आनन्द नहीं मिलता या छन्द, वर्ण, गति, लय का सौन्दर्य साहित्य के लिए कलंक है। लेकिन वह यह मानता है कि जो साहित्य युग की सजीव 'अनुभूति' और प्रगतिशील विचारों को व्यक्त नही करता, वह निर्जीव हो जाता है।" बाबू गुलाबराय जी भी प्रगतिवाद की उपयोगिता को स्वीकार करते है। उनका कथन है कि—"प्रगतिवाद हमको स्वार्थ परायण व्यक्तिवाद से हटाकर समष्टिवाद की ओर ले गया है। उसने लेखकों को शैया-सेवी अकर्मण्य नहीं रक्खा है।" इलाचन्द्र जोशी जी का कथन है कि—"छायावादी युग ने कवियों को अन्तर्लोक की गहनता में डुबाकर एकान्त आत्म-चिन्तन में मग्न कर दिया था और सामूहिक जीवन की विराट वास्तविकता से साहित्य संसार को विमुख कर दिया था। प्रगतिवाद ने वाह्यजगत के जीवन संघर्ष की ओर हमारी चेतना को उन्मुख कर साहित्य का बहुत बड़ा उपकार किया है। यह बात हमें किसी भी हालत में नहीं भुलानी होगी।" पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी जी अन्त में अपना यही निर्णय देते हैं कि—"साहित्य के सामाजिक दृश्यों और उद्देश्यों का विज्ञापन करने वाली यह पद्धति साहित्य का बहुत कुछ उपकार भी कर सकी है। उसने हमारे युवकों को नई तेजस्विता भी प्रदान की है और एक नया आत्मवल भी मिला है।......उसने दो वस्तुएँ मुख्य

रूप से दी है। प्रथम यह कि काव्य साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता से है और वही साहित्य मूल्यवान है जो उस वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है; द्वितीय यह कि जो साहित्यिक सामाजिक वास्तविकता से जितना ही दूर होगा, वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जाएगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य के सौष्ठव-सम्बन्धी एक नई माप और एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमें दिया है जिसका उचित प्रयोग हम करें।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रगतिवाद निश्चय ही एक निराली विचारधारा है। इसने केवल भौतिक मूल्यों को ही गौरव प्रदान नहीं किया है वरन् हमारे हिन्दी साहित्य को भी प्राणवन्त किया है।

प्रकृतिवाद

मनु की सन्तान होने के कारण, 'मानव' शब्द का निर्माण 'मन्' धातु से हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है, सोचना, विचारना, मनन करना आदि। कविता का कार्य ही सोचना तथा भिन्न-भिन्न भावनाओं का चित्रण करना है। इसलिए कविता और मानव-जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य की कमनीय कल्पनाएँ ही ध्वनि अथवा शब्दों का अवलम्बन ले कविता का रूप धारण कर लेती हैं। अतः कविता मानव-जीवन की मधुर अभिव्यञ्जना है । मनुष्य प्रकृति से भिन्न प्राणी नही है। प्रकृति का अर्थ है स्वाभाविक । जिसकी रचना में प्रकृति ही निमित्त एवं उपादन हो, वही प्रकृति है। इस दृष्टि से मनुष्य स्वयं प्रकृति है। अतः कविता को मानव-जीवन की व्यञ्जना न कहकर, यदि प्रकृति की मधुर व्यञ्जना कहा जाए, तो अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार कविता प्रकृति का प्रतिविम्बित रूप है।

मनुष्य प्रकृति की गोद में पला है। सृष्टि के आदि काल से प्रकृति उसकी चिरसंगिनी है। वैज्ञानिकों के विकासवाद का सिद्धान्त तथा आस्तिकों की अनुपम धारणा इस विषय में एकमत है कि मानव को सर्व प्रथम प्रकृति का साहचर्य एवं सहयोग ही प्राप्त हुआ। प्रकृति के विशाल क्रोड़ मे ही मनुष्य ने जन्म धारण किया। उसके साहचर्य द्वारा ही उसके विवेक का विकास हुआ। संक्षेप में मानव की स्वाभाविक वृत्तियों का समाधान ही प्रकृति के द्वारा हुआ। वृक्षों के फलदान से उसकी क्षुधा शान्त हुई, तो निर्भरों के शीतल जल से पिपासा। फलतः प्रकृति और मानव का अनादि एवं अनन्त साहचर्य है।

यदि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' अर्थात् रस से भरा हुआ वाक्य कविता है, तो कविता का मूलाधार प्रकृति ही है। क्योंकि इसका निमित्त स्थायी भाव तथा स्थायी भावों का निमित्त प्रकृति ही हैं। मानव के विकासीय वैज्ञानिक विश्लेषणों से यह बात स्पष्ट है कि प्रकृति ही मानवीय भावोदय का मूल स्रोत है। अतः प्रकृति, कविता की प्रेरक शक्ति है। अगाध, अपार एवं असीमित जलराशि,

असंख्य नक्षत्र, अद्भुत सूर्य, चन्द्र, तथा अनुपम वसुन्धरा को देखकर मानव-हृदय में आश्चर्य के भाव अंकुरित हुए। तदनन्तर प्रकृति ने अपना कौतूहल पूर्ण रूप परिवर्तित किया। अगाध महासागर की फेनिल लहरों के गम्भीर निनाद ने मानव श्रुति-पुटों को विदीर्ण कर दिया। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रों से सुशोभित होने वाले नीलाकाश ने भीमकाय श्याम मेघों से आच्छादित होकर मानव हृदय को आंतकित एवं कम्पित कर दिया। मानव हृदय में प्रकृति के इस विकराल रूप को देखकर भय के भाव उत्पन्न हुए। तदनन्तर प्रकृति ने अपने रूप को फिर बदला। उस समय मानव ने प्रकृति की भव्यतम झाँकी की। प्राची में छिटकती ऊषा सुन्दरी के रूप को देखकर वह मुग्ध हो गया। वृक्षों और वल्लरियों का स्पर्श कर, प्रवाहित होती हुई शीतल मन्द सुगन्धित वायु-क्रीड़ा का अनुभव कर वह हर्षित हुआ। प्रेम (रति) के भाव मानव-हृदय में प्रकृति के रम्य रूप को देखकर ही उत्पन्न हुए। इसी प्रकार अन्य भावों के अंकुर भी मानव-हृदय में प्रकृति के साहचर्य एवं सहयोग से जमे। अतः प्रकृति की छाया का अपर नाम ही कविता है। इस दृष्टिकोण से सारी कविताएँ प्रकृतिवाद की संज्ञा धारण कर सकती हैं। वस्तुतः प्रकृति मानव के क्रीड़ा-कलाप की सचित्र रंगस्थली है। प्रारम्भ में प्रकृति हमारे अधिक निकट थी। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया, हम प्रकृति से दूर तर होते गये। फिर भी प्रकृति में एक अक्षय, अनुपम, अजर एवं अमर आकर्षण है। वह निर्जीव होते हुए भी सजीव है। यद्यपि प्रकृति में मनुष्य की भाँति भावों के प्रति स्पन्दन का अभाव है, फिर भी वह दिव्य, अदिव्य, आकर्षक, भयानक प्रभाव से मानव-हृदय में प्रतिविम्बित भावनाएँ अंकुरित करती है। सिनेमा के चल चित्रों की भाँति, प्रकृति के चित्र भी हमारे विचारों, भावों में एक प्रकार की तीव्रता उत्पन्न करते हैं। चन्द्रिका-चर्चित यामिनी में प्रकृति के सौन्दर्य का अवलोकन कर मानव-हृदय का मुग्ध हो जाना स्वाभाविक है। भावों की विभावरी में मेघाच्छादित आकाश तथा तिमिरा-वरण डाले वसुन्धरा प्रत्येक मानव हृदय में भय, आशंका तथा कम्पन का संचार करती है। अतः मानव जीवन का प्रकृति से अटूट सम्बन्ध है। यही कारण है कि सभी साहित्यों में प्रकृति काव्य के सफल चित्र देखने को मिलते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का कथन कि 'कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि

के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है', अक्षरशः सत्य है। कविता का लक्ष्य ही प्रकृति के अनेक रूपों के साथ मनुष्य के हृदय में सामंजस्य स्थापित करना है। काव्य के दो क्षेत्र है—मानव जीवन और प्रकृति चित्रण। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानव जीवन और प्रकृति पूर्ण रूप से सम्बन्धित हैं।

साधारणतया प्रकृतिवाद का क्षेत्र प्रकृति की भाँति अति व्यापक है। किन्तु आज के साहित्य-जगत में प्रकृतिवादी साहित्य का अर्थ ऐसे साहित्य के अर्थ में ग्रहण किया जाता है जिसमें प्राकृतिक उपादानों जैसे—शैल, सरिता, सागर, ऋतु, वन, प्रातः, ऊषा, जलद, चन्द्र, सूर्य आदि का चित्रण हो। अतः हमें केवल इस दृष्टिकोण से ही भारतीय साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालनी है।

भारतीय साहित्य प्रकृति की गोद में ही पोषित हुआ है। हमारे वेद इस बात के साक्षी है। वेदों मे इन्द्र, सूर्य, वरुण, वायु, पृथ्वी आदि की उपासना, प्रकृति के मङ्गलमय कृत्यों के उपलक्ष में मानव हृदय का कृतज्ञता पूर्ण प्रकाशन हैं। मानव ने प्रकृति के माङ्गलिक एवं शिव स्वरूप का अभिवादन किया। इन्द्र की महती शक्ति के प्रति उसका अभिवादन देखिए—

यः सुन्वते पचेत दुध्र आ चि—
द्वाजं दर्दर्षि स किला सि सत्यः।
वयं ते इन्द्र विश्वह प्रियासः
सु वीरासो विदयमा वदेम॥

ऋग्वेद सू० १२ मं० २

अर्थात् हे शक्तिशाली देवता तुम अपने उपासक को अमूल्य भेंट प्रदान करते हो, तुम वास्तव में सत्य स्वरूप हो, हे इन्द्र! ऐसा वर दो कि हम सर्वदा अपने बालकों सहित तुम्हारे प्रिय रहें और तुम्हारा गुणगान करते रहें।

इसी प्रकार प्रकृति के अन्य देव-रूपों की उपासना देखिए—

अद्या देवा अदिता सूर्यस्य
निरंहसः पिपृता निरवद्यात् ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्ता
मदितिः सिन्धुः पृथिवी उतद्यौः

—ऋग्वेद

अर्थात् हे मित्र, वरुण, अदिति, सिंधु, पृथिवी, आकाश आदि देवगण आज सूर्योदय के समय ऐसा वर दो कि हम समस्त कष्टों और पापों से मुक्त हो जाएँ।

इस प्रकार मानव मस्तिष्क में सर्वप्रथम प्रकृति के प्रति उपासना-भाव का आविर्भाव हुआ। तदनन्तर आरण्यक और उपनिषद् काल में प्रकृति के केवल वाह्य विवरण को प्रधानता दी गई। सूत्रकाल में प्रकृति वर्णन का पूर्ण अभाव रहा। महाकाव्य काल में प्रकृति के विभिन्न रूप मानव के अन्तरंग मित्र बन गये और प्रकृति सुन्दरतम रूप में उपस्थित होकर मानवीय कल्पनाओं की क्रीड़ाभूमि बन गयी। पशु, पक्षी, शैल, सरिता, सरोवर, वृक्ष, लता आदि सभी में मानव का तादात्म्य स्थापित हो गया। रामायण और महाभारत में प्रकृति चित्रण के अनेक सुन्दर दृश्य हैं। वाल्मीकि-रामायण में सीतावियोग में भगवान राम प्रकृति में अपनी अनुभूतियों का प्रत्यक्षीकरण करते है।

जल प्रपातास्र मुखाः शृंगरूच्छ्रित वाहवः।
सीतायां ह्रियमाणायां विक्रोशन्तीव पर्वताः ।।

—वाल्मीकि-रामायण, अरण्य काण्ड, सर्ग ५२, श्लोक ३८

अर्थात् सीताहरण से दुखी पर्वत-श्रेणियाँ अपने शिखर-रूपी भुजाओं को उठा झरनों के बहाने अश्रु बहा मानो रो रही हैं।

इस प्रकार प्रकृति ने मानव सुख-दुख में सहयोगिनी का रूप धारण कर

लिया। इसके अतिरिक्त प्रकृति मानव अनुभूतियों के उद्दीपन का साधन बन गयी। संयोग में यदि प्रकृति के उपादान प्रेम वर्द्धक सिद्ध हुए, तो वियोग में दुःख को तीव्रतर करने का कारण बन गये। सीता-वियोग में भगवान राम के मुखारविन्द से निकले शब्द इसी प्रकार की अनुभूति के द्योतक हैं—

श्यामां चन्द्रमुखीं स्मृत्वा प्रियापद्मनिभेक्षणाम ।
पश्य सानुषु चित्रेषु मृगीभिः सहितान्मृगान् ।।
यां पुनर्मृगशावाक्ष्या वैदेह्या विरहीकृताम् ।
व्यथयन्तीव मे चित्तं सचरन्तस्तत स्ततः ।।

—वाल्मीकि रामायण, किंकिधा काण्ड, प्रथम सर्ग, श्लोक १०३

'देखो इन विचित्र शिखरों पर हिरण हिरणियों के साथ बिहार कर रहे है। ये मुझे श्यामा चन्द्रमुखी और कमलनयनी प्रिय सीता की याद दिलाते हैं और मृग-शावक नयनी वैदेही के विरह में मुझको दुखी करते हैं। इधर-उधर घूमते हुए मृग गण मुझे व्यथित कर रहे हैं।

महाकाव्य काल में संस्कृत-साहित्य में प्रकृति के अत्यन्त मनोरम दृश्य देखने को मिलते हैं। लक्ष्मण जी पंचवटी की अलौकिक शोभा का कैसा अवलोकन कर रहे हैं—

अवश्यायनिपातेन किंचित्प्रक्लिन्न शाद्वाला ।
बनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा ।।
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
अत्यंतृषितो वन्थः प्रति संहरते करम् ।।
अवश्याय तमोनद्धा नीहारतमसावृताः ।
प्रसुप्ताइव लक्ष्यंते विपुष्पा बनराज्यः ।।
वाष्पसंछन्न सलिला रुत विज्ञेय सारसाः ।
हिमद्रिबालुकैस्तीरैः सरितो भाँति साम्प्रतम् ।।
जर्जराजरितैः पद्मानैः शीर्ण केशरकर्णिकैः ।
नालशेषैहिमध्वस्तैर्न भाँति कमलाकराः ।।

(वाल्मीकि रामायण, अरण्य काण्ड, सर्ग १६)

"वन की भूमि जिसकी हरीहरी घास पाला गिरने से कुछ-कुछ गीली हो गयी

है, नई धूप पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यन्त प्यासा जंगली हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूँड़ सिकोडता है। बिना फूल के वन-समूह पाले के अन्धकार में सोये से जान पडने हैं। नदियाँ जिनका जल कुहरे से ढका हुआ है, और जिनकी बालू कुहरे से तर है, केवल तहों से जान पड़ती हैं। कुहरे के अन्धकार के कारण सारस पक्षी भी केवल बोली से ही पहचाने जाते हैं। कमल जिनके पत्ते जीर्ण होकर झर गये हैं, जिनकी केशर और कर्णिका टूट-टूट कर छितरा गई है, पाले से ध्वस्त होकर तालमात्र (शोभाहीन) खड़े हैं।"

तदनन्तर बौद्धकालीन साहित्य में भी प्रकृति को समुचित स्थान प्राप्त हुआ। बुद्ध-जातकों में भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओं की पृष्ठभूमि शुद्ध प्रकृति ही है। 'मारविजय' में भगवान बुद्ध द्वारा कामदेव को पराजित करने के वर्णन में प्रकृति-चित्रण अत्यन्त ही आकर्षक है।

गुप्तकाल में प्रकृति वर्णन की एक अनुपम झाँकी होती है। कालिदास को तो प्रकृति चित्रण में पूर्ण रूप से सफलता मिली है। ऐसा शुद्ध-प्रकृतिवर्णन विश्व साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। कुमार संभव का प्रथम सर्ग, रघुवंश में भगवान राम के लंका आगमन के समय समुद्र वर्णन तथा सम्पूर्ण मेघदूत में प्रकृति का, सरस, सुन्दर हृदयस्पर्शी रूप देखने को मिलता है। कुमार सम्भव का शुद्ध प्रकृति वर्णन देखिए—

आमेखलं संचरतां घनानां छायामधः सानुगतांनिषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः

—कुमारसम्भव, प्रथम सर्ग, श्लोक ५।

अर्थात् सिद्ध जन जब वर्षा नहीं होती है और धूप पीड़ा देती है तब हिमालय के नीचे के भागों के पर्वत शिखरों पर आश्रय लेते है, क्योंकि इससे हिमालय के मध्यदेश में छाये हुए मेघों की छाया के कारण उन्हें धूप का कष्ट नहीं होता, परन्तु जब वर्षा कष्ट देने लगती है, तब वे ऊँचे शिखरों पर चले जाते हैं और मध्यदेश से जलवृष्टि करने वाले मेघों को ऊपर से देखते रहते हैं।

गुप्तकाल में महाकाव्यों का निर्माण होने लगा था। अतः काव्यकला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी थी। पशु, पक्षी, प्रातः, ऊषा, सरिता, सरोवर, वन, पर्वत आदि का वर्णन महाकाव्य की रचना के लिए अनिवार्य हो गया है।

अतः संस्कृत-साहित्य के महाकाव्य प्रकृति-चित्रण से पूर्ण हैं। 'किरातार्जुनीयम्', 'शिशुपाल-वध,' 'नैषधीय-चरित' मे प्रकृति-वर्णन की छटा अवलोकनीय है :—

'यदम्बुपूर प्रतिविम्बितायतिर्मरुत्तरंगैस्तरलरतट द्रुम : ।
निमज्ज्य मेनाकमहीभृत : सतस्ततान् पक्षान्धुवत : सपक्षताम् ।।

—नैषधीय चरित, प्रथम सर्ग, श्लोक ११६

अर्थात् उस तालाब के जल-प्रवाह में प्रतिविम्बित तथा वायु तरंगों से चंचल वह तटस्थ वृक्ष, पंखों को डुलाते हुए जल-स्थित मैनाक पर्वत की समानता कर रहा था।

बाणभट्ट रचित कादम्बरी तो प्रकृति-चित्रण का अद्वितीय ग्रन्थ है। विश्व साहित्य में श्लिष्ट प्रकृति चित्रण की दृष्टि से यह ग्रन्थ सर्वोपरि स्थान रखता है।

'दुर्योधन इवोपलक्षितशकुनिपक्षपातः नलिननाभ इव वनमालोपगूढ़ : नवजलधरव्यूह इव नभसि दर्शितोन्नति :, अखिलभुवनतलावलोकनप्रासाद इव बनदेवतानाम्, अधिपतिरिव दंडकारण्यस्य, नायक इव सर्व बनस्पतीनाम् सखैव विन्ध्यस्य शाखावाहुभिरुपगुह्यैव विन्ध्याटवीं स्थितो महान्जीर्णाः शाल्मली।'

—कादम्बरी

[दुर्योधन के समान शकुनि पक्षपात से उपलक्षित होता था। भगवान् कमल-नाभ के समान बनमाला से आवृत था, नवीन मेघव्यूह के समान आकाश में उन्नत प्रतीत होता था, सारे भुवनों का अवलोकन करने के लिए वन-देवताओं का राज-महल था, दण्डकारण्य के स्वामी के समान था, सब वनस्पतियों के नायक के समान, विन्ध्याटवी को अपनी शाखावाहु से आलिंगन करता हुआ-सा वह अत्यन्त जीर्ण शाल्मली-वृक्ष स्थित था।]

'दशकुमार चरित' और 'नल चंपू' में भी इसी प्रकार का श्लिष्ट प्रकृति वर्णन देखने को मिलता है।

प्रकृति-चित्रण की इस परम्परा का हिन्दी साहित्य में निर्वाह न हो सका। इसका एकमात्र कारण हिन्दी में महाकाव्यों का अभाव ही कहा जाएगा। यद्यपि हिन्दी साहित्य का उदय एकादश शताब्दि में पूर्ण रूप से हो चुका था और तदनन्तर उसकी गति सतत रूप से चलती रही। आधुनिक काल के आरम्भ

काल, संवत् १६०० विक्रमी पर्यन्त अनेक साहित्य-महारथियों ने जन्म लिया किन्तु उनमें से केवल चार-पाँच ही हिन्दी-साहित्य को महाकाव्य प्रदान कर सके। चन्द्र कृत 'पृथ्वीराज रासो' तथा महाकवि केशव कृत 'राम चन्द्रिका' में प्रकृति-चित्रण में संस्कृत-महाकाव्यों की पद्धति का ही अनुसरण किया गया। जायसी ने 'पद्मावत' में प्रकृति का मानव-जीवन से तादात्म्य स्थापित कर प्रकृति-वर्णन की पद्धति को एक नूतनता प्रदान की। महाकवि संत तुलसीदास ने प्रकृति वर्णन की शैली को अति ऊंचा उठा दिया। तुलसी जैसे, सफल, अलौकिक एवं अमर प्रकृति-चित्रकार से आज भी हिन्दी भाषा का ललाट गौरवान्वित है। उन्होंने प्रकृति के साथ मानवता-कल्याण हेतु उपदेश भावना सम्बन्धित कर अपनी काव्य प्रतिभा का भूरि-भूरि परिचय दिया है—

'बरषहिं जलद भूमि नियराये। जथा नवहिं बुध विद्या पाये।
छुद्र नदी, भरि चलि उतराई। जिमि थोरेउ धन खल बौराई।।
हरित भूमि तृन संकुलित, समुझि परहि नहिं पंथ।
जिमि पाखंड विवाद तें, लुप्त होंहि सद् ग्रन्थ।।'

—रामचरित मानस, वर्षा वर्णन

इसके पश्चात् प्रकृति को काव्य में स्थान दिया गया किन्तु प्रकृति पर अन्योक्ति प्रधान रचनाएं होने लगी। अन्योक्तियों के द्वारा सदाचार, चरित्र तथा अध्यात्म सम्बन्धी उपदेश दिये जाने लगे। दीनदयाल गिरि ऐसे साहित्य के प्रमुख कलाकार गिने जाएंगे।

'दिन द्वै पाय वसन्त मद, फूल्यो कहा पलास।
ग्रीषम भीषण सीस पै, नहिं लाली की आस।।
नहिं लाली की आस, फूल सब तेरे झरिहै।
पीछे तोहि न दली, अली कोउ आदर करिहैं।।
वरनै दीनदयाल, रहौ नभ कोमल किन ह्वै।
ये नख नाहर रूप रहैंगे तेरे दिन द्वै।।'

हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल में महाकाव्यों के अतिरिक्त भी प्रकृति चित्रण कहीं-कहीं अत्यन्त ही मनोरम दिखाई देता है। हिंडोला गीतों में उसकी अनुपम छटा अवलोकनीय है। इनमें बारहमासी वर्णन तो अत्यन्त ही सरस तथा

हृदय स्पर्शी बन पड़े हैं। अन्य कवियों ने अधिकतर प्रकृति की वस्तुओं को अलंकारो के उपमानो के रूप में ग्रहण किया है। कही पर किसी कवि ने नायिका के मुख को कमल के समान बताया है तो कही पर चन्द्रमा के समान। इसी प्रकार नेत्रों के उपमान कमल, मछली, खंजन आदि ठहराये हैं। नख-शिख वर्णन में शरीर के सभी अवयवों के लिए प्रकृति की वस्तुओं से उपमान चुन लेने की प्राचीन कवियों की परिपाटी रही है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का अलौकिक प्रदर्शन प्रकृति की वस्तुओं को उपमान रूप में ग्रहण करके ही हुआ है।

रीतिकाल में प्रकृति का उपयोग भावोद्दीपन के लिए किया गया। इस काल के कवियों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि प्रकृति का प्रयोग आलम्बन तथा कल्पना के लिए भी किया जा सकता है। संस्कृत साहित्य में भी यद्यपि प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन के रूप में मिलता है किन्तु इसके साथ-साथ प्रकृति के अन्य रूपों को भी समुचित स्थान दिया गया। रीतिकाल मे केवल प्रकृति का उद्दीपन रूप ही ग्रहण किया गया।

आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य पर पश्चिमी साहित्य का पूर्ण प्रभाव पड़ा। फलतः हिन्दी कवियों ने प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित करना प्रारम्भ कर दिया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र इस दृष्टिकोण से हिन्दी के सर्व प्रथम कवि हैं। श्रीधर पाठक का 'काश्मीर वर्णन' और 'हिमालय वर्णन' भी प्रकृति के आलम्बन रूप को ग्रहण कर लिखे गये हैं। तदनन्तर पण्डित आयोध्यासिंह उपाध्याय तथा डाक्टर मैथिलीशरण गुप्त प्रकृति के चित्रात्मक रूप को अंकित करने में पूर्ण सफल हुए हैं। गोपालशरणसिंह ने प्रकृति के आलम्बन रूप का आनन्दवाद के साथ अत्यन्त ही सरस एवं मधुर मिश्रण किया है। आधुनिक युग के सर्व श्रेष्ठ ब्रज-भाषा-कवि जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने प्रकृति चित्रण अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक रूप में अंकित किया है। मानव स्वभाव से ही अपनी अनुभूतियों के अनुकूल वाह्य जगत को देखता चला आया है। यही कारण है कि कही पर किसी को प्रकृति प्रेयसि के रूप में, तो कही परमात्मा के रूप में मिलन का आमन्त्रण देती है। प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवी वर्मा ने इसीलिए प्रकृति को अपने-अपने निजी दृष्टिकोण से देखा है।

हिन्दी का आधुनिक साहित्य पाश्चात्य साहित्य से पूर्णरूपेण प्रभावित है। अतएव यह आवश्यक है कि प्रकृति के यूरोपीय दृष्टिकोण पर भी संक्षिप्त प्रकाश डाला जाए। किसी देश अथवा भाषा के साहित्य का प्रकृति-वर्णन उस देश अथवा भाषा की' भौगोलिक विशेपताओं पर निर्भर है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी साहित्य पर 'समुद्र' पर रचित कविता का अक्षय भण्डार है। जिस देश में प्रकृति जितने सुन्दर रूप में उपस्थित होगी उसी के अनुकूल उस देश के साहित्य का प्रकृति वर्णन सुन्दर अथवा सुन्दरतर होगा। यूरोप एवं पाश्चात्य देशों का यह दुर्भाग्य है कि वहाँ प्रकृति का अनुपम, सुन्दर एवं आकर्षक रूप अत्यन्त ही क्षणिक एवं अल्पकालीन होता है। इसके विपरीत भारत देश की प्रकृति की छटा सतत एवं अमर है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य के प्रकृति-चित्रण की मनोहरता पाश्चात्य साहित्य के प्रकृति-चित्रण से बहुत आगे है। अंग्रेजी साहित्य के प्रकृति-चित्रण का इतिहास अति संक्षिप्त है। अंग्रेजी साहित्य मे केवल रूढ़िवद्ध प्रक्रित-वर्णन की ओर ही कवियों की विशेप प्रवृत्ति रही। पुनरुत्थान काल में अवश्य ही प्रकृति का भावात्मक चित्रण हुआ किन्तु अधिक मात्रा में नही। शेक्सपियर ने प्रकृति चित्रण में किंचित नवीनता का समावेश किया। अठारहवीं शताब्दी में ग्रे, कालिन्स, कूपर तथा राबर्ट वर्न्स आदि ने प्रकृति के परिचित सौन्दर्य का चित्रण किया। वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति चित्रण का निर्मल रूप चित्रित किया। उसने भौतिकता से हटकर जीवन के यथार्थ रूप के दर्शन किये। इसीलिए उसके काव्य मे कल्लोलिनी की कल-कल ध्वनि, समीर की स्वर लहरी, पक्षियों के कलरव तथा झरनों का मधुर संगीत आदि अनियन्त्रित भाव से हृदय को मन्त्र मुग्ध कर देते हैं। कालरिज ने प्रकृति से आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त की। इसी प्रकार कीट्स और बायरन ने प्रकृति के भावात्मक रूप का हृदय स्पर्शी चित्रण किया। अँग्रेजी साहित्य के प्रकृति-चित्रण के भिन्न-भिन्न रूपों ने भारतीय साहित्य पर पूर्ण प्रभाव डाला। अठारहवी शताब्दी के द्वितीय चरण में यूरोप-निवासी भारत में पैर जमाने लगे थे। ब्रिटिश सत्ता के आने से अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम हुई। यहाँ तक कि उन्नीसवी शताब्दी में भारतवर्ष में अँग्रेजी भाषा की ही तूती बोलने लगी। हिन्दी साहित्य में नवीनता का समावेश अंग्रेजी भाषा के द्वारा ही हुआ।

आज का युग विज्ञान का युग है। पश्चिमी देशों में विज्ञान उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच चुका है। इस वैज्ञानिक विकास का प्रभाव सारे विश्व पर पड़ा है। यहाँ तक कि मनुष्य ने प्रकृति के प्रति अपने निजी दृष्टिकोण को भी बदल दिया है। आज वह प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाला भावुक कवि ही नहीं रहा है। आज उसकी विचार धारा परिवर्तित है। आज का मानव प्रकृति में कुछ उपयोगी तत्व खोजने में तत्पर है। इसीलिए वह प्रकृति के विश्लेषणात्मक रूप को रखने के लिए समुत्सुक है। फलतः उसने प्रकृति को मानव-हित के लिए अतिउपयोगी भी सिद्ध किया हे। इस प्रकार ज्ञानवृद्धि वैज्ञानिक युग की विशेष देन है। अनवरत चिन्तन एवं सतत श्रम द्वारा अर्जित इस ज्ञानवृद्धि के प्रभाव से कवि की विचारधारा भी प्रभावित हुई है। अतएव आज का कवि प्रकृति को एक विकसित दृष्टिकोण से देखता है। हिन्दी साहित्य के प्रकृति-चित्रण मे भी आज वह परिवर्तन पूर्णरूपेण लक्षित होता है। हिन्दी-साहित्य पर वैज्ञानिकता का प्रभाव असंदिग्ध रूप से स्वीकार करना ही पड़ेगा। संक्षेप में आधुनिक युग में हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण, भारतीय साहित्य की प्राचीन शैली, आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा पाश्चात्य साहित्य की विचारधारा का अलौकिक समिश्रण है।

प्रकृति-चित्रण के उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक कवि ने अपने काल की कतिपय विशेषताओं का निर्वाह करते हुए प्रकृति को अपने निजी दृष्टिकोण से देखा है। सूर और तुलसी यद्यपि एक ही काल के कवि थे किन्तु दोनों के प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण भिन्न हैं। सूर ने अपने आराध्य कृष्ण के सौन्दर्य-चित्रण के लिए प्रकृति का उपयोग उपमान रूप में किया। इसके विपरीत तुलसी ने प्रकृति को उपदेशक के रूप में देखा। रीति-काल के कवि सेनापति, देव, बिहारी, घनानन्द, पद्माकर, मतिराम आदि ने यद्यपि रीतिकाल काव्य परम्परा का पूर्ण पालन किया है किन्तु उन सबका प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण पृथक-पृथक है। उनकी अभिव्यक्ति में महान अन्तर है। इसी प्रकार आधुनिक काल के साहित्यकारों के प्रकृति सम्बन्धित दृष्टिकोण नितान्त भिन्न हैं। प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवी वर्मा आदि ने प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों को ही अपनाया है। प्रसाद जी ने प्रकृति पर सारे

विश्व का समर्पण किया है, तो पन्त ने प्रकृति को प्रेयसि के रूप में देखकर उसकी सौन्दर्य-सुधा का पान किया है। इसी प्रकार निराला जी ने मानवीय भावनाओं के आरोपण के लिए प्रकृति को संवाहिका शक्ति माना है। महादेवी वर्मा ने प्रकृति में अव्यक्त शक्ति के दर्शन कर उसे चिर विश्राम का साधन माना है।

आज के वैज्ञानिक ने मानसिक जगत में एक क्रान्ति कर नवीन विचारधारा को जन्म दिया है। उसकी दृष्टि में मनुष्य स्वयं प्रकृति है। उसके मतानुसार प्रकृति का स्वाभाविक गुण, स्वगुणों से मिलकर एक रूप हो जाना तथा परगुणों से मिलकर संघर्ष करना है। उदाहरणार्थ—जल-जल से मिलकर एक रूप हो जाता है क्योंकि जल, जल का स्वतत्व है। इसके विपरीत जल परतत्व (विरोधी-तत्व) अग्नि से मिलकर संघर्ष करता है और भाप की सृष्टि करता है। दो विरोधी तत्वों के सम्मिलन से विकार उत्पन्न होता है। विकार एक गति का निमित्त कारण है। उस गति का अपर नाम ही शक्ति है। भौतिक-विज्ञान-वादियों के निर्णय के अनुसार मानव सृष्टि भी, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि विरोधी तत्वों के संयोग का परिणाम है। स्वतत्व के संयोग से सुख तथा परतत्व के अनुभव से दुःख का अनुभव होता है। यही कारण है कि हमे सुमनों की सुगन्धि प्रिय लगती है, क्योंकि उनकी गन्ध हमारे पृथ्वीतत्व की तृप्ति का साधन है। दुग्ध तथा सोडावाटर की बोतल हमें इसीलिए प्रिय है कि इनसे हमारे शरीर के जलतत्व की तृप्ति होती है। मन्द-मन्द झूमते हुए वृक्ष हमें इसीलिए सुखद प्रतीत होते हैं कि वे हमारे शरीर के वायुतत्व को पोषित करते है। चन्द्र की ज्योत्स्ना, विद्युत का प्रकाश, मणि की प्रभा, हमें इसलिए ही आकर्षक प्रतीत होते है कि वे हमारे शरीर स्थित अग्नितत्व की तृप्ति करते है। इसी प्रकार संगीत की स्वरलहरी से हम मुग्ध हो, आन्तरिक शान्ति का अनुभव करते हैं क्योंकि, वह हमारे शरीर में स्थित आकाशतत्व की तृप्ति का साधन है। अतएव मानव का प्रकृति के प्रति प्रेम रखना स्वाभाविक है।

अन्य दृष्टिकोण शरीर में चेतना-तत्व को स्वीकार करता है। इस विचार से शरीर और प्रकृति में पूर्य-पूरक सम्बन्ध है। इस मत के समर्थकों का कथन है कि चेतना शक्ति शरीर के भौतिक अभावों की पूर्ति, असीमित प्रकृति में

विद्यमान तत्वों से करती रहती है। इस अभाव की पूर्ति के प्रयास में चेतना का प्रकृतितत्वों से स्वाभाविक राग हो जाता है। गायक की मधुर स्वरलहरी में आनन्द का अनुभव चेतनावादी इसीलिए स्वीकार करता है कि गायक की चेतना अपने में आकाशतत्व के गुण के अभाव का अनुभव करती है। चेतना-वादियों के आगे चलकर दो वर्ग हो जाते है—भौतिक-चेतनावादी और दार्शनिक चेतनावादी। भौतिक चेतनावादी के मतानुसार चेतना एक भौतिक शक्ति है और प्रकृति के संघर्ष का नाम ही चेतना है। दार्शनिक चेतनावादी के अनुसार आत्म-तत्व के एक विशेष गुण का नाम ही चेतना है। आगे चलकर दार्शनिक चेतनावादी भी दो वर्गो मे विभक्त हो जाते है। प्रथम वर्ग के अनुयायी शरीर की सृष्टि प्रकृति से मानते हैं। उनकी दृष्टि में शरीर-सुख ही आत्म सुख है। द्वितीय वर्ग के अनुयायी आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध में अमर आस्था रखते हैं। उनका विचार है आत्मा का प्रकृति-प्रेम, प्रकृति की उपयोगिता पर निर्भर है। आत्म-वादियों का एक वर्ग जीवात्मा और प्रकृति का अनित्य सम्बन्ध स्वीकार करता है। उनकी धारणा है कि प्रकृति का प्रयोग साध्य की पूर्णता के लिए आवश्यक हो सकता है परन्तु सदा नही। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति के विषय में मानव के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि प्रकृति भिन्न-भिन्न रूपों में अपना प्रभाव मानव-हृदय-पटल पर डालती है। कवि और दार्शनिक दोनों का दृष्टिकोण समान भी हो सकता है तथा भिन्न भी। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। कवि के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह प्रकृति-चित्रण करने से पूर्व किसी दार्शनिक की दीक्षा ग्रहण करे। कवि का तो निजी दार्शनिक दृष्टिकोण होता है। उसी दृष्टिकोण से वह प्रकृति का पर्यवेक्षण करता रहता है। एक कवि कभी भौतिक दृष्टिकोण रख सकता है तो कभी आध्या-त्मिक। अतः प्रकृति-चित्रण की आलोचना किसी दार्शनिक विचारधारा की विभाजन-प्रणाली के आधार पर नितान्त असम्भव है। केवल काव्यकारों के दृष्टिकोण से प्रकृति वर्णन को हम स्थूलरूप से निम्नलिखित वर्गों में विभा-जित कर सकते हैं :—

१—आलम्बन के रूप में।

२—उद्दीपन के रूप में।
३—अलङ्कारों के रूप में।
४—मानव भावनाओं के आरोप के रूप में।
५—नीति और उपदेश के रूप में।
६—अव्यक्त शक्ति अथवा अध्यात्म तत्व के रूप में।

आलम्बन के रूप में प्रकृति वर्णन

जब कवि प्रकृति-सौन्दर्य पर मुग्ध हो, उसका चित्रण इस प्रकार से करता है कि पाठक प्रकृति के साक्षात् दर्शन का सा आनन्द लेने लगें तो इस प्रकार का प्रकृति वर्णन आलम्बनात्मक प्रकृति वर्णन कहलाता है। ऐसे वर्णन में प्रकृति काव्य का साधन न बनकर साध्य बन जाती है। कवि सीधा प्रकृति के संसर्ग में आकर उसका प्रभावात्मक चित्र उपस्थित करता है। उसकी दृष्टि प्रकृति के सुन्दर रूप पर भी पड़ सकती है तथा असुन्दर पर भी। वह तो आदर्श (Model) को देखकर तूलिका चलाते हुए चित्रकार की भाँति प्रकृति का यथावत् चित्र अंकित करता है। वस्तुतः आलम्बन के रूप में प्रकृति वर्णन विशुद्ध प्रकृतिवर्णन कहलाता है क्योंकि इसमें प्रकृति का चित्रण केवल प्रकृति के लिए किया जाता है। ऐसे वर्णन की शैली सरल, सरस एवं सीधी होती है। इसीलिए उसका प्रभाव पाठक हृदय पर सीधा ही पड़ता है। हमारे साहित्य में आलम्बन के रूप में प्रकृतिवर्णन साधारणतया दो ही रूपों में मिलता है। एक वर्ग के कवियों ने प्रकृति के सुन्दर, आकर्षक तथा रम्य रूप को अपनाया है। ऐसे प्रकृति वर्णन ऐन्द्रिय सुख, सौन्दर्यानुभूति तथा वर्णनात्मक आदि उपरूपों में विभाजित किये जा सकते हैं। द्वितीय वर्ग के कवियों ने प्रकृति के स्वाभाविक रूप को ग्रहण किया है। उन्होंने प्रकृति का यथावत् चित्रण किया है। ऐसे कवियों की दृष्टि प्रकृति के आकर्षक रूप पर ही नहीं अपितु उग्र रूप पर भी पड़ी है। प्रथम वर्ग की भाँति द्वितीय वर्ग का प्रकृति-चित्रण भी भय उत्पादक, पलायन प्रवृत्ति उत्पादक तथा सौन्दर्यानुभूति आदि विशेषताओं के आधार पर भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित हो जाता है। हमारे संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य में दोनों प्रकार के प्रकृति-चित्रण के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

सर्वप्रथम ऐसे उदाहरण लीजिए जिनमें कवि ऐन्द्रिय सुख का अनुभव करता है। यथा :—

'नव वृन्दावन नव-नव तरुगन, नव-नव विकसित फूल।
नवल वसंत, नवल मलियानल, मातल नव अलि कूल।।'

—विद्यापति, 'वसन्त वर्णन'

तुलसीदास जी के रामचरितमानस में, नाना रंग के खिले हुए कमलों, गुञ्जार करते हुए भ्रमरों तथा नानाध्वनि करते हुए जल-कुक्कुटों तथा कलहंसों, झूमते हुए चंपक, बकुल, कदम्ब, तमालादि के वृक्षों, शीतल, मन्द, सुगन्धित वायु आदि का वर्णन ऐन्द्रिय सुख के लिए ही हुआ है। इसी प्रकार सूरदास जी ने यमुनातट, वंशीवट, करील, कुञ्ज आदि के अनेक मनोहारी दृश्य उपस्थित किये हैं जिनसे ऐन्द्रिय सुख प्राप्त होता है।

रीतिकाल के सेनापति, पद्माकर, मतिराम, देव आदि कवियों ने भी ऐन्द्रिय सुख की उपलब्धि के लिए प्रकृति चित्रण के आलम्बन रूप को ग्रहण किया है। महाकवि देव का एक छन्द देखिए—

'सुनि के धुनि चातक मोरन की,
चहुँ ओरन कोकिल कूकन सों।
अनुराग भरे हरि गावत है,
सखि रागनि राग अचूकनि सों।
कवि 'देव' घटा उनई जो नई,
बन भूमि भई दल दूकनि सों।
रंगराती हरी लहराती लता,
झुकि जाती समीर के झूकनि सों।

आधुनिक युग के कवियों ने भी प्रकृति के ऐसे मनोरम स्थलों का चित्रण किया है कि जिनसे इन्द्रिय-सुख की पूर्ण उपलब्धि होती है। कतिपय मनोरम चित्रण देखिए—

'नव नील कुंज है झूम रहे,
कुसुमों की कथा नं बन्द हुई।

है अन्तरिक्ष आमोद भरा,
हिम कणिका ही मकरंद हुई।

—प्रसाद—'कामायनी'

वह विजन चाँदनी की घाटी,
छाई मृदु बन तरु गन्ध जहाँ।
नीबू आड़ू के मुकुलों के,
मद से मलियानिल लदा जहाँ।

पन्त—'पल्लविनी'

'फूले फूल सुरभि व्याकुल अलि
गूँज रहे है चारों ओर,
× × ×
दूर गुहा में निर्झरिणी की
तान तरंगों का गुञ्जार।
स्वरमय किसलय निलय विहंगों
के बजते सुहाग के तार।'

—निराला—'अनामिका'

तदनन्तर सौन्दर्यानुभूति का भाव आता है। मानव स्वभाव से ही सौन्दर्य का उपासक है। सौन्दर्य में मानव को मुग्ध करने की ही शक्ति नहीं वरन् वशीकरण शक्ति भी है। जिस प्रकार मानव-रुचि के अनेक रूप हैं, उसी प्रकार सौन्दर्य के भी। वस्तुतः सौन्दर्य के वर्गीकरण का मूलाधार मानव-रुचि ही है। प्रकृति का एक ही रूप मानव-रुचि के नाना रूपों के कारण एक मानव हृदय में आनन्द का सृजन कर सकता है तो दूसरे मानव हृदय में करुणा का संचार कर सकता है। रीतिकाल में सबसे अधिक सरस एवं स्वाभाविक वर्णन हमें कविवर सेनापति में मिलता है। आश्विन मास का चित्रण देखिए—

'खंड-खंड सब दिग् मंडल जलद सेत,
सेनापति मानों शृङ्ग फटिक पहार के।
अंबर अडंबर सों उमड़ि घुमड़ि छिन,
छिछकें छछारे छिति अधिक उछार के।

सलिल सह्ल मानों सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किधौं पवन अधार के ।
पूरब कौं भाजत हैं रजत से राजत है,
गग-गग गाजत हैं गगन घन क्वार के ।।'
सेनापति—'कवित्त रत्नाकर'

वर्षा के अनन्तर आश्विन मास में जल रहित मेघ श्वेत रंग के होते है । वे स्फटिक मरिण के पर्वत से दिखाई देते है । रजत खंड के समान ये मेघ गर्जन करते और हलके होने के कारण वायु-प्रवाह से इधर-उधर उड़ जाते हैं । प्रकृति निरीक्षण का कैसा स्वाभाविक चित्रण है ।

बिहारी भी रीतिकालीन अनुपम प्रकृति चित्रकार कहे जायेंगे। उनका प्रकृति वर्णन अति उच्च कोटि का है । वसन्त ऋतु के रम्य रूप पर मुग्ध हुए कवि हृदय की अनूठी कल्पना देखिए—

'छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध ।
ठौर-ठौर झूमत, झपत, भौंर झौर मधु अंध ।'

आम्र की मञ्जरी की सुगन्धि से छककर, माधवी की मीठी सुगन्धि से मस्त होकर मतवाले भ्रमर स्थान-स्थान पर झूमते हैं ।

राय देवीप्रसाद जी 'पूर्ण' का एक मनोरम, सरस एवं स्वाभाविक प्रकृति खण्ड चित्र देखिए—

चारु हिमाचल आँचल में एक शाल विशालन को बन है ।
लिपटे हैं लता द्रुम गान में लीन प्रवीन विहंगन को गन है ।
मृदु मर्मर शील झरैं जल-स्रोत हैं पर्वत ओट है निर्जन है ।
भटक्यों तहँ रावरो भूल्यो फिरै मृदु बावरो सो अलि को मन है ।

आधुनिक युग में कवियों ने प्रकृति के प्रति अपनी सौन्दर्यानुभूति का पूर्ण परिचय दिया है । प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवी वर्मा इनमें प्रमुख कलाकार हैं । महादेवी वर्मा की एक सुन्दर कविता देखिए—

'हँस देती जब प्रात, सुनहरे
अंचल में बिखरा रोली,

लहरों की विछलन पर जब,
मचलीं पड़तीं किरणें भोली।
तब कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघट सुकुमार।
छलकी पलकों से कहती हैं 'कितना मादक है संसार'।

सुमित्रानन्दन पन्त जी का एक मनोरम प्रकृति-चित्रण देखिए :—

'छिपा रही थी मुख शशिवाला निशि के श्रम से हो श्री-हीन,
कमल क्रोड़ में बन्दी था अलि कोक शोक से दीवाना,
मूर्छित थीं इन्द्रियाँ स्तब्ध जग, जड़ चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर में केवल सासों का आना जाना,
तूने ही पहिले बहु-दर्शिन गाया जागृति का गाना।
श्री-सुख-सौरभ का नभ चारिणि गूँथ दिया ताना बाना।

आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रकृति-चित्रण के मनोरम स्थल केवल पद्य में ही नहीं पाये जाते हैं वरन् उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि गद्य काव्य में भी उनकी छटा अवलोकनीय है। गद्य काव्य में प्रकृति-चित्रण अधिक सजीव, आकर्षक तथा सरस दिखाई देता है। प्रसाद, प्रेमचन्द, अज्ञेय, हृदयेश, वृन्दावनलाल वर्मा, महादेवी वर्मा, यशपाल आदि कलाकारों में यह प्रतिभा विशेष उल्लेखनीय है। यशपाल जी का एक मनोरम प्रकृति-चित्रण देखिए :—

"वृक्षाच्छादित सूनी और स्वच्छ सड़कें, परेड का मैदान, और चारों ओर हरियाली छाई पहाड़ियों की उमड़ती हुई लहरें। यह सब चित्र के समान सुन्दर जान पड़ता है। रात में मसूरी की पहाड़ी पर छिटकी बिजली की रोशनी······ मानों सूर्य की रानी वहाँ दिन में क्रीड़ा रत हो अपना सतलड़ा हार भूल गई है, वही रात में पड़ा चमक रहा है।"

—'ज्ञानदान'

आलम्बन रूप में तृतीय प्रकार का प्रकृति-चित्रण वर्णनात्मक शैली पर आधारित होता है और प्रकृति के रम्य रूप के अन्तर्गत ही आता है। इसमें कवि प्रकृति के विभिन्न व्यापारों का उल्लेख करता है तथा वर्णन-पद्धति की प्रधानता होती है। इस प्रकार का प्रकृति वर्णन हमारे हिन्दी साहित्य में पूर्णरूप

से मिलता है। पृथ्वीराजरासो, पद्मावत आदि में भी वर्णनात्मक प्रकृति-चित्रण पूर्ण रूप से मिलते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी का एक वर्णनात्मक प्रकृति-चित्रण देखिए :—

'कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयोदहिं बिन पद त्राना।
कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे।
भालु बाघ वृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा।

—रामचरितमानस-अयोध्याकाण्ड

ऋतु वर्णन में प्रकृति-चित्रण के वर्णनात्मक रूप का अधिक विकास हुआ है। रीति-काल के कवि सेनापति, देव, मतिराम, लाल, भिखारीदास, पद्माकर तथा घनानन्द आदि ने प्रकृति-वर्णन की अनेक प्रणालियों का प्रयोग किया है। रीति-कालीन काव्य के वर्णनात्मक प्रकृति-चित्रण का एक अनुपम एवं सरस उद्धरण देखिए :—

'घेरि घटा घन कारी चहूँ दिसि, सोर कठोर रहे कर दादुर।
बंदि छटा छवि छाई हरी-भरी, भुम्मि लतानन की बिछी चादर।
आदर सों रहे कूक सिखी, निसि कारी अँध्यारी करै हिम कादर।
ताल-तमालन जाल विसाल, रसालन पै उनए घने बादर॥

कविवर सेनापति का शरद-वर्णन देखिए :—

कातिक की रात, थोरी-थोरी सियरात, सेना-
पति' है सुहात, सुखी जीवन के गन है।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूल रहे तारे, मानों मोती अनगन है॥
उदित विमल चन्द, चाँदनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन है।
तिमिर हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर मगन है॥

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का गंगा-वर्णन तथा यमुना वर्णन वर्णनात्मक प्रकृति-चित्रण के सुन्दर उदाहरण हैं। यमुना-छवि वर्णन कैसा अनुपम है :—

'कूजत कहुँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत ।
कहुँ कारंडव उड़त कहुँ जल कुक्कुट धावत ।
चक्रवाक कहुँ बसत, कहुं बक ध्यान लगावत ।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहुँ भ्रमरावलि गावत ।
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर विविध पच्छी करत ।
जलपान न्हान करि सुख भरे तट सोभा सब जिय धरत ।।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली नाटिका

आधुनिक युग के कवियों में भी वर्णनात्मक शैली में प्रकृति-चित्रण के सुन्दर स्थल देखने को मिलते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में प्रकृति निरीक्षण की अलौकिक प्रतिभा दिखाई देती है :—

'सूखती तलैया के चारों ओर चिपकी हुई,
लाल-लाल काइयों की भूमि पार करते ।
गहरे पड़े गोपद के चिन्हों से अंकित जो,
श्वेत वक जहाँ हरी दूव में विचरते ।
आए शरपत्र के किनारे जहाँ रूखे खुले,
टीले कँकरीले है हेमन्त में निखरते ।'

इसी प्रकार बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर जी को भी ऐसे प्रकृति-चित्रण में पूर्ण सफलता मिली है। प्रकृति के पक्षियों द्वारा संगीत-सम्मेलन का आयोजन देखिए :—

'नाचत मञ्जुल मोर भौंर साजत सारंगी,
करत कोकिला गान तान तानत बहुरंगी ।
स्यामा सीटी देत चटक चुटकी चटकावत ।
घूमि भूमि झुकि कल कपोत, तबला गुटकावत ।'

यहाँ तक हमने प्रकृति-चित्रण के रम्य रूप का विवेचन किया है। प्रकृति का जो रूप एक कवि के लिए रम्य है, दूसरे के लिए असुन्दर, उग्र तथा आतंक-पूर्ण भी हो सकता है। इसका एकमात्र कारण मानव-मनोवृत्तियों की सतत परिवर्तनशीलता है। एक वस्तु जो हमें एक समय प्रिय लगती है, दूसरे क्षण अप्रिय एवं भयंकर लग सकती है। एक ही हृदय में हर्ष, विषाद, उत्साह, आदि

के भाव भिन्न-भिन्न समय पर अंकुरित होते रहते हैं। कोयल की कूक जो संयोग में आनन्द की सृष्टि करती है, वियोग में संताप का कारण बन सकती है। वसन्त में आम्रमञ्जरियों से सुवासित वायु प्रिय के साहचर्य में नव उल्लास प्रदान करती है, तो प्रिय के अभाव में वह लू का रूप धारण कर लेती है। यह सब मानव-मनोवृत्तियों की ही अलौकिक क्रीड़ा है। प्रकृति के निर्मल-मुकुर में हमारी भावनाओं की छाया नित्य ही पड़ती है। यही कारण है कि हमारे हिन्दी साहित्य में जहाँ कलाकारों ने प्रकृति के रम्य रूप का चित्रण किया है, वहाँ उग्र रूप को भी अति अलौकिकता के साथ अंकित किया है ब्रजभूमि पर इन्द्र-कोप का सूर द्वारा उग्र प्रकृति-चित्रण कैसा स्वाभाविक है।

'घटा घनघोर घहरात, अररात दररात, सररात ब्रज लोग डरपे।
तड़ित आघात, तररात, उतपात सुनि, नर-नारि सकुचि तन प्राण अरपे।'

—सूरसागर

कविवर गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी प्रकृति के उग्र रूप का अति हृदय स्पर्शी वर्णन किया है। बन की भयंकरता का चित्रण कैसा रोमाञ्चकारी है।

'नर अहार रजनीचर करही। कपट वेष विधि-कोटिक फिरहीं।

× × × ×

व्याल कराल बिहँग बन घोरा। निसिचर निकरि नारि नर चोरा।

× × × ×

हिन्दी के रीति-कालीन कवि बिहारी का अनुभव प्रकृति के उग्र रूप का ही परिचायक है।

'कहलाने एकत बसत अहि, मयूर, मृग, बाघ।
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ, दाघ, निदाघ।'

आधुनिक काल में भी प्रकृति के उग्र रूप का चित्रण अति अनुपमता से किया है। इस क्षेत्र में प्रसाद जी तो काव्य की पराकाष्ठा पर विचरण करते हुए प्रतीत होते हैं। उनका आतंकपूर्ण, प्रलंयकर प्रकृति-चित्रण कैसा रोमाञ्चकारी है।

'उधर गरजतीं सिन्धु-लहरियाँ, कुटिल काल के जालों-सी।
चली आरहीं फेन उगलती, फन फैलाये व्यालों-सी।

धँसती धरा धधकती ज्वाला, ज्वाला मुखियों के निश्वास।
और संकुचित क्रमशः उसके, अवयव का होता था ह्रास।'

—कामायनी-चिन्ता सर्ग।

निराला जी ने भी प्रकृति की भयंकरता का चित्रण अति सफलता के साथ किया है। उनकी शब्द-योजना ने प्रकृति को और ही उग्रतर रूप प्रदान किया है।

'अंधकार उद्‌गीरण करता, अन्धकार घन-घोर अपार।
महाप्रलय की वायु सुनाती, श्वासों में अगणित हुँकार।
इस पर चमक रही है रक्तिम विद्युज्ज्वाला बारम्बार।
फेनिल लहरें गरज चाहतीं करना गिरि शिखरों को पार।
भीम-घोष-गम्भीर अतल, धँस टलमल करती धरा अधीर।
अनल निकलता छेद भूमितल, चूर हो रहे अचल शरीर।

—'अनामिका'

प्रकृति-चित्रण का यह उग्ररूप एक ओर मानव हृदय में भय उत्पन्न करता है तो दूसरी ओर प्रकृति के प्रति अरुचि को जन्म देता है। इस अरुचि को हम पलायनवाद की पोषिका कह सकते हैं। फलतः प्रकृति में भय के साथ घृणा एवं जुगुप्सा के भाव भी छिपे रहते हैं तथा भयानक रस के साथ वीभत्स रस का भी चित्रण होने लगता है। ऐसे चित्रण भी हमारे साहित्य में प्रचुरमात्रा मे उपलब्ध होते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द जी के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में श्मशान का वर्णन कैसा वीभत्सपूर्ण है।

'मद्यभरी नरखोपरी सो ससि को नव विंवहू धाइ गह्यो है।
दे बलि जीव पसू यह मत्त है काल कपालिक नाचि रह्यो है।
सूरज धूम बिना की चिता सोई अन्त में लै जल माटी बहाई।
बोलैं घने तरु बैठि बिहंगम रोअस सो मन लोग लुगाई।
धूम अँगार कपाल निसाकर, हाड़ न छत्र लहू-सी ललाई।
आनन्द हेतु निशाचर के यह काल मसान सो साँझ बनाई।'

अन्य कवियों में भी ऐसे वर्णन प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' जी का जुगुप्सापूर्ण वर्णन अत्यन्त ही स्वाभाविक है:—

'हरहरात इक दिशि पीपल को पेड़ पुरातन ।
लटकत जामें घंट घने माटी के बासन ।'

कहीं-कहीं उग्र रूप में प्रकृति-चित्रण की सौन्दर्यानुभूति भी अत्यन्त सरस एवं स्वाभाविक प्रतीत होती है। इस दृष्टिकोण से आचार्य रामचन्द शुक्ल का प्रकृति-वर्णन अति सुन्दर है। ग्रीष्म-ऋतु का प्रचण्ड एवं रोमाञ्चकारी वर्णन इसका पूर्ण परिचायक है :—

'प्रखर प्रणयपूर्ण दृष्टि से प्रभाकर की,
ललक लपट भरी भूमि भभराई है।
पीवर पवन लोट-लोट धूल धूसरित,
झपट रहा है बड़ी धूम की बधाई है।
सूखे तृण पत्र लिये कही रेणुचक्र उठा,
घूर्णित प्रमत्त देता नाचता दिखाई है।
झाड़ और झपेट झेल झूलते खड़े हैं पेड़,
ममर मिलित हू-हू दे रहा सुनाई है।

उद्दीपन के रूप में प्रकृति-चित्रण

आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही रस संचार के लिए आवश्यक काव्यतत्त्व हैं। आलम्बन यदि रस का आधार है, तो उद्दीपन रस का उत्पादक। अतएव काव्य में उद्दीपन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। शृङ्गार रस में तीव्रता एवं स्वाभाविकता उत्पन्न करने के लिए उद्दीपन का विशेष महत्त्व है। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य के शृङ्गार काल अथवा रीति-काल में प्रकृति चित्रण उद्दीपन के रूप में प्रचुर मात्रा में मिलता है। इसके अतिरिक्त रीवि-काल के कवि राज्याश्रित थे। उनकी कविता राजप्रसाद के संकुचित क्षेत्र तक ही सीमित थी। उनका कार्य केवल राजाओं के वैभव, विलास एवं झूठी प्रशंसा का ही गुणगान करना था। अतएव उनका प्रकृति से पूर्ण विच्छेद हो गया। फिर भी प्रकृति के व्यापक प्रभाव से रीति-कालीन कवि मुक्त न हो सके। यह सत्य है कि ये कवि प्रकृति-चित्रण की आलम्बन-परम्परा का निर्वाह न कर सके किन्तु उन्हें प्रकृति को उद्दीपन के रूप में तो ग्रहण करना ही पड़ा। अतः उद्दीपन के रूप में प्रकृति-चित्रण रीतिकाल में प्रचुरता से हुआ है। वीर-गाथा काल तथा भक्तिकाल में

भी ऐसे चित्रण कहीं-कहीं अत्यन्त ही मनोरम प्रतीत होते है। नरपति नाल्ह के वीसलदेव रासो में कुछ स्थलों पर उद्दीपन के रूप में प्रकृति-चित्रण अति हृदय-स्पर्शी है। वियोग में रानी राजमती की लालसा अति स्वाभाविक है :—

'रामह न सिरजी हरिणली। सूरह न सिरजी घीणु गाई।
बन षंड काली कोइली। वह सती अम्ब कर चंप की डालि।'

रानी राजमती का वियोगावस्था में अपने को पशु-पक्षियों से भी अपदार्थ समझना तथा हरिणी, धेनु, कोयल आदि बनकर स्वच्छन्द विचरने की लालसा कैसी स्वाभाविक है। चन्द्रकृत पृथ्वीराज रासो में उद्दीपनात्मक प्रकृति-चित्रण की छटा अवलोकनीय है :—

'सरद राति मालत सघन फूल रही बनबास।
दीपक माला काम की हरिमय मुक्कय त्रास ॥

समय २—छन्द—३३९।

शरद की रात्रि, सघन मालती कुंज, पुष्प, सुगंधि आदि कामेच्छा के लिए उद्दीपन कार्य करते हैं।

भक्तिकाल मे जायसी ने प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के रूप में अति स्वाभाविकता से किया है। उन्होंने परम्परागत षटऋतु वर्णन तथा बारहमास का वर्णन उद्दीपनार्थ ही किया है। मानव-भावनाओं को उदीप्त करने में उनका प्रकृति-प्रयोग विलक्षण है। एक ही वस्तु को संयोग और वियोग की भिन्न-भिन्न प्रकार से छाया डालकर, पृथक-पृथक गुण धारण करने वाली अंकित कर देना जायसी की काव्यपटुता का पूर्ण परिचायक है। प्रकृति के जो तत्व संयोग में सुखद एवं शीतल प्रतीत होते हैं, वियोग में दुःखद एवं दाहक हो जाते हैं। पद्मावती को संयोग में प्रकृति-तत्त्व अति सुखदायक हैं :—

'प्रथम बसन्त नवल ऋतु आई-सु ऋतु चैत बैसाख सोहाई।
चंदन चीर पहिरि धन अंगा। सेंदुर दीन विहंसि भरि गंगा।
कुसुम हार औ परिमल बासू। मलयागिरि छिरका कविलासू।
सौर सुपैती फूलन-डासी। धनि ओ कंह मिलै सुख रासी।'

जो चंदन, पुष्पहार, सुगंधि पद्मावती को आनन्द प्रदान करते हैं, वही वियोग में दुःखद प्रतीत होते हैं :—

'दहे चंद औ चंदन पीरू । दग्ध करे तन विरह गम्भीरू ।
कलप समान रैनि तेहि बाढ़ी । तिल-तिल भर जुग-जुग जिमि गाढ़ी ।।'

सूरदास जी द्वारा उद्दीपन के रूप में किया गया प्रकृति-चित्रण अत्यन्त ही सूक्ष्म, सरस और अनूठा है । गोपियों के विरह की मार्मिक व्यञ्जना इतनी सुन्दर है कि प्रकृति स्वयं रोती हुई प्रतीत होती है । कृष्ण वियोग मे गोपियों के लिए प्रकृति का रूप ही परिवर्तित हो गया है । जहाँ रासलीला आदि हुई थीं, वहाँ गोपियाँ जाना नहीं चाहती हैं । कारण उन स्थानों का अवलोकन कर गोपियों को पूर्वानुभूत सुखों का स्मरण हो जाता है जिससे उनके हृदयों में एक वेदना अंकुरित हो जाती है । वियोगावस्था में प्रकृति के सभी सुखद तत्व विपरीत प्रभाव प्रकट करते हैं । राधा को वियोग में यही तो व्याधा है—

'फूल बिनन नहिं जाऊँ सखीरी, हरि बिन कैसे बीनों फूल ।
सुनरी, सखी मोहि राम दुहाई, फूल लगत तिरसूल ।।
वै जो देखियत राते—राते फूलन फूली डार ।
हरि बिन फूल झार से लागत, झरि-झरि परत अँगार ।।
कैसे पनघट जाऊँ सखी री ! डोलौं सरिता तीर ।
भरि-भरि जमुना उमड़ि चलति है इन नैनन के तीर ।।

यही नहीं गोपियों के लिए, वियोग में मोर शत्रु के समान प्रतीत होता है । गोपियाँ कहती हैं ।

'हमारे भाई मोरऊ बैर परे ।
घन गरजें बरजें नहिं मानत त्यों-त्यों रटत खरे ।।'

वस्तुतः सूर में उद्दीपनात्मक प्रकृति-चित्रण अत्यन्त ही उच्चकोटि का है। अपने दुःख में गोपियों को सारे विश्व के जीव संतप्त एवं दुखी दिखाई देते हैं। कृष्ण-वियोग में बच्चे, गायं, बछड़े सभी दुखी हैं ।

'बाल बिलख, मुख गौ न चरत तृन, बछरन छीर न प्यावें ।'

यहाँ तक गोपियाँ विरह में व्याकुल हो, साधारण पक्षियों से याचना करने लगती हैं :—

'कराब रे ! सारंग स्यामहि सुरत कराब ।'

इसी प्रकार

'कोकिल हरि को बोल सुनाव ।
मधुवन तें उचटारि स्याम कहँ या ब्रज लै के आव ।।'

प्रकृति का उद्दीपन रूप वियोग-चित्रण के लिए अति आवश्यक है। इसलिए साधारणतया सभी कवियों ने वियोगी भावनाओं के प्रकटीकरण के लिए उद्दीपनात्मक प्रकृति-चित्रण का प्रयोग किया है। महान् कलाकार तुलसी ही फिर इस अमर रूप को चित्रित क्यों न करते ? वियोगी राम जब पावस ऋतु में मेघ-गर्जन सुनते हैं तो अति भयभीत हो जाते हैं।

घन घमंड नभ गरजत घोरा ।
प्रियाहीन डरपत मन मोरा ।।

सेनापति तो प्रकृति-वर्णन के उद्दीपन स्वरूप के उत्कृष्ट कलाकार हैं। रीति-काल के अन्य कवियों में उनका सा सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन मिलना नितान्त दुर्लभ है। बसन्त ऋतु में विकसित पुष्प आदि वियोगिन को व्याकुल कर देते हैं।

'कतिक, असोक नव चम्पक बकुल कुल,
कौन धौं वियोगिनी कौ ऐसो विकराल है ।
सेनापति साँवरे की, सूरति की सुरति की,
सुरति कराह करि डारत बिहाल है ।।'

बिहारी जी को भी प्रकृति के उद्दीपनात्मक रूप को चित्रित करने में पूर्ण सफलता मिली है। इन्होंने संयोग और वियोग दोनों के चित्रण के लिए प्रकृति का प्रयोग किया है। जल विहार के समय नायक नायिका के नेत्रों की ओर जल छिड़कता है। नायिका के नेत्रों में प्रेम की लाली छा जाती है।

'छिरके नाह नबोढ़ दृग, कर पिचकी जल जोर ।
रोचन रंक लाली भई, विय तिय लोचन कोर ।।'

इसी प्रकार वियोगिन का चित्रण भी अति सरस है। दुःख में उसके आत्मसंतोष की भावना बड़ी मार्मिक है। चैत्र की चन्द्रिका का विपरीत प्रभाव स्पष्ट है।

'भो यह ऐसोई सभो, जहाँ सुखद दुःख देत ।
चैंत चाँद की चाँदनी, डारत किये अचेत ।।'

भूषण, देव, मतिराम, बेनी प्रवीन आदि कवियों ने भी प्रकृति के इस रूप का सुन्दर चित्रण किया है । संयोग और वियोग दोनों पक्षों में इन सभी कवियों के काव्य में प्रकृति मानव भावनाओं की आधार भूमि रही है । आधुनिक काल में भी उद्दीपनात्मक प्रकृति-चित्रण पूर्णरूप से मिलता है । अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध' प्रकृति के पूर्णोपासक है । उन्होंने प्रकृति की नानारूपों में झाँकी की है । 'प्रियप्रवास' की चरित्रनायिका राधा प्रिय वियोग में अति पीड़ित है । यहाँ तक कि वह विरह विदग्धा राधा चर-अचर में भी कोई भेद नहीं समझती है । उसके हृदय के अन्तस्तल से निसृत करुण, दीन शब्द उसकी अकथ व्यथा के परिचायक हैं । पवन के प्रति राधा की याचना अति कारुणिक है ।

'पूरी न होवें यदि तुझसे अन्य बातें हमारी ।
तो तू मेरी इतनी विनय मानले औ चली जा ।।
छू के प्यारे कमल पग को प्यार के साथ आजा ।
जी जाऊँगी हृदय तल में, मैं तुझी को लगा के ।।'

मैंथिलीशरण गुप्त भी इसी प्रकार चिर विदग्धा उर्मिला के शरीर में शिशिर ऋतु के लिए सभी उपादान एकत्रित कर देते है । उर्मिला का शिशिर के प्रति कारुणिक सम्बोधन अति मर्मस्पर्शी है ।

शिशिर न फिर गिरवन में,
जितना माँगे पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में ।
कितना कंपन तुझे चाहिए, ले मेरे इस तन में,
सखी कह रही पांडुरता का क्या अभाव इस आनन में ।

—साकेत

कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी साहित्य में उद्दीपन रूप में प्रकृति की पावन झाँकी होती है।

अलंकारों के रूप में प्रकृति चित्रण

अलंकारों का काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है । संस्कृत आचार्यों ने तो अलंकारों

को काव्य का अनिवार्य अंग माना है। आचार्य दण्डी ने 'काव्य शोभा-करान्ध र्मानूलंकारान्प्रचक्षते' अर्थात् काव्य की सुन्दरता बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहा है। चन्द्रालोककार ने अलंकारों को काव्य का प्राण स्वीकार करते हुए कहा है :—

'अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।'

अर्थात् अलंकार रहित काव्य उष्णता रहित अग्नि के समान समझना चाहिए। आचार्य भामह का कथन है कि 'न कान्तमपिनिर्भूषं विभाति बनिता मुखम्' अर्थात् अलंकार बिना तो स्त्री का मुख भी सुन्दर नहीं लगता है। अग्नि पुराण में भी अलंकार रहित कविता को विधवा नारी के समान बताया गया है। अतएव कविता में सौन्दर्य का समावेश करने के लिए अलंकार अति आवश्यक हैं। साधारण कथन की अपेक्षा आलंकारिक शब्दावली अधिक प्रभावशालिनी प्रतीत होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार भी 'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति का नाम अलंकार है ?' शुक्ल जी का मत चाहे कुछ हो किन्तु उन्होंने अपने काव्य में अलंकारों का समुचित प्रयोग किया है। अतएव स्पष्ट है कि कोई कवि अलंकारों के प्रयोग के मोह से मुक्त नहीं हो सकता है। कारण स्पष्ट है—कवि जिस वस्तु से प्रभावित होता है, उस वस्तु के प्रतिविम्बित भावना की वह स्पष्ट से स्पष्टतर अभिव्यक्ति करना चाहता है। इसीलिए वह अलंकारों का प्रयोग करता है। कतिपय साहित्याचार्य प्रकृति के इस प्रकार के आलंकारिक वर्णन को संश्लिष्ट प्रकृति वर्णन की संज्ञा भी देते हैं। उनका कथन है कि कवि प्रकृति को आलंकारिक रूप में अंकित नहीं करता है वरन् आलंकारिक शैली द्वारा प्रकृति की अभिव्यक्ति करना चाहता है। वह प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से किसी दूसरी वस्तु का वर्णन करता है। अतः ऐसे वर्णन को आलंकारिक वर्णन न कहकर, संश्लिष्ट वर्णन कहा जाए, तो अधिक उपयुक्त रहेगा। नामान्तर से हमारे विषय-प्रकाशन पर कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

वस्तुतः मानव और प्रकृति का अनादि काल से ही साहचर्य रहा है। अतः मानव हृदय पर प्राकृतिक वस्तुओं की स्थायी छाया अंकित रहती है। इसी कारण

कवि मानव प्रकृति का वर्णन करते समय प्राकृतिक उपादानों का आश्रय लेता है। हिन्दी काव्य में ऐसे वर्णनों की प्रचुरता है जहाँ कवियों ने मानव-अंगों के वर्णन के लिए प्राकृतिक उपादानों को उपमान माना हो। हिन्दी के आदि काल से ही हमे कवियों की अलंकारप्रियता के दर्शन होते हैं। नरपति नाल्ह के वीसल देव रासो में सौन्दर्य वर्णन में रूढ़िभुक्त उपमानों का सुन्दर प्रयोग है।

'दन्त दाडिम कुली जी सी। मुखी अमृत जाणी बाजे की वीणा।
ससि वदनी जीत्यो मात जयन्द। आस्मडीया रतनांलिया।
भौहरा जणि भ्रमर भभाय। मूँगफली सी आँगुली।
कुसम कली कर नख जीसा। कनक कुंडल धज सोहइ कान।
—वीसलदेव रासो-सर्ग ३

उपयुक्त छंद में दाडिम, गयंद (हाथी) और भ्रमर-दांत, गति तथा नेत्रों के लिए उपमान रूप मे ग्रहण किये गये है। चन्द्र कृत पृथ्वीराज रासो में भी सौन्दर्य वर्णन के लिए प्राकृतिक वस्तुओं को उपमान के रूप में प्रचुरता के साथ ग्रहण किया गया है। पद्मावती की प्रसन्नता का कमल की प्रफुल्लता से सादृश्य अवलोकनीय है।

'मन अति भयो हुलास। विगसि जनु कोक किरन रवि।

इसी प्रकार कुमोदमनि की सेना वर्णन में उत्प्रेक्षा अलंकार की छटा अलौकिक है।

मंद मंद गलित से पंच दन्ती। मनों साम पहार वग पन्ति पंती।
—पृथ्वीरास रासो

सेना के गजों को श्याम पर्वत और निर्मल दांतों को श्वेत बगुलों के समान व्यक्त करने की कवि की उद्भावना अति सुन्दर है।

भक्ति काल में प्रकृति चित्रण की आलंकारिक परम्परा का पूर्ण निर्वाह हुआ है। जायसी ने उपमा, उत्प्रेक्षा तथा व्यतिरेक आदि अलंकारों को सौन्दर्याभिव्यक्ति के लिए प्रमुख स्थान दिया है। पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि ने प्राकृतिक व्यापारों द्वारा कैसा रूप-साम्य उपस्थित किया है। उत्प्रेक्षा अलंकार की छटा अवलोकनीय है।

'उग्रत सूर जस देखिय चाँद छपै तेहि धूप।
ऐसे सबै ज़ाहि छपि, पद्मावति के रूप।

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य के उदित होने पर चन्द्रिका शोभा हीन हो जाती है, उसी प्रकार पद्मावती की शोभा के आगे, अन्य सुन्दर स्त्रियाँ शोभाहीन प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार फलोत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा पद्मावती के मुख को चन्द्र और आभूषणों को तारा न कहकर यह कहना कि चन्द्र और नक्षत्र मानो आकाश रूपी दर्पण में पद्मावती के सुन्दर मुख और आभूषणों के प्रतिबिम्ब है जायसी की सुन्दर कल्पना है।

'पहिरि जराऊ ठाढ़ि भइ, कहि न जाइ तस भाव।
मानहु दरपन गगन भा, तेहि ससि तार दिखाव।'

—पद्मावत

सूरदास जी ने अलंकार रूप में प्रकृति का अति विस्तृत एवं विशुद्ध वर्णन किया है। उन्होंने कृष्ण तथा राधा के सौन्दर्य वर्णन के लिए लगभग परम्परागत सभी उपमानों को ग्रहण किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक आदि के प्रदर्शन उनके काव्य में प्रचुरता से मिलते हैं। कृष्ण का रूप वर्णन अति सरस है—

'नटवर वेष काछे स्याम।
पद कमल नख इन्दु सोभा ध्यान पूरन काँम।
जानु जंघ सुघट निकाइ नाहिं रम्भा तूल।
पीत पट काछनी मानहु जलज केसर झूल।
चिबुक पर अधरन दसन दुति बिम्ब बीजु लजाइ।
नासिका सुक नैन खंजन कहत कवि सरमाइ॥'

पदों को कमल, नखों को चन्द्रप्रभा, जंघाओं को केला, नासिका को तोता तथा नेत्रों को खंजन पक्षी आदि के समान बताकर कवि ने परम्परा का पूर्ण निर्वाह किया है।

सूरदास जी को आलंकारिक प्रकृति चित्रण में अलौकिक सफलता मिली है। उन्होंने कहीं-कहीं उपमानों द्वारा उपमेय का ज्ञान अति अलौकिकता से कराया है। निम्नलिखित पद इसका सुन्दर उदाहरण है।

'तब तै इन सबहिन सचु पायो ।
जब ते हरि सन्देस तिहारो सुनत ताँवरो आयो ।
फूले व्याल दुरें तैं प्रगटे पवन पेट भरि खायो ।
भूले मृगा चौंकि चरनन ते हुतो जो जिय बिसरायो ।
ऊँचे बैठि विहंग सभा बिच कोकिल मंगल गायो ।
निकसि कंदरा से केहरि हू माथे पूँछ हिलायो ।
ग्रह बनते गजराज निकसि कै अंग अंग गर्व जनायो ।'

इस पद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार द्वारा राधा के अंगों के उपमानों का कृष्ण वियोग में शोभाहीन होने पर हर्षित होना दिखाया गया है ।

तुलसीदास जी हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि है । अतः उन्होंने प्रकृति चित्रण में अलंकारों का प्रयोग अति विलक्षणता के साथ किया है । यद्यपि तुलसीदास जी ने परम्परागत उपमानों को ही ग्रहण किया है किन्तु वे उनकी निजी उद्भावना के द्योतक प्रतीत होते हैं । उनको अलंकार चित्रण में पूर्ण सफलता मिली है । उनके काव्य में कही अलंकार भावों के उत्कर्ष में सहायक सिद्ध होते है तो कहीं क्रिया के व्यापार में सहायक होते है । निम्नलिखित पंक्तियों में उपमेयों के बिना ही उपमानों द्वारा सीतावर्णन कैसा स्वाभाविक है—

'खंजन सुक्र कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रबीना ।
कुन्द कली दाड़िम दामिनी । कमल सरद ससि अहि भामिनी ।
बरुन पास मनोज धनु हंसा । गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ।'

—रामचरितमानस—अरण्य काण्ड

इसमें सीता के नेत्र, नासिका, ग्रीवा, केश, वाणी, दाँत, शोभा, मुख आदि के सौन्दर्य चित्रण के लिए परम्परागत उपमानों का प्रयोग किया है ।

रूपक अलंकार के चित्रण में तुलसीदास जी सिद्धहस्त है । निम्नलिखित दोहे मे साधारण सी बात को किस विचित्रता एवं सुन्दरता के साथ चित्रित किया है ।

'लता भवन ते प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ ।
निकसे जनु जुग विमल विधु, जलद पटल बिलगाइ ।'

रामचरितमानस—बाल काण्ड

लताभवन से राम लक्ष्मण दोनों भाइयों का निकलना, श्याममेघों को विदीर्ण करके उदित होने वाले चन्द्र की उत्प्रेक्षा ने सौन्दर्य द्विगुणित कर दिया है। तुलसीदास जी ने लगभग सभी अलंकारों का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं उपमानों के नवीन प्रयोग से उनकी व्यंजना शैली में उनकी अनूठी कल्पना तथा कमनीय भावुकता का अलौकिक परिचय मिलता है।

'पियरी झीनी झंगुली साँवरे सरीर खुली।
बालक दामिन ओढ़ी मानो बारे बारिधर।"

उपर्युक्त पंक्तियों में भगवान राम के बाल शरीर के लिए 'बारे बारिधर' तथा पीली झंगुली के लिए 'दामिनी' का प्रयोग करके कवि ने अपनी सुकुमार भावना का परिचय दिया है।

रीतिकाल में मुगल बादशाहों की विलास प्रियता आदि के कारण कविता के विषय शृङ्गार रस, नायिका भेद तथा नखशिख वर्णन आदि ही रह गये। राज प्रासादों की सीमा से बाहर कवियों की दृष्टि न जा सकी। अन्तःपुर मे केलि करने वाली नायिकाओं के हाव-भावों और सौन्दर्य का वर्णन करना ही कवियों का उद्देश्य रह गया। स्वतन्त्र प्रकृति वर्णन का इस काल में नितान्त अभाव रहा। धीरे-धीरे कला-प्रदर्शन रीतिकाल की विशेपता बन गयी। प्रसङ्गवश यदि कहीं प्रकृति की ओर कवि की दृष्टि पड़ गयी तो केवल भावोद्दीपन तथा अलंकार-प्रदर्शन के लिए। सेनापति का निम्नलिखित कवित्त रीतिकालीन आलंकारिक प्रकृति-चित्रण का सुन्दर उदाहरण है।

'कुंद से दसन घन, कुन्दन वरन तन,
कुंद सी उतारि धरी क्यों बने बिछुर के।
सोभा सुख कन्द, देख्यो चाहिए बदन-चन्द,
प्यारी जब मन्द मुसकाति नेक मुरि के।
सेनापति कमल से फूलि रहै अंचल में,
रहै दृग चंचल, दुराए हू न दुरि के।
पलकैं न लागैं देखि ललकैं तरुन मन,
झलकैं कपोल, रहीं अलकैं विथुरि के।'

सेनापति—कवित्त रत्नाकर।

इस कवित्त में दाँत, मुख और नेत्रों के परम्परानुगत उपमान, कुन्द, चन्द और कमल का उल्लेख है। अतः मौलिकता का पूर्ण अभाव है।

बिहारी ने भी रीतिकाल के कवि होने के नाते प्रकृति का प्रयोग नायिका-सौन्दर्य के उपमान के रूप में किया है। इनके उपमान भी वही परम्परानुगत हैं। केवल लक्षण शैली के प्रयोग से उनमें वैचित्र्य तथा अनुपमता का आभास मिलता है। उन्होंने प्रायः सभी अलंकारों का सुन्दर चित्रण किया है। उनका मन अलंकारों की अद्भुत छटा प्रदर्शन में रमा है। यहाँ तक कि कहीं-कहीं उन्होंने नये उपमानों की भी उद्भावना करली है।

'कहत सबै कवि कमल से, मो मतनैन पषानु।
नतरकु इन विय लगत कत, उपजत बिरह कृसानु।

विरहिनी नायिका के नेत्रों को कमल कहकर पत्थर बताना और नेत्रों में प्रेमाग्नि उत्पन्न होने को, कारण-कार्य का सम्बन्ध जोड़ना बिहारी जी की मौलिक उद्भावना ही कही जाएगी। उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण देखिए—

'चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट झीन।
मानहु सुर सरिता विमल, जल उछरत जुग मीन।

घूँघट के झीने वस्त्र में नायिका के नेत्रों को जल उछालती हुई मछली कहना कितना स्वाभाविक है। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में उपमेय और उपमान के प्रभाव का सादृश्य किस कौशल से दिखाया है—

'छप्यौ छपाकर छित छयौ, तम ससिहरि न सँभारि।
हँसति हँसति चलि ससि मुखी मुख ते घूँघट टारि।

भूषण, मतिराम, देव ने भी अलंकारों की रीति परम्परा का पूर्ण प्रतिपालन किया है। सभी ने प्रकृति का प्रयोग सौन्दर्यानुभूति और भावों की अभिवृद्धि के लिये किया है। देव के काव्य में अलंकारों की प्रचुरता है। कल्पना की ऊँची उड़ान के समन्वय से अलंकारों में चमत्कार प्रदर्शन उच्चकोटि का है। निम्नलिखित पंक्तियों में नायिका की हीरे जड़ित माँग को, चन्द्रमा के सिर पर अन्धकार समूह को विदीर्ण करती हुई सूर्य की किरण कहना, कैसी अद्भुत उद्भावना है।

'बेनी बनाइ के माँग गुही, तेहि माँह रही लर हीरन की फवि।
सोम के शीश मनो तम तोमहिं, मध्य ते चीर कढ़ी रबि की छबि।'
देव—सुख सागरतरंग।

पद्माकर, घनानन्द, ठाकुर, ग्वाल, बेनी प्रवीन आदि कवियों ने रीतिकालीन परम्परानुगत आलंकारिक प्रकृति वर्णन का सम्यक् प्रतिपालन किया है। केशवदास में प्रकृति वर्णन गौण तथा अलंकार-प्रदर्शन की भावना की प्रधानता है। शब्दों की कलाबाजी के आगे काव्य की स्वाभाविकता नष्ट हो गयी है।

'दीरघ दरीन बसे केसोदास केसरी ज्यों,
केसरी को देखि बन करी ज्यौं कँपत है।
बासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत,
चकवा ज्यों चन्द्र चितै चौगुनो चँपत है।
केका सुन व्याल ज्यौं, बिलात जात घनस्याम,
घनन की घोरनि जवासो ज्यौं तपत है।'

भगवान राम को उल्लू के गुणों से समान रूप में दिखाना कैसा हास्यास्पद है।

आधुनिक युग में भी प्रकृति चित्रण में अलंकारों का पूर्ण प्रयोग मिलता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जगन्नाथदास रत्नाकर, श्रीधर पाठक, देवीप्रसाद 'पूर्ण' आदि में रीतिकालीन काव्य परम्परा के प्रति स्वाभाविक मोह है। पूर्ण जी के काव्य में गंगा के लिए उपमानों की लड़ी देखिए—

'चामर सी, चन्दा सी, चन्द्रिका सी, चन्द्र ऐसी,
चाँदनी चमेली चारु चाँदी सी सुघर है।
कुन्द सी, कुमुद सी, कपूर सी, कपास ऐसी,
कल्पतरु कुसुम सी कीरति सी बर है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय के काव्य में प्रकृति वर्णन में अलंकारों का बाहुल्य है किन्तु उनकी अलंकार-प्रदर्शन की परम्परा सीधी एवं सरल है। गोरज के बीच से निकलते हुए श्याम ऐसे शोभित होते हैं जैसे रात्रि के अन्धकार को नष्ट करता हुआ चन्द्रमा।

'कुकुभ शोभित गोरज बीच से
निकलते ब्रज बल्लभ यों लसे।
कदन ज्यों करके दिशि कालिमा,
बिलसता नभ में नलिनीश है।

इसी प्रकार 'रस कलश' में नेत्रों के काले तारे भौंरे की भाँति घूमते हुए दिखाई देते हैं—

'कारे-कारे तारे ए अरुन अँखियाँ में डोले,
युगल कमल में मिलिंद मतवारे से।

गुप्त जी के काव्य में उनकी भावधारा के साथ अलंकार स्वभावतः ही प्रस्फुटित होते चलते हैं। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग साधन के रूप में किया है, साध्य के रूप में नहीं। इसलिए उनके काव्य में मानवभावों और प्राकृतिक व्यापारों का पूर्ण सामंजस्य है। कवि का मानव और प्रकृति के प्रति समान प्रेम है। शूर्पणखा का चित्रण देखिए—

'कटि के नीचे चिकुर जाल में,
उलझ रहा था बायाँ हाथ।
खेल रहा हो ज्यों लहरों से,
लोल कमल भौंरों के साथ,
× × ×
रत्नाभरण भरे अंगों में,
ऐसे सुन्दर लगते थे।
ज्यों प्रफुल्ल वल्ली पर सौ-सौ,
जुगनू जगमग करते थे।'
—पंचवटी।

इसी प्रकार शकुन्तला की निर्मल सदाशयता और पवित्रता के चित्रण के लिए प्राकृतिक उपमान अति उपयुक्त तथा अनुकूल है।

'मुक्त नभो मण्डल सा अविचल निर्मल जीवन था उसका।
ऊषा के प्रकाश सा पावन निरालस्य तन था उसका।
उज्ज्वल उच्च हिमालय जैसा अति उन्नत मन था उसका।
गुप्त—शकुन्तला

आधुनिक काल में परम्परागत उपमानों का उपयोग अल्प मात्रा में है। प्रसाद, पन्त, निराला आदि सभी के उपमानों में युगानुकूल नवीनता है। प्रसादजी उच्चकोटि के कलाकार थे। उन्होंने प्रकृति के अक्षय कोश से ऐसे उपमानों को ग्रहण किया है जो सौन्दर्य सृष्टि ही नही करते वरन् आश्चर्यान्वित भी कर देते हैं। अमूर्त अन्तःकरण का मूर्त मनोहर नीड़ से सादृश्य अति अनुपम है—

'मनोवृत्तियाँ खगकुल सी थी सो रही,
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में,
नील गगन सा शान्त हृदय भी हो रहा,
वाह्य आंतरिक प्रकृति सभी सोती रही।'

—कानन कुसुम।

इसी प्रकार श्रद्धा का सौन्दर्य वर्णन अति स्वाभाविक है।

'घिर रहे घुँघराले बाल,
अंस अवलंबित मुख के पास।
नील घन शावक से सुकुमार,
सुधा भरने को विधु के पास।

—कामायनी

पन्त की कविता में तो उपमेय और उपमान का अद्‌भुत एकाकार है। उनके काव्य में लाक्षणिक शैली, सूक्ष्मदर्शिता, अद्‌भुत कल्पना से अलंकार भी अलंकृत हो गये हैं। प्रिय की मधुर स्मृति में प्रेमिका के पलक पर गिरे जलविन्दु का चित्रण देखिए—

'एक जलकण, जलद शिशु सा, पलक पर
आ पड़ा सुकुमारता सा गान सा,
चाह सा, सुधि सा, सगुन सा, स्वप्न सा'

—ग्रन्थि

निराला जी के काव्य में प्रकृति चित्रण एक अनूठी गति रखता है। उन्होंने मानव प्रकृति का वाह्य प्रकृति से एकाकार करने का अद्‌भुत प्रयत्न किया है। उनके रूपक अलङ्कार के संश्लिष्ट चित्र अति विचित्र हैं। लज्जाशील 'बहू' का स्वाभाविक चित्रण अनुपम है।

'सौन्दर्य सरोवर की वह एक तरंग
किंतु नहीं चंचल प्रवाह उद्दाम वेग
संकुचित एक लज्जित गति है वह
प्रिय समीर के संग ।'

महादेवी वर्मा का काव्य अनुभूति परक है। उनके अधिकांश उपमान अमूर्त और अगोचर है। आँसुओं और मोतियो का स्वाभाविक सादृश्य कितना सकारण है ।

'तरल मोती से नयन भरे,
मानस से ले, उठे स्नेह धन,
कसक विद्यु पुलकों के हिमकरण,
सुधि स्वाती की छाँह पलक की सीपी में उतरे ।'

—दीपशिखा

हिन्दी साहित्य मे प्रयोगवादी दृष्टिकोण के प्रभाव से उपमानों का रूप ही कुछ भिन्न हो गया है। अब उपमान नवीन ही नहीं नितान्त विचित्र है। निम्नलिखित पंक्तियों से यह विशेषता स्पष्ट हो जायगी। खण्ड चित्र देखिए :—

'निकटतर धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र सिञ्चित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टांगों पर खड़ा नत ग्रीव,
धैर्य-धन-गदहा ।'

मानव भावनाओं के आरोप के रूप में प्रकृति-चित्रण

प्रकृति में मानव भावनाओं का आरोपण हमें प्राचीन काल से ही मिलता है। वैदिक काल में सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, मेघ आदि को देवत्व रूप प्रदान कर, सूर्य, सोम, मरुत्, वरुण, इंद्र नाम से उपासना करना, मानवीकरण की इस भावना का स्पष्ट प्रमाण है। हमारी सभी पौराणिक कथाएँ मानवीकरण की आधारभूत हैं। उदाहरणार्थ पवनपुत्र हनुमान तथा सूर्यपुत्र कर्ण आदि इसी भावना के द्योतक हैं। तदतन्तर हिंदी साहित्य में भी यत्र-तत्र मानवीकरण के पर्याप्त रूप प्राप्त होते है। जायसी जी ने नागमती के विरह का चित्रण

करते हुए सरोवर में चेतन व्यक्तित्व का आरोप अत्यंत ही अनुपमता से चित्रित किया है :—

'सरवर हिया घटत नित जाई । टूक-टूक होइ के बिहराई ।।'

इसी प्रकार सूरदास जी ने गोपियों द्वारा कालिंदी पर वियोगदग्धा नायिका की सारी भावनाओं का आरोप लगाया है ।

'लखियत कालिंदो अति कारी ।
कहियौ पथिक जाय हरि सों ज्यों भई, विरह-जुर-जारी ।
मनु पलिका पै परी, धरनि धँस तरंग तलफ तनु भारी ।
तट बारू उपचार चूर मनौ स्वेद प्रवाह पनारी ।
विगलित कच कुस कास पुलिन मनो पंकज कज्जल सारी ।
भ्रमर मनौ मति-भ्रमति चहूँ दिसि फिरति है अंग दुखारी ।
निसिदिन चकई ब्याज बकत मुख किन-मानस अनुहारी ।
'सूरदास' जो जमुना गति सो गति भई हमारी ।।'

यमुना का जल प्रकृति से श्याम है । किन्तु गोपियाँ इसका कारण कृष्ण-वियोग-ज्वर से जलना बताती हैं । यमुना की तरंग वियोगिन की तड़पन है । बालू उपचार चूर्ण है । कुश-कास बिखरे हुए केश हैं । कीचड़ काली साड़ी है ।

इसी प्रकार गोपियों द्वारा मुरली को चेतन व्यक्तित्व प्रदान किया गया है :—

'मुरली अति गर्व काहु बदति नाहिं आजु ।
हरि को मुख कमल देखि पायो सुख राजु ।।
बैठत कर पीठ, ढीठ अधर छत्र छाहीं ।
चमर चिकुर राजत तहँ सुभग सभा माही ।।
जमुना के जलहिं नाहिं जलधि जान देति ।
सुर-पुर ते सुर-विमान भुवि बुलाइ लेति ।।

आधुनिक काल में हिन्दी काव्य में मानवीकरण की भावना का आविर्भाव छायावाद युग की देन है । प्रसाद जी ने प्रकृति में चेतनता का अनुभव किया है । उनकी दृष्टि में प्रकृति केवल नेत्रों को तृप्त करने वाली अथवा स्वाभाविक

वृत्तियों का समाधान करने वाली शक्ति नही अपितु एक ऐसी अमर एवं अभिन्न सहचरी है जो मानव के साथ सुख-दुख का अनुभव करती है। इसीलिए प्रसाद किरण को वेदना की दूती समझकर प्रश्न करते हैं—

'किरण तुम क्यों बिखरी हो आज,
रंगी हो तुम किसके अनुराग।
स्वर्ण सरसिज, किंजल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु पराग।।

प्रलय-रात्रि के पश्चात् उषा अवतरण कैसा स्वाभाविक है। प्रलय निशा पर उषा की विजय की कल्पना अति अनुपम है—

'उषा सुनहले तीर बरसती,
जयलक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित कालि-रात्रि भी,
जल में अन्तर्निहित हुई।

—कामायनी

प्रलय-रात्रि के पश्चात् जलप्लावन से मुक्त बसुन्धरा का खंडिता नायिका के रूप में चित्रण अति अवलोकनीय है।

'सिन्धु सेज पर धरा वधू,
अब तनिक संकुचित बैठी सी।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में,
मान किये-सी ऐंठी सी।

—कामायनी

मानवीकरण का कैसा सुन्दर उदाहरण है।

सुमित्रानन्दन पन्त भी प्रकृति के अमर उपासक हैं। प्रकृति सौन्दर्य के अक्षय भण्डार, पर्वतीय प्रदेश में जन्म लेने के कारण, पन्त जी को हृदय का आनन्द, उल्लास तथा प्रेरणा आदि प्रकृति के साहचर्य से ही प्राप्त हुए हैं। 'बादल' में मानव भावनाओं का आरोप उनके भावुक हृदय की ललित कल्पना का परिचायक है।

'सुरपति के हम हा हैं, अनुचर,
जगत् प्राण के भी सहचर।'

शारद-हासिन चन्द्र ज्योत्स्ना को सोती हुई नायिका के रूप में देखिए—

'नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद हासिन।
मृदु करतल पर शशि मुखधर, नीरव, अनिमिष, एकाकिन।'

निराला जी ने तो प्रकृति के साक्षात दर्शन किये हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में उन्होंने अपनी अनूठी कल्पना एवं शब्द-चित्रण की कुशलता से 'जुही की कली' को सवाक् एवं सप्राण बनाकर स्नेह स्वप्न मग्न प्रशान्त तरुणी के रूप में देखा है।

'सोती थी सुहाग भरी, स्नेह स्वप्न मग्न।
अमल कोमल तन, तरुणी जुही की कली,
दृग बंद किये शिथिल पत्रांक में।

इसी प्रकार सन्ध्या सुन्दरी में अद्भुत मानवीकरण अवलोकनीय है।

'दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे, धीरे, धीरे।

—परिमल

नीति और उपदेश के रूप में प्रकृति-चित्रण

हम प्रारम्भ में ही विवेचन कर चुके हैं कि प्रकृति अनादि काल से मानव की सहचरा है। प्रकृति ने सदा ही निस्वार्थ भाव से मानव की सहायता की है। मानव के विवेक का विकास प्रकृति के साहचर्य से ही हुआ। अतएव मानव ने प्रकृति के प्रति अपने कृतज्ञता के भाव व्यक्त किये और उसे देवत्व का रूप प्रदान कर उपासना करना प्रारम्भ कर दिया। श्रद्धा से नत होते हुए मानव ने प्रकृत में अनेक गुण देखे। उसने देखा कि प्रकृति की प्रत्येक गति में एक नियम है। उसने देखा कि पर्वत अचल है, सरिता निरन्तर प्रवाहित होती रहती है, सूर्य नित्य ही तम का निवारण कर रहा है, वृक्ष फल दान में निरत हैं, वायु

सतत रूप से प्रवाहित हो रही है। प्रकृति के इस अमर क्रम के दर्शन कर मानव विचार मग्न हो गया। उसने सोचा जीवन का सत्य एवं अमर रूप यही है। इसीलिए अपने जीवन निर्माण के लिए मानव ने प्रकृति को आदर्श रूप में देखा। नीति और उपदेश ग्रहण करने की प्रेरणा मानव को प्रकृति के आदर्श रूप से ही प्राप्त हुई। अन्त में उसे इतना अमर विश्वास हो गया प्रकृति की प्रत्येक वस्तु किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्पन्न हुई है। अतएव मानव ने प्रकृति के कण-कण से उपदेश ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। वृक्षों से सेवा भाव, सरिता से परोपकार, सूर्य से सत्यपालन, पृथ्वी से क्षमाशीलता, पर्वत से दृढ़ता, आदि गुण ग्रहण किये। अतएव प्रकृति से नीति और उपदेश ग्रहण की मानव प्रवृत्ति नितान्त नूतन नही है। हमारे पौराणिक ग्रन्थों में ऐसे अनेक उदाहरण है। श्रीमद्‌भागवत में शरद ऋतु का वर्णन कैसा उपदेश पूर्ण है—

'शरदा नीरजोत्पत्या नीराणि प्रकृतिं ययुः।
भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योग निषेवया ।।'

श्रीमद्भागवत अध्याय २०, श्लोक ३३।

अर्थात् जैसे योगाभ्यास से भृष्ट योगियों का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है वैसे ही कमल उत्पन्न करने वाली शरद्‌ऋतु के आने पर सरोवरों का जल फिर निर्मल एवं स्थिर हो जाता है।

हिन्दी साहित्य में भी प्रकृति से नीति तथा उपदेश ग्रहण करने की प्रवृत्ति पूर्णरूप से मिलती है। गोस्वामी तुलसीदास पर श्रीमद्भागवत का पूर्ण प्रभाव पड़ा है। तुलसीदासजी भक्त कवि थे। उनके काव्य का उद्देश्य काव्यानन्द प्रदान करना ही नहीं वरन् लोक-कल्याण करना भी था। उन्होंने अवनत हिन्दू समाज के उत्थान का तो बीड़ा उठा लिया था। इसीलिए वे प्रकृति के रम्य अथवा उग्ररूप से प्रभावित न होकर लोक-कल्याण की भावना से अधिक प्रेरित हुए। वर्षा का सुन्दर प्रकृति-चित्रण, उपदेश एवं नीति से पूर्ण है।

'दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई। वेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई ।।
नव पल्लव भये बिटप अशोका। साधक मन जस मिले विवेका ।।
अर्क जवास पात बिन भयऊ। जस सुराज खल उद्यम गयऊ ।।'

—रामचरित-मानस—'किष्किंधा काण्ड'

वर्षा काल में दादुरों की ध्वनि, नये पत्तों से सुशोभित वृक्ष तथा पत्रहीन अर्क और जवासे अनुपम शिक्षा प्रदान करते है।

उपदेशात्मक प्रकृति-चित्रण का अन्य उदाहरण लीजिए—

'बरसहिं जलद भूमि नियराये। यथा नवहिं बुध विद्या पाये।
बुन्द अघात सहहिं गिर कैसे। खल के बचन सन्त सहैं जैसे॥
छुद्र नदी भरि चलि उतराई। जस थोरेउ धन खल बौराई।
भूमि परत भा डावर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी॥'

अचेतन प्रकृति के साथ-साथ तुलसीदास जी ने चेतन प्रकृति को भी ग्रहण किया है। प्रेम की अनन्यता चित्रित करने के लिए चातक-प्रेम का आदर्श अति अनुपम है। मेघ चाहे ओलों की वर्षा करे, चाहें पविपात, किन्तु प्रेमी चातक के प्रेम में कोई अन्तर नहीं आता है।

'उपल वरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुँ दूसरी ओर॥'

इस प्रकार तुलसीदास जी ने दृष्टान्त और उदाहरण द्वारा नीति और उपदेश अत्यन्त ही सरस ढग से दिये हैं। साधु और विरक्त होने के कारण इनके काव्य में नीति और ज्ञान का संदेश अति स्वाभाविक है।

तुलसी के पश्चात् रहीम, वृन्द, दीनदयाल गिरि और गिरिधर ने नीति और ज्ञान के उपदेश सुन्दरता से व्यक्त किये है। रहीम और वृन्द कवि ने दोहे लिखे हैं। उन्होंने प्रकृति के आदर्श द्वारा मनुष्य को जीवन-निर्माण का दिव्य उपदेश दिया है। रहीम के निम्नलिखित दोहे का अनुपम आदर्श देखिए :—

'रहिमन अति मत कीजिए, गहि रहिये निज कानि।
अतिसय फूलै सहजनौ, डार—पात कै हानि॥'

वृन्द कवि के नीति-विषयक दोहे भी अत्यन्त ही सरस, प्रभावपूर्ण तथा हृदय स्पर्शी हैं—

'दीवो अवसर को भलो जासों सुधरै काम।
खेती सूखे बरसिवो घन को कौने काम॥'

गिरिधर और दीनदयाल ने भी नीति और ज्ञान के उपदेश देने के लिए, अन्योक्तियों द्वारा प्रकृति का उपदेशात्मक रूप प्रकट किया है। इनकी कुण्डलियाँ

नीति तथा शिक्षा की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में विशेष स्थान रखती है। इन्होंने प्रकृति के किसी उपादान को अपना प्रतिपाद्य विषय मानकर, उस विषय को मानव के ऊपर घटाने का प्रयत्न किया है।

बिहारी शृङ्गार रस के रीति-कालीन कवि थे, इनकी कविता का उद्देश्य नायिका-नायक के भावों, मनोभावों तथा अन्य प्रेम की दशाओं का वर्णन करना था। फिर भी यत्र-तत्र प्रकृति-चित्रण में नीति और ज्ञान के उपदेश अवलोकनीय हैं—

'स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देख बिहंग विचारि।
बाज पराये पानि पर, तू पंछीहि न मारि॥'

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी प्रकृति-वर्णन में उपदेश की भावना यथेष्ट रूप में मिलती है। अयोध्यासिंह उपाध्याय जी के काव्य का उपदेशात्मक रूप देखिए—

'समय पर होता है भव कार्य,
नियति है कितनी नियमन शील।'

इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त भी प्रकृति को अनेक सद्गुणों से परिपूर्ण देखते हैं। वह उपदेशिका की भाँति मानव को शिक्षा देते हैं। शकुन्तला में सभी गुणों का समावेश प्रकृति की शिक्षा द्वारा ही हुआ था।

'हंस और मीनों से उसने जल में तरना सीखा था।
शीतल और सुगंध पवन से मंद बिचरना सीखा था॥
होम शिखा में सद्भावों का जग में भरना सीखा था।
आश्रम के उन्नत विटपों से परहित करना सीखा था॥'

—शकुन्तला

माखनलाल चतुर्वेदी जी ने 'झरना' में जीवन-पथ पर अग्रसर होने का मानव को अनुपम उपदेश दिया है—

'पर तेरे पथ को रोकें, जिस दिन काली चट्टानें।
साथी तरु लता भले ही, तुझको लगजायँ मनाने॥
तब भी तू जरा ठहरकर, सीकर संग्रह कर अपने।
चट्टानों के मनसूबे, चढ़-चढ़ कर देना सपने॥'

अव्यक्त शक्ति अथवा अध्यात्मतत्त्व के रूप में प्रकृति-चित्रण

मानव ने जैसे ही अपने नेत्र खोले, उसने सारी प्रकृति को आश्चर्य से भरा देखा, उसने एक ही पौधे पर पुष्प और कंटक लगे देखे। उसकी दृष्टि आकाश में असंख्य तारों पर पड़ी। उसने छोटे-छोटे बीजों में विशाल वृक्षों को उत्पन्न करने की शक्ति का अनुभव किया। फलतः उसके आश्चर्य की सीमा बढ़ती गयी। बिना मूल की अमरबेलि को हराभरा देखकर वह आश्चर्य सागर में मग्न होगया और सहसा पुकार उठा—

'तेरी सत्ता के बिना हे प्रभु मंगल मूल।
पत्ता तक हिलता नहीं, खिले न कोई फूल।।'

अतएव प्रकृति के पीछे, प्रकृति के भी आदि कारण, अव्यक्त शक्ति के दर्शन, मानव ने आश्चर्य की प्रवृत्ति से ही किये। वह आश्चर्यान्वित हो, जल, मेघ, आकाश, अग्नि, समीर को देवत्व प्रदान कर वरुण, इन्द्र, सूर्य, वायु आदि नाम से तो पहले ही उपासना करने लगा था। तदनन्तर उसने इन समस्त उपादानों की मूलशक्ति की कल्पना की और इस शक्ति को अव्यक्त शक्ति अथवा ईश्वर के नाम से सम्बोधित किया। यही नहीं, मानव ने इस अव्यक्त शक्ति को, अधिकाधिक महत्व प्रदान करने के लिए अजर, अमर एवं अविनाशी बताया और जीवन की नियामिका इसे ही ठहराया। तदनन्तर प्रकृति के प्रत्येक चेतन, अचेतन वस्तु में मानव ने इस अव्यक्त शक्ति के अंश के दर्शन किये जिसे आत्मा के नाम से पुकारा। ब्रह्म, आत्मा आदि सत्ता की कल्पना ने मानव की जिज्ञासा को परितोष प्रदान किया। अतएव प्रकृति के अणु-अणु में ब्रह्म ढूँढ़ने का प्रयत्न और उसमें अध्यात्म के आरोप की प्रणाली प्राचीन काल से ही है। हमारे वैदिक तथा पौराणिक कालीन साहित्य में इसके अनेक उदाहरण हैं। श्रीमद्‌भगवत गीता में इस अव्यक्त शक्ति के विराट् रूप के पूर्ण दर्शन होते हैं—

'यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।

गीता—अध्याय १०—श्लोक ३९

अर्थात् हे अर्जुन समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का कारण मैं हूँ। जो कुछ स्थावर या जंगम है वह मेरे बिना नही है।

तदनन्तर अध्यात्मतत्व की यह भावना हिन्दी काव्य में पूर्ण रूप से लक्षित होती है। कबीर ने प्रकृति के जल और हिम तत्वों का वर्णन कर आध्यात्मिक तत्व का सुन्दर विवेचन किया है—

'पानी ही ते हिम भया, हिम ही गया बिलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाय।

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में विश्व की सारी प्रकृति कबीर को उसी अव्यक्त अथवा चेतन शक्ति से अनुप्राणित होती हुई दिखाई देती है—

'लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी ह्वै गई लाल।'

जायसी ने उस अमर, अखण्ड एवं अजर ज्योति के सम्पूर्ण सृष्टि में दर्शन किये हैं—

'रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ जहँ विहँसि सुभावहिं हँसी।
तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी॥'

—पद्मावत।

तुलसीदास जी ने भी प्रकृति में अध्यात्मतत्व की पावन झाँकी की है। 'श्यामजलद मृदु घोरत धातु रंगमगे शृङ्गनि' को देखकर उनकी कल्पना कैसी स्वाभाविक है—

'मनहुँ आदि अम्भोज विराजति, सेवित सुर मुनि शृंगनि।'

आधुनिक युग में भी हिन्दी कवियों ने प्रकृति में अध्यात्म तत्व के दर्शन किये हैं किन्तु उनका दृष्टिकोण नितान्त भिन्न है। कहीं कवि प्रकृति के सृजन, संचालन और संहार को देखकर अचरज में पड़ जाता है तो कहीं प्राकृतिक दृश्यों को देखकर उसके हृदय में एक अद्भुत जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है। हरिऔध जी की प्रकृति के प्रति मनोभावना देखिए :—

'ले बहुरंग बलाहक व्योम को
छींट बनाता है कौन सा छीपी।'

—कल्पलता

दूसरे क्षण उनकी जिज्ञासा शान्त हो जाती है और वह जड़ चेतन सभी में उसी परम सत्ता की झाँकी करते हैं। संसार की वस्तुएँ—जैसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी, जल, पवन, आकाश आदि सभी उस परम शक्ति के प्रकाश से आलोकित दिखाई देते हैं। चारों ओर उसकी लीला का प्रसार ही दिखाई देता है—

'ताराओं में तिमिरहर में बह्नि में और शशी में,
पाई जाती परम रुचिरा, ज्योतियाँ है उसी की।
पृथ्वी, पानी, पवन, नभ में, पादपों में, खगो में,
देखी जाती प्रथित प्रभुता विश्व में व्याप्त ही है।

—प्रिय प्रवास

प्रसाद जी के काव्य में आध्यात्मतत्व की प्रधानता है। उनके विचार से प्रकृति का प्रत्येक कार्य उसी अव्यक्त शक्ति से अनुप्राणित है। उनकी दृष्टि में प्रकृति सजीव एवं चेतन है। इसीलिए प्रकृति के अणु-अणु में वे उसी ब्रह्म के दर्शन करते है। उन्हें सारा विश्व ब्रह्ममय दिखाई देता है। इस प्रकार प्रसाद जी में सर्ववाद की भावना अति प्रवल है—

'तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना,
वो देख सकता है, चन्द्रिका को।
तुम्हारे हँसने की धुन में नदियाँ,
निनाद करती ही जा रही हैं।'

निराला जी के काव्य का प्रधान तत्व रहस्यवाद है। वह आत्मा और परमात्मा के मिलन की झाँकी प्रकृति में पूर्ण रूप से करते है। इसी साक्षात्कार के प्रयत्न में वह कभी भावुक बन जाते है, तो कभी दार्शनिक। अन्त में वह सुरंजित सुमन, अरविन्द नन्दन, नील नभोमंडल और रवि शशि को उसी महान शक्ति द्वारा रचित देखते हैं, तदन्तर उनको यत्र, तत्र, सर्वत्र उसी अनन्त शक्ति की ज्योति दिखाई देती है।

'गगन घन विटपी, सुमन, नक्षत्र, ग्रह, नव ज्ञान
बीच में तू हँस रही ज्योत्स्ना वसन परिधान।

—गीतिका

महादेवी वर्मा में रहस्य भावना प्रधान है। वह सारी सृष्टि में उसी परोक्ष सत्ता के दर्शन करती है। अतएव उनके काव्य में रहस्यवाद तथा आध्यात्मिक पक्ष की अतिशयता है। प्रियतम के अनन्त सौन्दर्य का आभास उन्हें प्रकृति में पूर्ण रूप से मिलता है।

'मुसकाता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले है।'

अन्त में वह अनन्त शक्ति में ही अपने अस्तित्व को मिटा देने में अपने जीवन की सार्थकता समझती है।

'अलि कहाँ संदेश भेजूँ ?
मैं किसे संदेश भेजूँ ?'
प्रिय मुझी में खो गया अब दूत को किस देश भेजूँ।'

—दीप शिखा

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्रकृति में कलाकारों की पूर्ण आस्था है। आधुनिक युग में अनेक कलाकार इस प्रकृति देवी के चरणों पर काव्याञ्जलि समर्पित करने में संलग्न हैं।



छायावाद

उन्नीसवी शताब्दि के अन्तिम चरण में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी ने हिन्दी साहित्य-जगत में एक विशेष परिवर्तन उपस्थित कर दिया था। रीति-कालीन साहित्य स्थिरता तथा संकीर्णता के कारण नीरस था। उसमें जीवन के माधुर्य का अभाव था। सभी कवि समान भाषा, समान छन्द, और समान वर्ण्य विषय लेकर कविता करते थे। इन रूढ़ियों के विरुद्ध भारतेन्दु जी ने विद्रोह किया। नवयुग का श्री गणेश हुआ। इस प्रतिक्रिया का स्वरूप द्विवेदी युग में अधिक व्यापक होगया। इस युग में पुनरुत्थान की प्रवृत्ति अधिक बढ़ गयी। अधिकांश कवि समाजसुधार, देशभक्ति, अतीत-स्तवन आदि में मग्न रहने लगे। इन कवियों ने रीतिकाल की ऐन्द्रिकता, अश्लीलता एवं स्थूल सौन्दर्य का पूर्ण विरोध किया। फलतः द्विवेदी युग के काव्य में नीरसता, उपदेशात्मकता तथा बौद्धिक सहानुभूति प्रत्यक्ष दिखाई देने लगी। सुधारवादी मनोवृत्ति का फल यह हुआ कि काव्यात्मा नैतिकता के आवरण से अपने स्वाभाविक आकर्षण को खो बैठी। इसके अतिरिक्त संस्कृत काव्यादर्श पालन की विशेष प्रवृत्ति ने इस काल के कवियों की भावधारा को भी ठेस पहुँचाई। फलतः द्विवेदी कालीन काव्य में एक ओर इतिवृत्तात्मकता का समावेश हुआ तो दूसरी ओर इस काल की कविता लोकानुभूति से उस पार की वस्तु बन गई। इसी की प्रतिक्रिया में छायावाद का जन्म हुआ। वस्तुतः छायावाद के प्रचलन के कारण प्रतिक्रिया-मूलक ही हैं।

डाक्टर नगेन्द्र भी छायावाद का जन्म एक प्रतिक्रिया के रूप में मानते हैं। उनका विचार है कि १९१९ ईसवी के महासमर के पश्चात् यूरोपीय जीवन में एक निस्सारता एवं आडम्बर का समावेश हुआ। अपने को उन्नतशील, शिक्षित एवं सभ्य कहने वाले यूरोप के निवासी जीवन में एक निराशा, नीरसता एवं अविश्वास का अनुभव करने लगे। उन्नति की चरमावस्था पर पहुँचकर, महासमरानल में विध्वंश का प्रलयंकारी एवं ताण्डव नृत्य देखकर, यूरोपीय

जीवन में ऐसी निराशा का अनुभव करना स्वाभाविक था। इसके प्रतिकूल, पराधीन भारत में जीवन के प्रति एक आशा एवं स्पन्दन था। युद्ध के पश्चात् भारत की उद्बुद्ध चेतना अनेक आशाएँ लगाये बैठी थी। उसमें स्वर्णिम अनागत की स्वर्णिम अभिलाषाओं की साकार कल्पना थी। वस्तुतः भारत की आत्मचेतना का यह प्रारम्भिक रूप था। यही नहीं, पश्चिम के स्वच्छन्द विचारों के सम्पर्क से भारतीय हृदय राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों को तोड़ने को लालायित था। किन्तु 'राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचलसत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता, असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन मे जाकर बैठ रहीं थीं और वहाँ क्षतिपूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रहीं थीं। आशा के इन स्वप्नों और निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।'

इस प्रकार हमारे यहाँ छायावाद का जन्म ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा भारतीय आदर्शवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। वहिर्जगत की संत्रस्तता तथा अनेक राजनीतिक, सामाजिक नियन्त्रण एवं अवरोधों ने भारतीय कलाकार की चेतना को अन्तर्मुखी बना दिया। भारतीय कलाकार बर्हिजगत की रिक्तता एवं शून्यता से त्रस्त होकर अपने अन्तर्जगत में सन्तोष के प्रसाधन ढूँढ़ने लगा। फलतः उसकी संवेदना पर व्यक्तिवाद का पूर्ण प्रभाव पड़ा। द्विवेदी युग की कविता इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत थी। इसके अतिरिक्त उस कविता का वर्ण्य विषय भी वहिर्जगत से सम्बन्ध रखता था। द्विवेदी युग का कवि बहिर्मुख होकर कविता लिखता था। छायावादी काव्य ने भावात्मक रूप को स्वीकार किया। उसका विषय अन्तर्जगत से सम्बन्ध रखने लगा। फलतः व्यक्तिभाव से प्रभावित होकर छायावाद का कवि आत्मलीन होकर अन्तर्जगत के गीत गाने लगा। अतः द्विवेदी युग की साहित्यिक मान्यताओं को ध्वस्त करके ही छायावाद का जन्म हुआ।

बाबू गुलाबराय जी का विचार है कि जिस प्रकार द्विवेदी युग की कविता रीतिकालीन साहित्यिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह करने चली थी, उसी प्रकार छायावाद ने द्विवेदी काल की साहित्यिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह का नारा

उठाया। द्विवेदी युग की कविता ने राष्ट्रीयता एवं सुधारवाद के गीत गाकर रीतिकालीन शृङ्गारिक भावनाओं को दबाना चाहा किन्तु 'राष्ट्रीयता हृदय की कोमल भावनाओं को न दबा सकी और शृङ्गारिक भावनाएँ एक उन्नत रूप में प्रकाश में आईं। शृङ्गार का मानसिक पक्ष प्रबल हुआ और उनकी सारभूत कोमलता ने साहित्यिक वातावरण को व्याप्त कर दिया।.........जीवन की बाहरी सुशुष्कता के अन्तस्तल में बसने वाली सौन्दर्यसुषमा को बाहर लाकर उसको एक सरस मधुरावेष्टनमयी कोमल कान्त पदावली में अभिव्यक्त करने की ओर हमारे नव्युवक कवि अग्रसर हुए।' इसीलिए कतिपय आलोचक छायावादी काव्य को रीतिकालीन शृङ्गारपरक काव्य का आधुनिक कलात्मक संस्करण मानते है।

अब प्रश्न उठता है कि हमारे हिन्दी साहित्य में छायावाद की इस नूतन शैली का प्रादुर्भाव कैसे हुआ? हिन्दी साहित्य के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्विवेदी कालीन हिन्दी काव्य में अँग्रेजी तथा बँगला साहित्य से परिचित लोग, तथा ब्रजभाषा काव्य मर्मज्ञ, कविता के स्वाभाविक माधुर्य, पद लालित्य, शैली-शिल्प, अलौकिक व्यंजना आदि के अभाव का अनुभव करने लगे थे। काव्य की इस स्थिति को देखकर हिन्दी-कवियों अथवा हिन्दी-उपासकों की यह आकांक्षा थी कि हिन्दी कविता को सुष्ठु एवं परिमार्जित रूप देकर बँगला आदि भाषा की भाँति किस प्रकार उन्नत किया जाए। कविवर मैथिलीशरण गुप्त एवं मुकुटधर पाण्डेय जी ने हिन्दी कविता को मार्मिक एवं भावमयी बनाने हेतु पर्याप्त प्रयास भी किया था। अतएव इस नूतन शैली के प्रवर्त्तकों के रूप में उपयुक्त दोनों महारथी विशेष स्थान रखते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी यह पूर्णरूप से स्वीकार किया है—"......छाया-वाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यञ्जना की रोचक प्रणाली का विकास था जो धीरे-धीरे अपने स्वतन्त्र ढर्रे पर श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय आदि के द्वारा हो रहा था।" इसके अतिरिक्त बँगभाषा की कविताओं को देखकर, जिनपर योरोपीय प्रतीकवाद (Symbolism) का पूर्ण प्रभाव था, कुछ हिन्दी कवि भी वैसी ही कविता करने लगे थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पाश्चात्य आध्यात्मिक रहस्यात्मक शैली पर लिखी 'गीताञ्जलि' तथा

बंगीय भाषा में ईसाई पादरियों के 'छायाभास' आदि ने हमारे हिन्दी कवियों को पूर्ण प्रभावित किया और वे 'छायावाद' को ग्रहण कर उसी अनुकरण की कविता करने लगे। इसके अतिरिक्त उस समय पराधीन भारत, पराधीनता की मनोवृत्ति की भावना से आक्रान्त होकर, अँग्रेज शासकों की सभ्यता, साहित्य आदि को सर्वोच्च समझता था। वह निर्विवाद रूपेण शासकों की प्रत्येक गति को अनुकरणीय समझता था। अतएव हमारे हिन्दी साहित्य में 'छायावाद' के प्रादुर्भाव का अन्य कारण दासत्व भावना से आक्रान्त बौद्धिक ह्रास की अवस्था में विदेशी साहित्य की अन्धानुकृति भी है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में 'छायावाद' का प्रादुर्भाव एक वैज्ञानिक विकास है।

हिन्दी छायावादी काव्य-धारा का युग १९१३–१९३६ ईसाब्द तक माना जाता है। अब प्रश्न उठता है कि इस अनुपम-धारा का प्रवर्तक कौन है। सियारामशरण गुप्त जी ने आचार्य शुक्ल के इतिहास के आधार पर मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पान्डेय को 'हिन्दी कविता की नई धारा' (छायावाद) का प्रवर्तक माना है। रायकृष्णदास, सुमित्रानन्दन पन्त, इलाचन्द्र जोशी जयशंकर-प्रसाद जी को छायावाद का जनक मानते हैं। विनय मोहन शर्मा तथा प्रभाकर माचवे ने माखनलाल चतुर्वेदी को छायावाद के प्रवर्तक के रूप में देखा है। नन्द-दुलारे वाजपेयी जी ने १९१३ से १९२० तक की स्वच्छन्दवादी काव्य-धारा को 'छायावाद' की विशिष्ट काव्य-शैली माना है। उनके विचार से रायकृष्णदास, मुकुटधर पाण्डेय और प्रसाद आदि छायावादी कवि हैं। भिन्न-भिन्न विद्वानों के पृथक-पृथक मत से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सन् १९१३ से छायावादी काव्य-धारा का प्रारम्भ होता है। वस्तुतः १९१३ से १९३६ तक का सम्पूर्ण गीति-काव्य छायावादी काव्य ही है। इसके सर्व-प्रथम दर्शन हमें प्रसाद जी के 'आँसू' तथा सुमित्रानन्दन पन्त की 'वीणा' में समझना चाहिए। इस काव्य-धारा का शुद्ध एवं निर्मल रूप इन्हीं महान् कलाकारों की कृतियों में सर्व-प्रथम दिखाई देता है। साधारणतया इस काव्य-धारा के विकास क्रम को हम तीन अवस्थाओं में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) प्रारम्भिक अवस्था—इसके अन्तर्गत अधिकांश कविताएँ बंगीय एवं अँगरेजी स्वच्छन्दतावादी साहित्य की अन्धानुकृति ही कही जाएँगी। ये नितान्त

अस्पष्ट हैं। इसीलिए इनका नाम छायावादी कविता पड़ा।

(२) मध्यावस्था—कुशल और प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों के अथक प्रयास एवं अटूटलग्न से जब ये कविताएँ साधारण जनता के लिए स्पष्ट काव्यानन्द प्रदान करने लगीं। इसके अन्तर्गत प्रसाद, रामकुमार वर्मा, पन्त, रामनरेश-त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त, मोहनलाल 'महतो', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि कवियों की रचनाएँ आती है।

(३) चरमावस्था—जब हिन्दी साहित्याकाश में इस काव्य-धारा का व्यापक एवं एक-छत्र प्रभाव अवलोकित होने लगा। 'कामायनी' जैसा उत्कृष्ट ग्रन्थ इसी अवस्था में प्रसव रत्न है जिसका अक्षय आलोक कभी मन्द न होगा।

इस प्रकार छायावादी काव्य १९१३ से १९३६ तक के समय की अनुपम देन है। इस नवीन काव्य-धारा का नामकरण संस्कार प्राचीनता के पोषकों द्वारा हुआ था जिन्होंने प्रारम्भ में इन कविताओं को अस्पष्ट समझ-कर छायावाद के नाम से सम्बोधित किया। इस काव्य-धारा को यह नाम सर्व-प्रथम व्यंग्य के रूप में दिया गया था जैसा कि पन्त की अरुचि से स्पष्ट व्यक्त होता है—"छायावाद नाम से मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ। यह तो द्विवेदी युग के आलो-चकों द्वारा नई कविता के उपहास का सूचक है।"

कालान्तर में 'छायावाद' शब्द साहित्य में विशेष स्थान पा गया। अतएव इसका प्रयोग भी विशेष अर्थ में होने लगा। इससे पूर्व कि हम छायावादी काव्य की विशेषताओं का विवेचन करें, यह प्रश्न भी विचारणीय है कि इस कविता का नाम छायावाद क्यों पड़ा ? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद का सम्बन्ध आँग्लभाषा के 'Phantasmeta' शब्द से जोड़ा है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'छायाभास'। उनके मतानुसार योरुप में सिद्ध पुरुषों के आध्यात्मिक अनुभवों को प्रकट करने वाली वाणी के अनुकरण पर होने वाली कविता 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत गिनी जाती थी। यह कविता उक्त रहस्यमय ज्ञान का रूपकों में आभा-समात्र दे पाती थी। अतएव यह ज्ञान 'छाया' (Phantasmeta) के नाम से पुकारा गया। सर्व-प्रथम भारत में बंग देश में उक्त वाणी के अनुकरण पर जिन गीतों का निर्माण हुआ उन्हें 'छायावाद' की संज्ञा प्रदान की गयी। तदनन्तर बँगला के माध्यम और सम्पर्क द्वारा यह शब्द हमारे हिन्दी साहित्य

में आया । कतिपय विद्वान, गीताञ्जलि तथा अँगरेजी स्वच्छन्दतावाद के अनुकरण पर हिन्दी साहित्य में होने वाली कविताओं को सर्व-प्रथम व्यंग्य रूप से छायावाद की संज्ञा देने के पक्ष मे अपने विचार प्रकट करते है जो बाद में वस्तुतः अपनी निजी विशेपताओं के कारण इसी नाम से साहित्य में स्थान पा गयीं । जयशंकर प्रसाद जी के मतानुसार छायावाद का सम्बन्ध संस्कृत काव्य में आये हुए शब्द 'छाया' से है जो कि मोती की आभा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । वैसे तो संसार की प्रत्येक वस्तु में एक अज्ञात सजीव छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है । आचार्य शुक्ल जी 'छायावाद' को शैली की विशेपता मानते है जिसे दूसरे शब्दों में प्रतीकात्मक-शैली कह सकते हे । ऐसी शैली में कवि मूर्त की अमूर्त से तुलना, मानवीकरण और विशेषण विपर्यय, अलङ्कारों की विशेषता, आकर्षक शब्द-चयन, अन्योक्ति के आश्रय तथा लक्षणा-व्यञ्जना के प्रयोग की ओर अधिक ध्यान देता है । सुश्री महादेवी वर्मा ने अपने शब्दों में छायावाद की बड़ी सारगर्भित व्याख्या की है—

'छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये है जो प्राचीन-काल से बिम्ब-प्रतिविम्ब रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी । छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एक रूपता के समान अनेक रूपों में प्रगट एक महाप्राण बन गयी । अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जल-करण और पृथ्वी के ओस बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है ।'

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय जी ने छायावाद का विश्लेषण अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया है । उनका कथन है कि 'छायावादी कवि का मुख्य उद्देश्य असाधारण भावावेश को व्यक्त करना है । यह कोई नई बात नहीं है । प्रायः प्रत्येक युग में अनन्त प्रकृति के बीच विषमता को देखकर भावुक लोगों ने ऐसी अभिव्यक्तियों की शरण ली है ।' पाण्डेय जी ने छायावाद की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है । प्रथम अवस्था में सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव अपने संदेह में सजग रहता है । द्वितीयावस्था में मानसिक अशान्ति की व्याकुलता का आभास मिलता है । उस समय कलाकार अपने को खोया हुआ सा अनुभव करता है । तदनन्तर

तृतीयावस्था में उसके अपने प्रेम का प्रकाश व्याप्त हो जाता है। उस समय कलाकार सन्तोष के साथ अपने व्यापक रूप में अपने को लीन कर देता है। यह छायावाद की चरम परिणति है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक युग की भावनाओं का प्रतिविम्ब ही छायावाद है। उसमें हमारी भावनाएँ कही स्पष्ट और कही अस्पष्ट प्रतीत होती हैं। हमारे साहित्य में छायावाद कोई नवीन वस्तु नहीं है। क्रौंच पक्षी के बध को देखकर आदि कवि वाल्मीकि की अन्तरात्मा पीड़ित हो उठी, यह छायावाद ही है। सीता के वियोग में भगवान रामचन्द्र का वृक्ष और लताओं का आलिंगन करना, जड़ वस्तुओं में अपनी आत्मा की छाया देखना, छायावाद ही है।

इस प्रकार छायावाद का प्रयोग हमें दो रूपों में मिलता है। प्रथम रहस्यवाद के अर्थ में जिसके अनुसार कलाकार आत्मा का सम्बन्ध आत्मा से दिखाता है अथवा प्रकृति में मानवीय अथवा ईश्वरीय भावों का आरोप करता है। द्वितीय रूप में छायावाद का अर्थ एक विशेष प्रकार की काव्य-शैली के व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाता है। छायावाद के प्रयुक्त अर्थ के पहले रूप को हम आध्यात्मिक दृष्टिकोण तथा द्वितीय रूप को शैलीगत दृष्टिकोण की संज्ञा दे सकते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का कथन भी इसी प्रकार है:—

'छायावाद का प्रयोग दो अर्थो में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध कथावस्तु से होता है अर्थात् कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यञ्जना करता है। छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है।"

इससे पूर्व कि हम छायावाद की परिभाषा एवं व्याख्या के सम्बन्ध में निश्चित मत प्रकट करें, छायावाद के विषय में भिन्न-भिन्न मतों को देखना आवश्यक है—

जयशंकर प्रसाद—"कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश विदेश की सुन्दरी के बाह्य-वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से

अभिहित किया गया।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—"रहस्यवाद के अन्तर्गत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने संतों या साधकों की उस वाणी के अनुसरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। उस रूपात्मक आभास को यूरोप में 'छाया' कहते थे। इसी से बंगाल में ब्रह्म-समाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे छायावाद कहलाने लगे।"

महादेवी वर्मा—"छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद में है।"

रामकुमार वर्मा—"आत्मा व परमात्मा का गुप्त वाग्विलास रहस्यवाद है और यही छायावाद।"

गुलाबराय—"छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही मानव और प्रकृति का एक आध्यात्मिक आधार बतलाकर एकात्मवाद की पुष्टि करते है।"

नन्ददुलारे वाजपेयी—"नई छायावादी काव्य-धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है।"

गंगाप्रसाद पाण्डेय—"विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात, सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है।"

जैनेन्द्रकुमार—"छायावाद में अभाव को अनुभूति से अधिक कल्पना से भरा गया। वियोग उसके लिए मानो एक Cult (दृष्टि) ही हो गया। आँसू मानो छिपाने की चीज नहीं, दिखाने की वस्तु हो चला। व्यथा संग्रहणीय न होकर बिखेरी जाने लगी। जो वेदना संजोयी जाकर बल बनती, वह साज सज्जा से प्रस्तुत की जाकर छायामात्र रह गई।"

नगेन्द्र—"आज से बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व युग की उद्‌बुद्ध चेतना ने बाह्याभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की, वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई·········कोई आध्यात्मिक प्रेरणा छायावाद के मूल में है—यह मानना भ्रान्ति होगी।"

देवराज—"आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह ही छायावाद है।············छायावाद रीतिकाव्य

है, प्रकृति काव्य है, प्रेम काव्य है।"

इनके अतिरिक्त भी कतिपय विद्वानों ने छायावाद की अन्य परिभाषाएँ दी है। किसी का कथन है कि जो अस्पष्ट एवं धूमिल है, वही छायावाद है। कतिपय रहस्यवाद के प्रथम रूप को छायावाद मानते है। कोई 'रोमांसवाद' के भारतीय संस्करण को छायावाद की संज्ञा देते है। कोई स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह को छायावाद के नाम से पुकारते है। इस प्रकार छायावाद की परिभाषा के अनेक रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत है किन्तु उनमें से अधिकांश एकांगी तथा अपूर्ण है। उपर्युक्त परिभाषाओं में से एक भी परिभापा छायावाद के वास्तविक एवं पूर्ण रूप पर प्रकाश नही डालती। सम्भवतया यदि उपर्युक्त सभी परिभाषाओं को समान दृष्टिकोण से समन्वित कर लिया जाए, तो न्यूनाधिक रूप में छायावाद की समस्त विशेषताओं पर प्रकाश पड़ जाए। इस दृष्टिकोण से छायावाद की विशेषताओं के विषय मे प्रसाद जी के विचार उल्लेखनीय है :—

"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्य, प्रतीक विधान, तथा उपचार बक्रता के साथ स्वानुभूति की निवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ है।"

उपर्युक्त छायावाद की परिभाषाओं एवं व्याख्याओं के आधार पर हम छायावादी आलोचकों को निम्नलिखित वर्गो मे विभाजित कर सकते है।

(१) पक्ष-वर्ग—इस वर्ग के अन्तर्गत गंगाप्रसाद पाण्डेय, बाबू गुलाबराय आदि छायावादी भक्त-आलोचक है। इनके अतिरिक्त छायावादी कवि जो आलोचक भी है—यथा—प्रसाद, महादेवी वर्मा, पन्त, रामकुमार वर्मा आदि भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आते है।

(२) विपक्ष-वर्ग—आचार्य शुक्ल तथा डाक्टर देवराज आदि आलोचक छायावादी काव्य के विपक्ष में हैं। वे इस साहित्य को कोई विशेष महत्व प्रदान न कर एक विशेष एवं अनुपम शैली की संज्ञा देते हैं।

(३) तटस्थ-वर्ग—इस वर्ग के अन्तर्गत नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र तथा शान्ति प्रिय द्विवेदी जी आते है। ये आलोचक छायावाद के जितने पक्ष में दिखाई देते हैं, उतने ही विपक्ष में। उनकी छायावाद सम्बन्धित आलोचनाएँ ग्राह्य है।

(४) विध्वंशक-वर्ग—इस वर्ग के अन्तर्गत डाक्टर रामविलास शर्मा आदि आलोचक हैं जिन्होंने छायावाद की वायवी भाववस्तु तथा शैली का एक स्वर से विरोध कर उसके स्थान पर प्रगतिवाद आदि की प्रतिष्ठा की है।

विभिन्न वर्गों के मतों पर एक विहंगम दृष्टि डालते हुए हमें छायावाद के गुण-दोषों की विवेचना करनी है। गंगाप्रसाद जी पाण्डेय ने छायावादी काव्य की भूरि-भूरि प्रशंसा कर उसे अमर स्थान प्राप्त कराया है—

"भारतीय-साहित्य-समाज के अन्तःपट पर छायावाद ने जो भावो की कसक भरी मीठी मनुहार दी है, जो मादक रागिनी छेड़ी है, जो बासन्ती तान गुञ्जित की है, उल्लास की वीणा पर भव्य भावनाओं की जो कोमल उगलियाँ फेरी हैं, कल्पना के कमनीय पंखों पर उड़कर संसार की जो सुनहली झाँकी ली है, वह सब अपनी सरसता, स्निग्धता तथा संगीतमयता के कारण अमिट और अमर है, इसमें सन्देह नहीं है।"

छायावाद के पक्ष में इससे अधिक गुणगान क्या हो सकता है। पाण्डेय जी ने छायावाद के सौष्ठव तथा उत्कृष्टता की पुष्टि बड़े सुन्दर ढंग से की है। उनका कथन है कि छायावाद में हमारी आत्मा, अखिल विश्व के समस्त उपकरणों से अपने मानस की सर्वत्र व्याप्त भावानुभूति का आश्रय लेकर एकाकार करना चाहती है। फलतः हमारा हृदय रागात्मक आत्मीयता से इतना अपरिचित हो जाता है कि अपनी भावसत्ता से समस्त जड़ चेतन पदार्थों को अपना बना लेता है—'उस समय की पूर्णता में, अपनी बेसुध विह्वलता में हमारे हाथ से जो मूर्ति बनेगी, हमारी तूलिका से जो चित्र निर्मित होगा, हमारे स्वर से जो रागिनी छिड़ेगी, हमारे अंगों से जो भावव्यञ्जना होगी तथा हमारे कंठ से जो वाणी फूट पड़ेगी वह सब छायावाद ही के प्राणों से अनुप्राणित, उसी की गति से गतिशील तथा उसके रंग में रंगी होगी।' अतएव यह निर्विवाद स्वीकार करना पड़ेगा कि छायावादी काव्य में भावों की मधुर व्यञ्जना अनियन्त्रित रूप से पाठक को मन्त्रमुग्ध कर लेती है। साधारणतया मानव का मानव के प्रति, पशु का पशु के प्रति अधिक प्रेम होता है। किन्तु कभी-कभी हमारे जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं जब हमें प्रेम में अपनी चेतना का, अपनी शिक्षा का, अपनी सभ्यता का तथा अपने अस्तित्व का ध्यान नही रहता है। उस समय हमारी आत्मा सारी

सृष्टि में, सर्वत्र अपनी आत्मा की छाया ही देखती है। अन्त में अपनी आत्मा 'स्व' का रूप ही विलीन हो जाता है। अभिन्नता, एकात्मिकता, एकाकारिता, एवं एकरूपता की इस अलौकिक अवस्था में आनन्द का पारावार नही रहता है। निम्नलिखित पंक्तियों में इस निगूढ एवं एकात्म ऐक्य की पावन झाँकी कीजिए :—

'किसी अश्रुमय घन का हूँ कन
टूटी स्वर लहरी का कम्पन
या ठुकराया गिरा धूल में
हूँ मैं नभ का फूल !
कहीं से आया हूँ कुछ भूल !'

इस प्रकार नवीन तथा मुक्तक छंद, अलौकिक शैली, संगीतमयता आदि-आदि गुणों से युक्त छायावाद कलापक्ष तथा भावपक्ष दोनों की दृष्टि से आधुनिक युग की अमर देन है।

बाबू गुलाबराय जी ने भी छायावाद को अन्तस्तल में बसने वाली सौन्दर्य सुषमा की कोमल कान्त पदावली पूर्ण अभिव्यक्ति कहा है। जयशंकर प्रसाद तथा महादेवी वर्मा दोनों ने ही छायावाद में स्वानुभूति पर विशेष बल दिया है। ये छायावाद को केवल शैलीमात्र ही नहीं स्वीकार करते वरन् एक विशेष भाव पद्धति पर आधारित सच्ची काव्यधारा के रूप में ग्रहण करते हैं। इनके दृष्टिकोण से छायावादी प्रवृति का एक निजी आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण है। उसी दार्शनिक विचारधारा के आलोक में छायावादी कवि अपनी निजी शैली में अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। महादेवी वर्मा के अन्तःकरण से निसृत विचारावली से यह स्पष्ट हो जाता है :—

"छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य सृष्टि उपस्थित करदी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों

का भार सँभाल सकी ।"

इस प्रकार महादेवी वर्मा ने, दार्शनिक ब्रह्मवाद, बुद्धि द्वारा जीवन की अखण्डता का विश्वास, हृदय द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य, सत्तानुभूति तथा स्वानुभूति, सुख-दुख आदि छायावादी काव्य सृष्टि के मूलतत्व स्वीकार किये हैं। प्रसाद जी भी छायावाद को भावगत काव्यधारा मानते हैं। उनके मतानुसार 'अपने भीतर से पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया.........कान्तमय होती है'। वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति को छायावाद के नाम से अभिहित किया जा सकता है। आंतरिक स्पर्श की पुलक, नूतन शैली, स्वतन्त्र सौन्दर्य इसके तत्व है। रामकुमार वर्मा ने भी छायावाद को अध्यात्मपूर्ण भावात्मक रूप में देखा है।

संक्षेप मे गंगाप्रसाद पाण्डेय, प्रसाद, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा आदि छायावाद की आध्यात्मिक व्याख्या मे ही विश्वास रखते हैं। यहाँ केवल एक शंका होती है। वह यह कि अधिकांश छायावादी कवि प्रगतिवाद की ओर झुक गये है और इस प्रकार प्रगतिवादी कविताओं में भी छायावादी शैली की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि छायावाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होने वाले प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी काव्य में भी छायावादी शैली का प्रयोग हो सकता है। इस दृष्टिकोण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत कि छायावाद नवीन युग की प्रतीकात्मक शैली है, अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

आचार्यशुक्ल तथा डाक्टर देवराज छायावाद को एक विशेष काव्य शैली के रूप में ही स्वीकार करते है जो द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में उद्भूत हुई। छायादाद के प्रचलित आध्यात्मिक विचारधारा के विषय में शुक्ल जी की धारणा यह है कि सिद्ध सन्तों के अनुकरण पर मिथ्या अनुभूतियों की कल्पना के आधार पर कविता करना वस्तुतः काव्य नही हैं, वाग्लिास चाहे हो। यदि ऐसी कविताओं में परमसत्ता के प्रति यदि उद्‌गार दृष्टिगोचर होते है, तो वे कविताएँ रहस्यवाद के अन्तर्गत आ सकती है, छायावाद की संज्ञा धारण नहीं कर सकती। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि शुक्ल जी रहस्यवाद को भी हमारे साहित्य की प्राचीन काव्यधारा के रूप में स्वीकार नही करते। उनके कथनानुसार वेद, उपनिषद आदि का रहस्यवाद तथा संत कवि

जैसे—कबीर, जायसी आदि का रहस्यवाद केवल धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक दर्शन है, इसीलिए शुक्लजी ने छायावाद को एक विशिष्ट अभिव्यञ्जना की शैली पुकारा—

'छायावाद जिस आकाँक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यज्जना की रोचक प्रणाली का विकास था।'-शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास।

इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने छायावाद का एक शैली के रूप में विवेचन किया और उसके वस्तुगत एवं भावगत रूप का रहस्यवाद में विलीनीकरण कर दिया। यहाँ शंका होती है कि शुक्ल जी ने छायावाद को समझने में भूल की? शंका-समाधान से पूर्व यदि हम यह विचार करें कि शुक्लजी के कुछ निजी सिद्धान्त थे तथा वे नीतिवाद रसवाद तथा आदर्शवाद के पक्के उपासक थे, तो हमारा शंका समाधान स्वतः ही हो जाता है। यही कारण है कि शुक्ल जी किसी भी वाद को हृदय से अपना नहीं सके। किसी को उन्होंने विलायती काव्य का अनुकरण कहा तो किसी को कुछ। उन्होंने छायावाद को एक अनुपम शैली मान लिया यह पर्याप्त था।

डाक्टर देवराज छायावाद को प्रकृति,काव्य अथवा प्रेम-काव्य के रूप में मानते हैं। यदि बाबू गुलावराय जी के उस कथन को सत्य मान लिया जाए कि जब द्विवेदी युग की राष्ट्रीयता एवं सुधारवादी प्रवृत्ति, रीतिकालीन शृंगारिक भावनाओं को न दबा सकी तो, वे उन्नतरूप में छायावाद में प्रस्फुटित हुईं, तो छायावाद को प्रेम काव्य की संज्ञा देना अनुचित न होगा। इसके अतिरिक्त डा० देवराज जी ने छायावाद की कतिपय विशेषताएँ भी बतायी हैं। साधारण शब्दों में जिन्हें हम, अस्पष्टता, बारीकी तथा काल्पनिकता के नाम से याद रख सकते हैं। डाक्टर महोदय के छायावाद सम्बन्धित विचारों पर दृष्टिपात करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने छायावाद के समझने में परिश्रम नही किया। फलतः उनके विचारों में मौलिकता का अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि छायावाद के सम्बन्ध में उनकी विचारधारा व्यक्तिगत रूप से परीक्षा में सम्मिलित होने वाले किसी परीक्षार्थी की अटपटी वाणी हो।

तदनन्तर छायावादी आलोचकों का तृतीय वर्ग आता है। नन्द दुलारे बाजपेयी शान्तिप्रसाद द्विवेदी, डाक्टर नगेन्द्र इस वर्ग के ख्याति प्राप्त आलोचक हैं। छाया-

वाद के विषय में उनकी नीति नितान्त तटस्थ है। वैसें तो नन्द दुलारे बाजपेयी गंगाप्रसाद पाण्डेय की भाँति छायावाद के आध्यात्मिक दृष्टिकोण के ही समर्थन में हैं। फिर भी उनकी विचारधारा की एक विशिष्टता है। उनके कथनानुसार छायावादी काव्य प्रकृति की चेतन सत्ता से अनुप्राणित होकर पुरुष या आत्मा के अधिष्ठान में परिणत होता है। उसकी गति प्रकृति से पुरुष की ओर तथा दृश्य से भाव की ओर होती है। छायावाद के विषय में बाजपेयी जी का मत देखिए :—

"नई छायावादी काव्यधारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। भारतीय परम्परागत आध्यात्मिक दर्शन की नवप्रतिष्ठा का वर्तमान अनिश्चित परिस्थितियों में यह एक सक्रिय प्रयत्न है। इसकी एक नवीन और स्वतन्त्र काव्यशैली बन चुकी है। आधुनिक परिवर्तनशील समाज व्यवस्था और विचार जगत में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की नवीन परिस्थिति के अनुरूप, स्थापना करता है।"

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बाजपेयी जी छायावाद के आध्यात्मिक पक्ष को नूतन रूप में स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त वह इसकी विशिष्ट काव्य शैली को भी मान्यता देते हैं।

शान्तिप्रसाद द्विवेदी जी छायावाद को दार्शनिक मानते हैं। शैलीमात्र में उनका विश्वास नहीं है। उनका छायावाद भी अनुभूति पर अवलम्बित है।

डाक्टर नगेन्द्र छायावाद की झाँकी एक विद्रोह के रूप में करते हैं। उनकी धारणा है कि छायावाद काव्य कुण्ठा जात है जिसे हम 'अतृप्त वासना' का परिणाम कह सकते हैं। जिन परिस्थितियों ने एक विशेष युग में हमारी कर्मवृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया उन्होंने भाववृत्ति को छायावाद की ओर। नगेन्द्र जी छायावाद को एक विशेष प्रकार की भाव पद्धति के रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु उसका प्रादुर्भाव स्वप्न जात, अभाव जात तथा कुंठाजात ही मानते हैं। यहाँ एक शंका होती है कि यदि सौन्दर्यानुभूति अतृप्त वासना का परिणाम है, तो असुन्दर अनुभूति किस का परिणाम होगी ? सेक्सवाद के प्रवर्तक फ्राइड

महोदय का भी यही मत है कि सौन्दर्यानुभूति अतृप्त वासना का परिणाम है। इस दृष्टिकोण से डाक्टर नगेन्द्र फ्राइड महोदय से प्रभावित हैं। फ्राइड महोदय का सिद्धान्त (अवचेतन वाद) जब उनके देशीय महोदयों (एडलर इत्यादि द्वारा) अनर्गल एवं अतर्कपूर्ण सिद्ध कर दिया तो भारत जैसे आदर्शोपासक देश में उसकी क्या मान्यता हो सकती है। अतएव डाक्टर नगेन्द्र जी का सौदन्र्यानुभूति को कुण्ठाजात कहने का सिद्धान्त तर्क पूर्ण नहीं ठहरता है। नगेन्द्र की विचार-धारा के अनुसार छायावाद की मूल प्रवृत्ति अन्तर्मुखता है। इसकी अभिव्यक्ति कई रूपों में होती है। सर्व प्रथम व्यक्तिवाद के रूप में। इसमें व्यक्ति या तो किसी वस्तु को अपनी भावानुकूल देखना चाहता है अथवा समष्टि से निरपेक्ष होकर व्यष्टि में लीन होना चाहता है। प्रसाद में आनन्दवाद, निराला में अद्वैत-वाद, पन्त में आत्मवाद तथा महादेवी वर्मा में परोक्षवाद आदि उनके पृथक-पृथक व्यक्तिवाद के रूप ही हैं। अन्तर्मुखता की द्वितीय अभिव्यक्ति शृङ्गारिकता है। यह प्रकृति के प्रतीकों द्वारा अथवा प्रकृति पर नारी भावारोपण द्वारा व्यक्त होती है। तृतीय अभिव्यक्ति प्रकृति का आश्रय लेकर होती है। छायावादी कवि प्रकृति का प्रयोग संसार के कोलाहल से दूरस्थ शान्तिग्रह के रूप में अथवा प्रतीकों के रूप में करता है। इस प्रकार डाक्टर नगेन्द्र जी के मतानुसार-छायावाद की रहस्योक्तियाँ एक प्रकार की जिज्ञासाएँ है जो 'धार्मिक साधना पर आश्रित न होकर कहीं भावना, कहीं चिन्तन, कहीं केवल मन की छलना पर आश्रित हैं।' छायावाद एक विशिष्ट भावपद्धति है। इसका दृष्टिकोण भी भावात्मक है जो अतृप्त, असन्तुष्ट जीवन के स्वप्नों एवं कुण्ठाओं के सम्मिश्रण से बना है। इसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी तथा वायवी है जिसकी अभिव्यक्ति प्रवृति के प्रतीकों द्वारा होती है। रहा विचारधारा के विषय में। उसका मूलाधार सर्वात्मवाद है।

शान्तिप्रसाद द्विवेदीजी के मतानुसार छायावाद दार्शनिक है जिसका मूलाधार अनुभूति है।

छायावाद से सम्बन्धित चतुर्थ विध्वंसक वर्ग है। यह वर्ग छायावाद को कोई विशेष स्थान नहीं देता। इस वर्ग की आलोचना का मूलाधार मार्क्सवाद है। यहाँ हमारा उद्देश्य मार्क्सवादी विचार-धारा का पूर्ण विश्लेषण करना नहीं है। अतएव केवल संक्षिप्त रूप में छायावाद के विषय में आलोचक माचवे के विचार

उद्धृत कर देते हैं :—

"आधुनिक हिन्दी कविता में आत्मरति, मृत्युप्रेम, और संकेतों से स्वप्न पूर्ति करने की आदत के कारण घोर अनिश्चिय, तीन दोष Auto-eroticiom Necrophilia and Aboulia इतने स्पष्ट हैं कि उन्हें प्रमाणित करने की आवश्यकता नही, छायावाद हिस्टीरिया की भाँति एक मानसिक रोग है, दोनों में स्मृतियों की प्रच्छन्न और अज्ञात पुनरावृत्ति तथा तज्जन्य अहैतुक त्रास दिखाई देते है। अतः एक तरुण स्वस्थमना कवि के लिये छायावाद का माध्यम स्थविर, क्षीण और Spent-up जा पड़ता है।"

अन्त में आलोचकों के छायावाद सम्बन्धित विभिन्न मतों के अनुसार हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि छायावाद न केवल आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है, न यूरोपीय स्वच्छन्दता-वाद का भारतीय करण, न कोरा व्यक्तिवाद और न केवल एक विशिष्ट शैली है। वस्तुतः यह आधुनिक युग की विभिन्न विचार-धाराओं एवं नूतन शैली का समन्वित रूप है। संक्षेप में छायावादी काव्य धारा के दो पक्ष हैं :—

(१) भावगत।
(२) शैलीगत।

भाव-विकास के विचार से छायावाद का क्षेत्र अति व्यापक एवं विस्तृत है और इसकी निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ है :—

(१) दुःखवाद।
(२) प्रकृति प्रेम।
(३) सौन्दर्योपासना।
(४) प्रेम-भावना।
(५) जीवन-दर्शन।

१—दुःखवाद

'संसार में कोई पूर्ण सुखी नहीं है', यह कथन अक्षर शः सत्य है। यहाँ प्रत्येक वस्तु नाशवान् और क्षणभंगुर है। इसी कारण प्राणी हृदय में दुःख की भावना का उदय हुआ। दुःख, शोक इत्यादि का करुण मूलाधार तथा स्थायी

भाव है। सृष्टि के सभी व्यापारों में करुणा का एकक्षत्र राज्य है। जीवन संघर्षमय है। पग-पग पर असफलता जीवन की आशाओं एवं अभिलाषाओं का विनाश करने में नहीं चूकती। इसीलिए दुःखी हृदय को सारी सृष्टि दुःख से पूर्ण दिखाई देने लगी। करुणा छायावादी कवि की चिरसहचरी बन गई। इस प्रकार दुःखी एवं करुणाकलित हृदय की विकल रागिनी बजने लगी :—

'इस करुणा कलित हृदय में,
विकल रागनी बजती ?
क्यों हाहा कार स्वरों में,
वेदना असीम गरजती ?
जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बन कर,
वह आज बरसने आई॥'

—प्रसाद

फलतः छायावादी कवि सारे विश्व में अपने अवसाद एवं दुःख की छाया देखने लगा।

'नभ क्या है ? मेरा हृदय शून्य, फैला अतिशय सहृदय विशाल।
आहों से उत्थित धूम्र-राशि, बन गई भयानक जलद जाल॥'

छायावादी युग में वेदना का स्वर बहुत ऊँचा है। निराशा इसकी चरम सीमा है। मनुष्य की आशाएँ कभी पूर्ण नहीं होती हैं। अतः दुःखानुभूति स्वाभाविक है। जीवन में इच्छाओं का क्रम सतत लगा रहता है। इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। इसके अतिरिक्त एक इच्छा की पूर्ति ऊपर इच्छा को जन्म देती है। अतः मानव-जीवन में दुःख क्रम भी सदा ही रहता है। अँगरेजी लेखक ए० स्कोपेन हावर ने निराशावादी अध्ययन (Studies in Pessimism) में लिखा है :—

'........how insatiable a creature is man. Every satisfaction he attains lays the seeds of some new desire,

so there is no end to the wishes of each individual will."

फलतः आँसू की कथा सतत रूप से चलती रहती है। महादेवी जी की व्यथा की कारुणिक कथा सुनिये :—

'मैं नीर भरी दुःख की बदली,
विस्तृत नभ का कोना—कोना।
मेरा न कभी अपनी होना,
परिचय इतना, इतिहास यही।
उमड़ी कल थी, मिट आज चली।।'

भौतिक दुःखों के अतिरेक से बच्चन जी का मन भी क्रन्दन कर उठता है :—

'त्राहि-त्राहि कर उठता जीवन !
जब रजनी के सूने क्षण में
तन मन के एकाकी पन में
कवि अपनी विह्वल वाणी से
अपना व्याकुल मन बहलाता—
त्राहि-त्राहि कर उठता जीवन !'

कविवर पन्त को सारे विश्व में दुःख की व्यापकता दिखाई देती है। उनके व्यापक दुःख की अभिव्यक्ति अति संवेदना पूर्ण तथा मार्मिक है—

'विश्व वाणी ही है क्रन्दन
विश्व का काव्य अश्रु कण !'

× × ×

वेदना ही के सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परमपद
वेदना का ही मनोहर रूप है !

[पन्त—ग्रन्थि]

आकाश में आच्छादित काले-काले मेघों को देखकर, उनकी गर्जन, तर्जन

को सुनकर रामकुमार वर्मा जी दुर्भाग्य का अद्‌भुत साम्य प्रदर्शित करते हैं। बादल द्वारा मानव-भाग्य निर्माण की अनुपम कल्पना अवलोकनीय है।

'मेघों का यह मण्डल अपार
जिसमें पड़कर तम एकबार ही
कर उठता है चीत्कार !!
ये काले-काले भाग्य अंक
नभ के जीवन में लिखे हाय !

—रामकुमार वर्मा

छायावादी काव्य की दुःखवाद की प्रवृत्ति ही आगे चलकर दलित और शोषित मानवता के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित कर उठती है। प्रगतिवाद में इसने अधिक स्पष्ट रूप धारण कर लिया है। दिनकर जी द्वारा दीनों की दुर्दशा का दयनीय चित्र देखिए :—

'श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक चिल्लाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।।
युवती के लज्जा-बसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक तब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं।।'

—दिनकर—हुंकार।

विश्व में व्याप्त इस दीनता को दूर करने में, दुःख का अन्त करने में मानव अपने को असमर्थ पाता है। बच्चन जी का निराशा गीत इसी असमर्थता को व्यक्त करता है :—

'मैं जीवन में कुछ कर न सका,
जग में अँधियाला छाया था।
मैं ज्वाला लेकर आया था,
मैंने जलकर दी आयु बिता।
पर जगती का तम हर न सका !'

अतएव हम देखते हैं कि दुःख की प्रवृत्ति छायावादी काव्य में पूर्ण रूप से व्याप्त है। भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र, अंचल आदि ने भी ऐसे अनेक गीतों का सृजन किया है जो करुणा विषाद तथा अवसाद के साकार चित्र हैं।

२—प्रकृति प्रेम

छायावादी कवियों का हृदय प्रकृति चित्रण में अधिक रमा है। उन्होंने प्रकृति को एक नवीन दृष्टिकोण से देखा। मानव हृदय में अंकुरित हर्ष, विषाद, प्रेम, करुणा आदि के मनोभाव प्रकृति में आरोपावस्था में पूर्ण रूप से लक्षित होते हैं। काव्य की प्राचीन परिपाटी, तथा प्रकृति के पुरातन प्रयोग की भाँति छायावादी कवियों ने भी प्रकृति का उपयोग, आलम्बन, उद्दीपन, अलंकार तथा परोक्ष अभिव्यक्ति के रूप में किया है। छायावादी कवि व्यक्तिवादी तथा अन्तर्मुखी होता है। अतएव छायावादी काव्य में प्रकृति एक चेतना सत्ता के रूप में हमारे समीप बोलती हुई सी प्रतीत होती है। प्रसाद ने ऊषा को 'नागरी' तथा निरालाजी ने संध्या को 'सुन्दरी' के रूप में चित्रित कर प्रकृति के अनुपम चेतन-सौंदर्य की झाँकी कराई है :—

'बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही, तारा घट ऊषा नागरी !
खग कुल-कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल ढोल रहा,
लो यह लतिका भी भरलाई मधुमुकुल-नवल-रस-गागरी।'

[प्रसाद-लहर]

तथा

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
यह सन्ध्या सुन्दरी परी सी
धीरे-धीरे-धीरे !

[निराला-परिमल]

इस प्रकार छायावादी कवियों को आलम्बन रूप में अपनी अन्तर्भावनाओं का प्रकृति-पर आरोप करने में पूर्ण सफलता मिली है। पन्त जी की 'बादल' शीर्षक कविता में संश्लिष्ट चित्रण की यथार्थता अवलोकनीय हैं :—

'हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल !

अनिल फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि-बसन, वसुधा के मूल !

महादेवी वर्मा का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण भी अपनी निजी विशेषता रखता है। बसन्त रजनी के प्रति उनका स्वागत गान देखिए :—

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ बसन्त रजनी।
तारक-मय नव वेणी-बन्धन
शीश फूल कर शशि का नूतन,
राशी वलय सित घन अवगुन्ठन,
मुक्ताहल अविराम बिछादे चितवन से अपनी।
पुलकती आ बसन्त रजनी।

छायावादी युग में प्रकृति का सबसे अधिक चित्रण उद्दीपन रूप में हुआ है। प्राचीन काल मे उद्दीपन रूप में प्रकृति का प्रयोग नायक-नायिकाओं के मनोविकारों में उत्तेजना लाने के लिए होता था और आधुनिक काल में प्रकृति स्वयं कवि के मनोविकारों को उत्तेजित करती है। प्रकृति, छायावादी कवि की सहचरी है। वह कवि के दुःख में दुःखद तथा कवि के सुख में सुखद प्रतीत होती है। कवि और प्रकृति का तादात्म्य अलौकिक है।

'झर गई कली, झर गई कली।
चल सरित-पुलिन पर वह विकसी,
उर के सौरभ से सहज-बसी,
सरला प्रातः ही तो विहँसी,
रे कूद सलिल में गई चली।'

पन्त—गुञ्जन

उपर्युक्त कविता में कली जीवन का प्रतीक है और सरिता संसार का। जग प्रवाह में जीवन की अस्थिरता, जल-प्रवाह में कली की अस्थिरता ही है। इसी प्रकार निराला जी प्रकृति को मानव-सहचरी के रूप में स्वीकार किया है। विरहिणी नायिका असफल प्रतीक्षा की छाया प्रकृति में पूर्ण रूप से स्पष्ट है :—

'वह चली अब अलि शिशिर-समीर!
वन देवी के हृदय हार से,

हीरक झरते हरसिंगार के,
वेध गया उर किरण-तार के
विरह राग का तीर।'

[निराला-गीतिका]

प्रकृति में प्रसाद जी की बिलीनता देखिए :—

'चातक की चकित पुकारें,
श्यामा-धुन सरस रसीली,
मेरी करुणार्द्र कथा की
टुकड़ी आँसू से गीली।

× × ×

क्यों छलक रहा दुख मेरा,
ऊषा की मृदु पलकों में ?'

[प्रसाद-आँसू]

बच्चन, नरेन्द्र आदि परवर्ती कवि प्रकृति में अपनी वेदना एवं व्यथा का उपचार पाने का प्रयास करते हैं :—

'आज पागल हो गई है रात।
हँस पड़ी विद्युत छटा में
रो पड़ी रिमझिम घटा में
कभी भरती आह, करती कभी बज्राघात'

[वच्चन]

'आज मुझसे बोल बादल !
तम भरा तू तम भरा मैं
गम भरा तू गम भरा मैं
आज तू अपनी व्यथा से व्यथा मेरी तोल बादल

[बच्चन]

छायावादी कवियों का परोक्ष-अभिव्यक्ति के रूप में प्रकृति-चित्रण सुन्दर हैं। महादेवी वर्मा व्यक्त जगत में अपने उपास्य को खोजती-खोजी सृष्टि के कण-कण से परिचित हो जाती हैं :—

'अलि, मैं कण-कण को जान चली !
सबका क्रन्दन पहिचान, चली !
जिस मुक्ताहल से मेघ झरे
जो तारों से तृण में उतरे
मैं मन के, रज के, रस-विष के,
आँसू के सब रंग जान चली।'

निराला जी ने भी प्रकृति में अपने प्रिय की पावन झाँकी की है :-

'बादल में आये जीवन धन।
मरुत पुलक भर अंग प्रकम्पित
बार-बार देखती चपलचित
स्पर्श चकित कर्षित हो हर्षित
लक्ष्य पार करती चल चितवन।'

पन्त जी ने भी प्रकृति में सर्व व्याप्त चेतना के दर्शन कर प्रकृति के प्रति अपने को व्यक्त किया है :—

'एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास
तरल जलनिधि में दृष्टि विलास,
शान्त अम्बर में नील विकास'

[पन्त-नित्य जगत]

उपर्युक्त कविताओं में छायावादी कवियों ने प्रकृति में परोक्ष-सत्ता का आभास किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने परोक्ष और प्रत्यक्ष के मध्य विम्ब प्रतिविम्ब भाव की कल्पना भी की है। पन्त जी की 'छाया' शीर्षक कविता में प्रतिविम्बवाद की स्पष्ट झलक देखिए :—

'हाँ सखि आओ बाँह खोल हम
लगकर गले जुड़ालें प्राण,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अन्तर्ध्यान।'

निराला जी को उस परम तत्व का प्रतिविम्ब तम (अन्धकार) में नहीं आलोक में दिखाई देता है।

'विश्व-नभ-पलकों का आलोक
अतुल यह आ हर लेता शोक
× × ×
ज्योति के कोमल केश अपार
खड़ी वह सकल देश-दृग रोक।'

प्रसाद जी में भी इस प्रतिविम्बवाद का माधुर्य अति आकर्षक है। उनके प्रिय का छवि परदे पर अभिनय देखिए—

'छाया नट छवि-परदे में
सम्मोहन-बीण बजाता।
सन्ध्या-कुहकिन-अँचल में
कौतुक अपना कर जाता।
× × ×
प्राची के अरुण मुकुट में
सुन्दर प्रतिविम्ब तुम्हारा।
उस अलस उषा में देखूँ
अपनी आँखों का तारा।'

महादेवी वर्मा का उपास्य प्रकृति में प्रतिविम्बित होकर स्वप्न में मिलता है—

'अश्रु मेरे माँगने जब नींद में वह पास आया।
हो गया दिन की हँसी से
शून्य में सुरचाप अंकित।

इसीलिए वह सपनों को मिलन का साधन समझती है और प्रकृति में लीन होने की कामना करती है।

'तुम्हें बाँध पाती सपनों में!
मधुर राग बन विश्व सुलाती

सौरभ बन कण-कण बस जाती
भरती मैं संसृति का क्रन्दन हँस जर्जर जीवन अपने में ।'

परोक्ष वर्णनातीत है । सूरदास जी ने ठीक ही कहा है—'अविगत, गति कुछ कहत न आवे ।' इसीलिए निर्गुण परोक्ष की अभिव्यक्ति के लिए कवियों ने प्रतीकों तथा संकेतों का आश्रय लिया है । निर्गुण-परोक्ष की सत्ता की अभिव्यक्ति का प्रतीक रूप सगुण मूर्ति है । अतएव परोक्ष-अभिव्यक्ति की प्रतीकात्मक शैली इतनी प्राचीन है, जितना हमारा साहित्य । छायावादी कवियों ने परोक्ष-वर्णन की प्रतीकात्मक तथा संकेतात्मक दोनों शैलियों का प्रयोग किया है । पन्त जी की 'लहरों का गीत' शीर्षक कविता देखिए—

'अपने ही सुख से चिर चंचल
हम खिल-खिल पड़ती हैं प्रतिपल,
जीवन के फेनिल मोती को
ले ले चलकर तल में टलमल !
× × ×
चिर जन्म मरण को हँस-हँस कर
हम आलिंगन करती पल-पल,
फिर-फिर असीम से उठ-उठकर,
फिर-फिर उसमें हो हो ओझल ।'

प्रस्तुत कविता में अनन्त-असीम चेतना-लोक की सीमित-सान्त चेतनाओं तथा समुद्र की लहरों—दोनों का वर्णन करना ही कवि का उद्देश्य है । इसी प्रकार महादेवी वर्मा ने प्रतीकों का प्रयोग अधिकाधिक रूप में किया है । मेघों के प्रतीक द्वारा परोक्ष सत्ता की अभिव्यक्ति देखिए—

'रूपसि तेरा घन-केश-पाश !
नभ गंगा की रजत धार में धो आई क्या इन्हें रात ?
कम्पित हैं तेरे सजल अंग सिहरा सा तन है सद्यस्नात ।
भीगी अलकों के छोरों से,
चूती बूँदें कर विविध लास ।'

इसी प्रकार कीर-मुक्ति द्वारा परोधीनता-मुक्ति की कामना, महादेवी वर्मा ने

प्रतीकात्मक शैली द्वारा मधुर ढंग से व्यक्त की है—

'कीर का प्रिय आज पिंजर खोल दो !
क्या तिमिर कैसी निशा है,
आज विदिशा की दिशा है
दूर खग आ निकटता के
अमर बन्धन में फँसा है !
प्रलय-घन में आज राका घोलदो !'

छायावादी कवियों का संकेतात्मक प्रकृति चित्रण भी अति मधुर है। आभास तथा प्रतिविम्ब की भाँति संकेत भी मूलतः कल्पना और अनुमान पर आधारित है और कवि के मनोभावों के आरोपण के अन्तर्गत ही आते हैं। पन्त के आराध्य सृष्टि के कण-कण में व्याप्त हैं। इसीलिए प्रकृति के सभी उपादान उनको आकर्षित करते हैं—

'कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते फिर मुझको उस पार।'

इसी प्रकार महादेवी वर्मा के लिए 'नये घन' प्रिय के पास से कुछ दिव्य संदेश लाते हैं—

'लाये कौन संदेश नये घन ?
अम्बर गर्वित
हो आया नत
चिर निस्पन्द हृदय में उसके उमड़े री पुलकों के सावन ?
रोया चातक
सकुचाया पिक
मत्त मयूरों ने सूने में झाड़ियों का दुहराया नर्तन ?
सुख दुख से भर
आया लघु उर.

मोती से उजले जल कण से छाये मेरे विस्मित लोचन !'

इस प्रकार प्रकृति-प्रेम छायावादी काव्य की मुख्य प्रवृत्ति है ।

३—सौन्दर्योपासना

छायावादी कवि के लिए सौन्दर्यो पासना तो एक प्रकार की साधना है । इस युग में सौन्दर्य की सत्ता वस्तु में नहीं वरन् द्दष्टा के मन में स्वीकर की गयी है । व्यक्ति का मन ही सौन्दर्य का मूलाधार है, द्रव्य अथवा वस्तु नहीं । यूरोप के रूसो, वाल्टेयर, हीगेल फीश्ते, कालटिज, गेटे आदि विचारक एवं कवि इसी विचार-धारा के पोषक हैं । इटली के महान् दार्शनिक क्रोचे ने भी मनुष्य के स्वयं प्रकाश-ज्ञान (Intution) को सौन्दर्य का आधार माना है । इस प्रकार व्यक्ति का मन ही सौन्दर्य का निर्माता है । इस दृष्टि से सौन्दर्य द्रव्य से भिन्न कोई आध्यात्मिक वस्तु है । आधुनिक युग की इस विचार-धारा का छायावादी कवियों पर पूर्ण प्रभाव पड़ा । वस्तुतः छायावादी काव्य-धारा का आधार ही सौन्दर्य की प्रवृत्ति है । इसी प्रवृत्ति का अवलम्बन लेकर छायावादी कवि प्रत्येक वस्तु के अन्तस्तल तक पहुँचने का प्रयास करता है । वह तो अपनी प्रेयसि को अपनी आत्मा का प्रकाश समझता है ।

'अरुण अधरों का पल्लव प्रात, मोतियों सा हिलता हिम हास ।
इन्द्रधनुषी पट से ढक गात, बाल विद्युत का पावस-लास,
हृदय में खिल उठता, तत्काल अधखिले अंगों का मधुमास;
तुम्हारी छवि का कर अनुमान,
प्रिये प्राणों की प्राण ।'

निराला की 'सन्ध्या-सुन्दरी' कविता कैसी आकर्षक है । उसमें जीवन की सरलता, स्पन्दन-शीलता, तथा आनन्दानुभूति है जो आकर्षित किये बिना नहीं रहती है ।

'शिला खण्ड पर बैठी यह नीलांचल मृदु लहराता था,
मुक्त-बन्ध सन्ध्या समीर-सुन्दरी संग,
कुछ चुप-चुप बातें करता जाता और मुस्कराता था;
विकसित असित सुवासित उड़ते उसके;
कुंचित कुच गोरे कपोल छू-छू कर—

लिपट उरोजो से भी वे जाते थे।'
थपकी एक मार बड़े प्यार से इठलाते थे।

प्रसाद जी की सौन्दर्योपासना की प्रवृत्ति से पूर्ण रूपेण प्रभावित है। नारी रूप में प्रकृति की सुन्दर उपासना अवलोकनीय है :—

'उठ-उठ री लघु लोल लहर।
करुण की नव अँगराइ-सी।
मलयानित की परछाँई सी।
इह सूने तट पर छिटक-छहर,
शीतल कोमल चिर कम्पन-सी।
दुर्ललित हठीले बचपन-सी।
तू लौट कहाँ जाती है री।।'

—लहर

४—प्रेम-भावना

प्रेम का मूल रूप रति है। रति मनुष्य की सहजात वृत्तियों (Instincts) में सबसे प्रधान है। अनादि काल से ही यह मनुष्य के व्यापारों की मुख्य प्रवृत्ति रहती आयी है। आगे चलकर इसके विविध रूप हो जाते है। यथा दाम्पत्य-रति, वात्सल्य रति इत्यादि समाज एवं संस्कृति के विकास के साथ-साथ रति का परिमार्जन तथा शुद्धिकरण भी होता गया। आदि काल से रति का अर्थ स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझा जाता था। धीरे-धीरे नैतिक विकास के साथ-साथ रति पर मर्यादा, लज्जा आदि का नियन्त्रण रक्खा गया। आधुनिक युग में समानता एवं स्वतन्त्रता की भावना का चरम विकास हुआ। फलतः स्त्री, पुरुष की केवल विलास-सामग्री न रह गयी, अपितु उसकी एक स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हो गयी। इस परिवर्तन का समाज के माध्यम द्वारा साहित्य पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। अस्तु, छायावादी काव्य में रतिभाव का चित्रण एक निजी विशेषता रखता है। पूर्ववर्ती कविता की भाँति छायावादी काव्य में भी प्रेम के दो पक्ष—लौकिक और आध्यात्मिक हो गये। अन्तर केवल इतना रहा कि पूर्ववर्ती काव्य में लौकिक प्रेम सामाजिक था और अब व्यक्ति-

वादी। इसी प्रकार पहले आध्यात्मिक प्रेम के लिए लोक-भूमि और प्रकृति का अवलम्बन ग्रहण किया जाता था और अब कवि स्वयं रतिभाव का आश्रय ग्रहण करने लगा। सारी प्रकृति उसका आलम्बन बन गयी। इस प्रकार छायावादी युग में प्रेम-भावना की प्रधानता रही। छायावादी कवियों ने प्रेम को शारीरिक गुण के रूप में नही, आत्मिक गुण के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने प्रेम को सर्व-व्याप्त और संजीवनी शक्ति के रूप में देखा। पन्त जी द्वारा विश्व-प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में प्रेम की पावन झाँकी देखिए :—

'प्रिये कलि-कुसुम-कुसुम में आज,
मधुरिमा, मधु, सुषमा, सु विकास,
तुम्हारी रोम-रोम छवि व्याज,
छा गया मधुवन में मधुमास !'

—पन्त

प्रसाद जी को भी प्रेमाधार के दर्शन से सारा संसार आनन्दमय दिखाई देता है :—

'मिलगये प्रियतम हमारे मिलगये,
यह अलस जीवन सफल अब हो गया।
कौन कहता है जगत है दुःखमय ?
यह सरस संसार सुख का सिन्धु है !'

—प्रसाद

छायावादी कवियों की उन्मुक्त प्रेम-भावना की मधुर व्यञ्जना वियोग-दशा के चित्रण में अति सफलता के साथ हुई है। मादक और मोहमयी प्रेम क्रीड़ाओं की स्मृति कैसी पीड़ा-दायक एवं कारुणिक है। हृदय, सुख और आनन्द का समाधि-स्थल है तथा करुणा वहाँ बैठकर, आँसू बहा रही है :—

'मादक थी मोहमयी थी मन बहलाने ही क्रीड़ा,
अब हृदय हिला देती है, वह मधुर प्रेम की प्रीड़ा !
सुख आहत शान्त उमंगे बेगार साँस ढोने में,
यह हृदय समाधि बना है रोती करुणा कोने में।

[प्रसाद-आँसू]

अखिल विश्व में प्रकृति क्षेत्र में विभिन्न प्रेम-सम्बन्धों की पावन झाँकी तथा अपने निराशा-प्रेम की अभिव्यक्ति कवि द्वारा कितने सुन्दर ढंग से हुई है :—

'शैवलिन, जाओ मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल आलिंगन करो तुम गगन का !
चन्द्रिका, चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो गाओ पवन वीणा बजा,
पर हृदय, सब भाँति तू कंगाल है,
उठ किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी पिकी,
भग्न भावों को डुबादे आँख सी !

[पन्त-ग्रन्थि]

लौकिक प्रेम भावना की अभिव्यक्ति छायावादी कविता की मुख्य प्रवृत्ति है। उसकी संगीत की मधुर स्वर लहरी में हृदय की मीठी अनुहार निहित है।

'कल्पना के कानन की रानी।
आओ, आओ मृदु-मृदु; मेरे
मानस की कुसुमित वाणी।
सिहर उठें पल्लव के दल; नव अंग,
बहे सुप्त परिमल की मृदुल तरंग।

—निराला

पन्त जी ने भी प्रेम का साकार रूप चित्रित कर दिया है :—

'प्रिये, प्राणों की प्राण !
न जाने किस गृह में अनजान
छिपी हो तुम, स्वर्गीय विधान !
नवल कलिकाओं की सी-वाण,
बाल-रति सी अनुपम, असमान
न जाने कौन, कहीं अनजान,
प्रिये प्राणों की प्राण !

इस प्रकार छायावादी कविता में वियोगियों की विरहावस्था की भी कला-

पूर्ण एवं मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है। कवि वियोगाग्नि को सम्बोधित करता है :—

'खूब जलादे; रह न जाय अस्तित्व और जब वे आवें,
चरणों पर दौड़ लिपट जाने वाली मेरी विभूति पावें।'

—द्विज

कहीं-कही तो छायावादी कवि शृङ्गार दर्शन के लिए अति आतुर हो जात है।

'कलियो, यह अवगुण्ठन खोलो।
ओस नहीं है, मेरे आँसू
से ही मृदु पद धोलो।
कोकिल स्वर लेकर आया है,
यह अशरीर समीर,
सुखमय सौरभ आज हुआ है,
पंच बाण का तीर।

—रामकुमार वर्मा

प्रेम की द्वितीय भावना आध्यात्मिक है। इसकी अभिव्यञ्जना के दो रूप हैं। एक का आधार सगुण और दूसरे का निर्गुण ब्रह्म है। छायावादी कविता में इस आध्यात्मिक प्रेम भावना की मधुर व्यञ्जना अति आकर्षक एवं अनुपम रूप में हुई है। कोमल एवं सरस भावनाओं तथा कमनीय कल्पनाओं के समन्वय से इसकी सरसता द्विगुणित हो गयी है। करुणासिन्धु अपने भक्त पर किस प्रकार बार-बार करुणा करते है, वह निराला जी की निम्नलिखित कविता में देखिए :—

'भर देते हो,
बार-बार प्रिय करुणा की किरणों से,
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो!
मेरे अन्तर में आते ही देव निरन्तर,
कर जाते हो व्यथा-भार लघु
बार-बार कर कंज बढ़ाकर।

—निराला

माया का दर्पण टूट जाने पर प्रेमी और प्रियतम की एकाकारिता देखिए :—

'आज कहाँ मेरा अपना पन ?
तेरे छिपने का अवगुण्ठन ?
मेरा बन्धन तेरा साधन,
तुम मुझमें अपना सुख देखो, मैं तुममें अपना दुख प्रियतम !
टूट गया वह दर्पण निर्मम ।

—महादेवी वर्मा

अन्त में कवि को विश्वास है कि वह एक दिन प्रिय के अञ्चल में छिप जाएगा और उसके सारे दुःखों का अन्त हो जाएगा ।

'एक दिन थम जायगा रोदन
तुम्हारे प्रेम-अंचल में ।'

—निराला

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि छायावादी काव्य में प्रेम के गीत हृदय के अन्तस्तल से गाये गये हैं जो हृदय को सीधे स्पर्श करते है ।

५—जीवन दर्शन

काव्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है । वस्तुतः जीवन की मौलिक प्रवृत्तियाँ ही काव्य का आधार हुआ करती है । दूसरे शब्दों में जीवन की दशाओं का मौलिक चित्रण ही काव्य का उद्देश्य है । सफल कलाकार की पहिचान ही यह है कि वह जीवन की प्रवृत्तियों का काव्य से समन्वय करे । छायावादी कवियों ने जीवन के तथ्यों का पूर्ण अनुभव कर उसे काव्य में समुचित स्थान प्रदान किया है । इसीलिए छायावादी काव्य जीवन से भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं है । उसमें जीवन की मधुर अभिव्यक्ति अवलोकनीय है । पन्त जी की जीवन सम्बन्धित भावना देखिए :—

'यह साँझ उषा का आँगन,
आलिंगन विरह मिलन का ।
चिर हास अश्रुमय आनन,
रे इस मानव जीवन का ।

छायावादी युग में मानव जीवन का मान अधिक है। इसीलिए आज की कविता के वर्ण्य विषय राजा महाराजा एवं देवोचित गुणों से अलंकृत व्यक्ति ही नहीं, वरन् साधारण श्रेणी के मनुष्य जैसे कृषक, श्रमिक आदि कविता के विषय बन गये हैं। फलतः छायावादी कविताओं में, यथार्थिता तथा मान गौरव का अद्भुत समन्वय है और साथ ही आत्माभिव्यञ्जना को पूर्ण आश्रय मिला है। छायावादी कवियों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण नितान्त नवीन है। वे पौराणिक विचारधारा का अतिक्रमण कर नवीन प्रकाश की खोज में हैं। फलतः युग की आशा-निराशा, तात्विक प्रश्नों के समाधान, सत्यान्वेषण तथा आध्यात्मिकता एवं विज्ञान के सामंजस्य की प्रवृत्ति आदि छायावादी काव्य में पूर्ण रूपेण लक्षित होते हैं। चिन्तन छायावादी कविता की मूल भावना है। इसलिए उसमें एक ओर हार्दिकता एवं भावुकता का समावेश है तो दूसरी ओर विकल्पात्मक वृत्ति की मूल भावना निहित है। क्योंकि १९१३ से १९३६ ईसाब्द तक का काल एक जागरण और संक्रान्ति का युग था अतः छायावादी काव्य में चिन्तनधारा की विभिन्नता पूर्णरूप से व्याप्त है। इस युग के सभी कवि किसी एक विचार के पोषक नहीं है। यद्यपि पाश्चात्य सर्ववाद (Pantheism) और प्राकृतिक दर्शन ने भारतीय सर्वात्मवाद का पोषण किया तथा सांस्कृतिक अन्तरावलम्बन के आधार पर विकसित हुई भारतीय तत्व चिन्तन की विचारधारा को आगे बढ़ाया, किन्तु इस का प्रभाव हमारे छायावादी कवियों पर भिन्न-भिन्न रूप में पड़ा। प्रसाद पर आनन्दवाद की छाप है तो निराला जी पर विश्व मानवता वाद का प्रभाव अधिक है। महादेवी वर्मा बौद्धदर्शन के दुःखवाद से पूर्ण प्रभावित हैं। पन्त जी में भारतीय सर्ववाद की पावन झाँकी होती है। इस प्रकार छाया-वादी कविताओं में जीवन को विभिन्न दृष्टिकोणों से अपनाया गया है। मान-गौरव की प्रवृत्ति सभी कवियों में पूर्ण रूपेण लक्षित होती है। निराला जी के अद्वैतवाद में इसकी पावन झाँकी कीजिए :—

'तुम हो महान, तुम सदा हो महान,
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, काम परता,

ब्रह्म हो तुम,
पद रज भर भी है नही पूरा यह विश्व भार।'

—परिमल

महादेवी वर्मा के द्वैतवाद में वही गौरव निहित है :—

'क्या पूजा का अर्चन रे !
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे।

× + × +

प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे।'

हम देखते है कि छायावादी कवियों ने तत्व चिन्तन की भिन्न-भिन्न धाराओं को अपनाया है। उन्होंने अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्ट अद्वैतवाद, योग वाद; सर्वात्मवाद, दुखःवाद, विश्व मानवतावाद आदि सभी की अभिव्यक्ति बड़े मार्मिक ढंग से की है। इसके अतिरिक्त पुनर्जन्म, कर्मफल, जग की अनित्यता आदि को भी काव्य में उचित स्थान दिया है। इस प्रकार की सभी रचनाओं में मानगौरव तथा अतीत-स्तवन की प्रवृत्तियाँ सुस्पष्ट हैं। जीवन के इसी सर्वांगीण विकास के लिए नवीन कवि प्रयत्नशील हैं।

'जागो, पहचानो अपने को
मानव हो समझो निज गौरव,
अन्तस्तल की आँखें खोलो।
देखो निज अतुलित बल वैभव !
अहंकार औ स्वाधिकार दो पृथक-पृथक पथ हैं बन्दी।
आओ हथकड़ियाँ तड़काद्दूं, जागो रे नत शिर बन्दी।

इस प्रकार आधुनिक कवियों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण एक विशेष सहानुभूति लिये हुए है। उसमें सामाजिक-उत्थान, राष्ट्रीय प्रेम, वर्ग-संघर्ष की भावना आदि का सामंजस्य अलौकिक रूप से हुआ है।

अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि छायावादी काव्य का अपना निजी जीवन दर्शन है। जिसका निर्वाह छायावादी कवियों ने पूर्ण रूप से किया है।

छायावाद की शैलीगत विशेषताएँ

छायावाद की भावगत विशेषताओं पर विचार करने के पश्चात् हमें उसकी शैलीगत अथवा कलागत विशेषताओं का विवेचन करना है। छायावाद-युग की कविता आदर्शवाद एवं द्विवेदीयुग की इत्तिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुई। अतएव इसमें भावगत एवं विषयगत परिवर्तन तथा नूतनता ही दिखलाई नही पड़ती अपितु रचना-प्रक्रिया-सम्बन्धित परिवर्तन भी पूर्णरूप से लक्षित होता है। छायावादी कवि ने जिस प्रकार सामाजिक राजनीतिक, सांस्कृतिक बन्धनों एवं रूढ़ियों से मुक्त होने के लिए प्रयत्न किया उसी प्रकार उसने भाषा-शैली, छन्द-अलंकार आदि के परम्परा-मुक्त मार्ग को छोड़कर एक नूतन पथ का निर्माण किया। छायावादी काव्य की इस नूतन कलात्मकता को देखकर आचार्य-शुक्ल जैसे प्रकाण्ड आलोचकों ने इसे केवल एक विशेष शैली की संज्ञा ही प्रदान की। उनके मतानुसार छायावाद केवल शैली की नवीन प्रणाली को लक्ष्य मानकर ही अवतरित हुआ। अतएव छायावाद की शैलीगत विशेषताओं का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से हो सकता है—

१—भाषा और शब्द-चयन।

२—अलंकार-विधान।

३—शब्द शक्ति विधान।

४—छंद विधान एवं संगीतात्मकता।

५—चित्रात्मकता।

१—भाषा और शब्द-चयन

काव्यभाषा साधारण बोलचाल की भाषा से नितान्त भिन्न होती है। कारण कवि का व्यक्तित्व समाज के साधारण व्यक्ति के व्यक्तित्व से विभिन्न होता है। वह अपने विचित्र व्यक्तित्व एवं रागात्मकता के आधार पर अपनी भाषा को भी उत्कृष्ट अथवा विचित्र बनाना चाहता है। फलतः कविता की भाषा का स्तर साधारण जनता की भाषा से उच्चतर होता है। इस दृष्टिकोण से छायावादी कवियों ने भी एक नवीन भाषा का प्रयोग किया है। अपनी विचित्र भावात्मकता और विद्रोही प्रवृत्ति के कारण उनकी भाषा अपनी एक निजी विशेषता एवं

प्रेषणीयता रखती है। उसमें शब्दों का भरण-पोषण, अंग विन्यास तथा मनोविकास स्वाभाविक तथा यथेष्ट रीति से हुआ है। वर्ण, शब्द तथा काव्य भाषा के अवयव हैं। अतएव उन्ही तत्वों के आधार पर हमें छायावादी कविता की भाषा के सम्बन्ध में विचार करना है।

वर्ण, भाषा की लय का लघुतम अंश है। उसका अपना निजी एवं पृथक व्यक्तित्व है। भाषा विज्ञान यह स्पष्ट करता है कि युगानुकूल प्रत्येक भाषा में वर्णों के रूप स्वभावतः ही बदलते रहते हैं। यदि युद्ध संघर्ष अथवा मारकाट के युग में कर्कश वर्णों को महत्व प्रदान किया जाता है तो निराश हृदय को कोमल वर्णों की ध्वनि प्रिय लगती है। यही कारण है कि हमारे हिन्दी काव्य में वर्णों के विकास का इतिहास बड़ा विचित्र है। वीरगाथा काल में श्रुतिकटु, कर्कश वर्णप्रियता काव्यांग बन गई। भक्तिकाल में उनका मधुर एवं कोमल रूप ग्रहण किया गया रीतिकाल में वर्णों के आवर्तन, पुनरावर्तन की प्रवृत्ति प्रधान रही। द्विवेदीयुग में पुनरुत्थान की भावना ने संस्कृत को प्रश्रय अधिक दिया। फलतः ब्रजभाषा की भाँति इस युग के काल में ध्वनि खण्डों के प्रवाह में सरसता तथा प्राणवत्ता का पूर्ण भाव रहा। छायावादी कवियों ने भाषा की नीरसता को दूर कर कोमल-कान्त-पदावली को ग्रहण किया। छायावाद-युग की कविता में संगीतात्मकता का पुट अधिक रहा अतएव छायावादी कवियों ने भावानुरूप, भाषा की लय को मोड़ने का प्रयत्न किया। उच्चारण तथा श्रवण की कठिनता एवं कठोरता को दूर करने के लिए उन्होंने वर्णों एवं शब्दों के रूप को ही बदल दिया। यथा—'धर्म' के स्थान पर 'धरम' तथा 'कर्म' के स्थान पर 'करम'। कहीं-कहीं तो भाषा में संगीत-स्वर-लहरी का समावेश करने के लिए 'ण' को 'न' के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा। जैसे 'प्राण' के लिए 'प्रान'। तथा 'बाण' के लिए 'बान' इत्यादि। छायावाद की काव्यभाषा की विशेषता यह है कि अर्थ व्यंज़ना, भावव्यंजना, चित्रव्यंजना आदि के अनुकूल वर्ण-चयन अति स्वाभाविक, सरस एवं सुन्दर है। प्रभावान्विति के लिए पुनरावर्तन-प्रियता देखिए—

'वन वन उपवन
छाया उन्मन-उन्मन गुंजन
नव वय के अलियों-से गुंजन।'

[पन्त—पल्लव]

भ्रमरों की गुंजार तथा वर्षा की फुहार का दृश्य उपस्थित करने के लिए वर्णों की अनेकावृत्ति देखिए—

मेरी झरररर झरर दमामे
घोर नकारों की है चोप।
कड़-कड़-कड़, सन-सन बंदूकें
अररर अररर अररर तोप,
× × ×
आग उगलती दहक-दहक दह
कँपा रही भू-नभ के छोर।

वर्णों की भाँति छायावादी-काव्य में शब्द-चयन भी अति सरस एवं आकर्षक है। इसका एकमात्र कारण यह है कि छायावादी कवियों का शब्द भंडार असीमिति एवं अपार है। इसलिए छायावादी काव्य की भाषा में साभिप्राय, तथा व्यंजक शब्दों का वाहुल्य है।

प्रसाद जी के 'लहर' में शब्द-चयन की उत्कृष्टता देखिए :—

'ठहर भर आँखों देख नयी, भूमिका अपनी रंगमयी,
अखिल लघुता आई बन, समय का सुन्दर वातायन।
देखने को अदृष्ट नर्तन !

प्रस्तुत पद्य में भूमिका, रंगमयी और अदृष्ट नर्तन का प्रयोग अति समुचित है। छायावाद-काव्य-श्री को बढ़ाने में विशेषण-चयन विशेष महत्व रखता है। प्रत्येक कवि के अपनी-अपनी रुचि के अनुसार पृथक-पृथक विशेषण है। यथा—

प्रसाद—अनन्त नीलिमा, शिथिल, सुरभि, सुप्त व्यथा, शीतल-ज्वाला, सजल संसृति, बीहड़-बेला, किशोर सुन्दरता, मदकल मलय इत्यादि।

पन्त—मधुर रारे, कनक छाया, पीन पुकार, मनोरम चित्र, निराकारतम, कामरूप नभचर, रेशमी वायु, सुरीले अधर, विचक बचपन, लचका गान आदि।

महादेवी वर्मा—उन्मन निन्द्रा, पुलकित स्वप्न, हिम अधर, निर्मम दर्पण, शापमय वर, अरुणवान, बुझते प्राण आदि।

इसी प्रकार छायावाद-युग के अन्य कलाकारों ने भी विशेषणों के लाक्षणिक एवं सुन्दर प्रयोग किये हैं। फलतः छायावादी काव्य की भाषा अति अनुपम, व्यञ्जक

एवं चित्रमयी बन गयी है। वस्तुतः छायावादी कवियों का शब्द-शिल्प-कौशल अति चमत्कार पूर्ण है। निराला द्वारा वर्ण और शब्द के चमत्कार का वर्णन छायावादी कविता में पूर्ण रूप से दिखलाई पड़ता है।

'एक-एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार,
पद-पद चल रही भाव-धारा।
निर्मल कल-कल में बँध गया विश्व सारा,
खुली मुक्ति बन्धन से बँधी फिर अपार।
शत-शत रंग खिला, मिला प्राण,
गूँजे गगनांकण में ये अगण्य गान।
दिखी रूप की छवि झंकृत कर स्वरतार।।'

—निराला—गीतिका

इसके अतिरिक्त छायावादी कविता की भाषा में यत्र-तत्र दोष भी मिलते हैं। अनावश्यक शब्दों की भरती, पुनरुक्ति, गाम्य तथा प्रान्तिक प्रयोग छायावादी भाषा-सौष्ठव को धूमिल किये हुए है। किसी-किसी कवि में कतिपय शब्दों के प्रति इतनी तीव्र आसक्ति है कि ये शब्द रूढ़ होकर असुन्दर तथा चमत्कार रहित प्रतीत होते है। उदाहरणार्थ :—

'बेधते मर्म बार रे बार,'
'आज बौरे रे तरुण रसाल।'
'हिलारे गयी पात-सा गात।।'

—पन्त

में 'रे' का प्रयोग कैसा रूढ़गत तथा अनावश्यक प्रतीत होता है।

संक्षेप में छायावादी कविता की भाषा एक निजी विशेषता रखती है। जैसे-जैसे छायावादी काव्य का विकास होता गया वैसे-वैसे ही छायावादी कविता की भाषा की शैली विभिन्न रूप धारण करती गयी। यही कारण है कि छायावादी युग के प्रथम दशक में गूढ़ या सांकेतिक शैली की प्रधानता रही। इस शैली में चित्रात्मकता तथा कल्पना का प्राचुर्य रहा। तदनन्तर द्वितीय दशक में गुम्फित शैली का समावेश हुआ। इसमें भाषा पूर्व की अपेक्षा कुछ क्लिष्ट हो गयी। एक-एक वाक्य के अन्तर्गत अनेक वाक्य निहित होने लगे। प्रसाद जी की

'कामायनी' आदि में इस शैली की भव्य झाँकी होती है। इस शैली के समानान्तर एक अन्य शैली भी प्रचुरता से प्रयुक्त होने लगी जिसे हम अलंकृत शैली की संज्ञा दे सकते हैं। प्रसाद के 'आँसू' तथा पन्त की 'छाया' में अलंकृत शैली स्पष्ट दिखाई देती है। तदनन्तर छायावादी कवियों ने सरल शैली का अवलम्बन लिया। इसमें छोटे-छोटे वाक्य, मुहावरों का प्रयोग, सरल शब्दावली, रसात्मकता का समावेश आदि हुआ। निराला, बच्चन, दिनकर, नेपाली, नरेन्द्र आदि ने इस शैली को पूर्ण रूप से अपनाया। कुछ कवियों में अँगरेजी भाषा की रूपान्तर प्रियता की प्रवृत्ति भी दिखाई देने लगी। जैसे—जीवन का यह पृष्ठ पलट मन-बच्चन (To turn the page of life) का रूपान्तर ही कहा जाएगा।

इस प्रकार छायावादी कविता की भाषा एक नवीनता, विचित्रता, कोमलता, मधुरता, वक्रता, चित्रात्मकता, संगीतमयता तथा स्वच्छन्दता लिये हुए है। छायावादी कालाकारों की पृथक-पृथक शब्दा-सक्ति, अर्था सक्ति तथा कल्पनागति के कारण भाषा की परिवर्तनशीलता अति आकर्षक प्रतीत होती है। फलतः यत्र-तत्र व्याकरण सम्बन्धित दोष, भाषा दोष नहीं अपितु, छायावादी काव्य के विशेष गुण प्रतीत होते हैं।

२—अलङ्कार विधान

छायावादी कवि काव्य के आन्तरिक एवं आत्मगत सौन्दर्य में विश्वास रखते हैं। उन्होंने काव्य के वाह्य और वस्तुगत सौन्दर्य की ओर अधिक ध्यान नही दिया है। अलङ्कार काव्य के वाह्य सौन्दर्य के पोषक हैं। यही कारण है कि छायावादी कविता में अलङ्कारों को विशेष स्थान प्रदान नही किया गया है। प्राचीन एवं रीतिकालीन साहित्यकारों के मतानुसार अलङ्कारों को काव्य का मुख्य अङ्ग समझा गया। इसीलिए उन्होंने काव्य में अलङ्कारों को प्रधानता दी। इसके विपरीत छायावादी कवियों में प्राचीन काव्य परम्परानुसार प्रयुक्त होने वाले अलङ्कारों का विरोध करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। आलंकारिकों ने अलङ्कारों को शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार इन दो भेदों में विभक्त किया है। काव्य में शब्दिक चमत्कार उत्पन्न करने वाली योजना को शब्दालङ्कार तथा अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करने वाली योजना को अर्थालङ्कार कहते हैं।

क्योंकि छायावादी कवि शब्द-शिल्प के इतने कुशल कलाकार हैं कि उनके शब्द एक अनुपम शक्ति तथा अलौकिक सौन्दर्य की अमर निधि प्रतीत होते है, अतएव उन्हें शब्दलङ्कारों को ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती है। फिर भी छायावादी कविता में यत्र-तत्र शब्दालङ्कारों की छटा दिखाई देती है किन्तु वह नितान्त स्वाभाविक है। उन्होंने पाण्डित्य-प्रदर्शन अथवा चमत्कार-प्रदर्शन के लिये अलङ्कारों का प्रयोग नहीं किया है। स्वतः एवं स्वभावतः ही यदि अलङ्कारों का प्रयोग हो गया है तो इससे छायावादी कविता के सौन्दर्य की वृद्धि ही हुई है और इसी कारण छायावादी कविता अलङ्कारों के बोझ से दबी हुई प्रतीत नहीं होती है। शब्दालङ्कारों में अनुप्रास, यमक, श्लेष प्रधान हैं। छायावादी कवियों ने अनुप्रास और यमक का प्रयोग शब्द चमत्कार प्रदर्शन के लिए नहीं अपितु भाव-प्रदर्शन के लिए किया है। इसी प्रकार श्लेष का प्रयोग परोक्ष वस्तुओं के चित्रण अथवा प्रतीक के रूप में हुआ है। श्लिष्ट पदों की प्रतीक शैली से केवल शब्द-सौन्दर्य की ही छटा नही बढ़ती है वरन् अर्थोत्कर्ष भी उत्पन्न हो जाता है। यथाः—

'जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई;
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई।

—प्रसाद

प्रस्तुत कविता में श्लेष अलंकार है। इसमें घनीभूत और दुर्दिन श्लिष्ट पद है। घनीभूत शब्द सघन मेघरूप पीड़ा को प्रकट करता है और दुर्दिन मेघाच्छन्न दिन (Cloudy-day) और दुर्भाग्य के दिन की ओर संकेत करता है।

अनुप्रासादि के प्रयोग भी भाषा-प्रवाह और लय के लिए अति सुन्दर रूप में हुए हैं—

मृदु मन्द-मन्द मन्थर-मन्थर
लघु तरणि हंसिनी सी सुन्दर
तिर रही खोल पालों के पर।

—पन्त

छायावादी कविता में अर्थालंकार भी समुचित मात्रा में मिलते हैं किन्तु वे पन्त जी के मतानुसार '.........वाणी के सजावट के लिए ही नहीं वरन्

भाव की अभिव्यक्ति के भी विशेष द्वार हैं, भाषा की पुष्टि के लिए, राग की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान है। वे वाणी के आचार-व्यवहार, रीतिनीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न चित्र हैं।' इस दृष्टिकोण से छायावादी कवि रीतिकालीन आलंकारिकता का तीव्र विरोध करते हुए भी उनका पूर्ण त्याग न कर सके। अंतर केवल इतना है कि छायावादी कवियों ने प्राचीन-परिपाटी विहित अप्रस्तुतों के स्थान पर नवीन अप्रस्तुतो का अधिक प्रयोग किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, विरोधाभास, संदेह, यथासंख्य, सहोक्ति, तद्‌गुण, पर्याय, स्मरण आदि सभी अलंकारों का प्रयोग छायावादी कविता मे मिलता है। उपमा का तो छायावादी काव्य में एकछत्र राज्य है। उपमान निन्तात नवीन है। मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत और अमूर्त अप्रस्तुत के मूर्त प्रस्तुतों का विधान भी अवलोकनीय है। 'छाया' के लिए अमूर्त अप्रस्तुत योजना देखिए :—

'गूढ़ कल्पना सी कवियों की,
अज्ञाता के विस्मय सी,
ऋषियों के गंभीर हृदय सी,
बच्चों के तुतले भय सी।'

—पन्त

रूपक अलंकार का विधान भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

'तरल मोती से नयन भरे!
मानस से ले उठे स्नेह घन,
कसक विद्यु, पलकों में हिमकन,
सुधि स्वाती की छाँह,
पलक की सीपी में उतरे।

—महादेवी वर्मा

इनके अतिरिक्त छायावादी कविता में अन्य समाविष्ट एवं प्रचलित अलंकारों के उदाहरण भी दिये जा रहे हैं—

संदेह—

'मद भरे ये नलिन-नयन मलीन हैं,
अल्प जल में या विकल लघु मीन है।'

—निराला

संभावना—

'चंचला स्नान कर आवे, चन्द्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा, आलोक मधुर थी ऐसी।'

—प्रसाद

मुद्रालंकार—

'करुणे क्यों रोती है? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई।
मेरी विभूति है जो उसको 'भवभूति' क्या कहे कोई।'

—मैथिलीशरण गुप्त

सहोक्ति—

'तरणि के ही संग तरल तरंग में,
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।'

—पन्त

भारतीय अलंकारों के अतिरिक्त पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से छायावादी काव्य मे पाश्चात्य ढंग के कतिपय अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है। उनमें मानवीकरण और विशेषण विपर्यय अलंकार मुख्य हैं। निर्जीव और निरीन्द्रिय पदार्थों में चेतना का आरोप करना ही मानवीकरण अलंकार है। यथा—

'रूपसि ! तेरा घन-केश पाश !
श्यामल-श्यामल, कोमल-कोमल,
लहराता सुरभित केश पाश।'

—महादेवी वर्मा

छायावादी कवियों ने मनोवृतियों को सजीवता प्रदान करके मूर्त रूप में चित्रित किया है, प्रसाद जी का 'कामायनी' महाकाव्य मानवीकरण का ज्वलन्त उदाहरण है। इसके सभी पात्र मनोवृतियो के मानवीकृत रूप ही हैं।—'लज्जा' का मानवीकृत रूप अवलोकनीय है :—

'वैसी ही माया में लिपटी, अधरों पर अँगुली धरे हुये,
माधव के सरस कुतूहल का आँखों में पानी भरे हुये।
नीरव निशीथ में लतिका सी तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?
कोमल बाहें फैलाती सी, आलिंगन का जादू पढ़ती।

विशेषण विपर्यय भी छायावादी कवियों का प्रिय अलंकार है। इसमें शब्दों के अर्थ में विशिष्ट चमत्कार उत्पन्न हो जाता है।—यथा :—

बच्चों के तुतले भय सी।
वेदना के सुरीले हाथ से।

—पन्त

'थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की'

—प्रसाद

पूर्व कविता में भय के लिए 'तुतले', हाथ के लिए 'सुरीले' शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार द्वितीय कविता में दिन के लिए 'थके हुए' का प्रयोग लाक्षणिक रूप में ही हुआ है। उपर्युक्त तुतले, सुरीले, थके हुए शब्द अन्य वस्तुओं के विशेषण है किन्तु प्रस्तुत शब्दों के साथ प्रयुक्त होने से एक विशिष्ट चमत्कार उत्पन्न हो गया है।

३—शब्द-शक्ति विधान

भाषा विचारों का वाचिक संकेत है। शब्द और अर्थ दोनों ही इसके आवश्यक उपादान हैं। भाषा में शब्द और अर्थ दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध ही शक्ति या व्यापार के नाम से सम्बोधित होता है। बिना शक्ति के न किसी शब्द का महत्व प्रकट होता है और न किसी अर्थ का बोध हो सकता है। इस प्रकार शक्ति का शब्द और अर्थ के मूल्याँकन के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान है। शब्द और अर्थ का विकास ही भाषा का विकास है। दूसरे शब्दों में शक्ति ही भाषा-विवेचन का मूलाधार है। यह शक्ति तीन प्रकार की होती है—अभिधा, व्यञ्जना और लक्षणा, शब्द अथवा वाचक से ये तीनों शक्तियाँ उद्भूत होती हैं, इसलिए इन्हें हम शब्द-शक्ति भी कहते हैं। सीधे-सीधे संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा कहलाती है। जिस शक्ति के द्वारा अन्य अर्थ की

प्रतीति होती है, उसे व्यञ्जना शक्ति कहते है। लक्षणा शक्ति एक नवीन, आश्चर्यान्वित तथा अधिक शक्ति-पूर्ण अर्थ को व्यक्त करती है। छायावादी कवियों का उद्देश्य अप्रत्यक्ष, सूक्ष्म और आभ्यान्तर अर्थो को व्यक्त करना होता है। अतएव छायावादी कवि अभिधा-शक्ति का पूर्ण प्रयोग नहीं कर सके है। लक्षणा छायावादी काव्य में पूर्ण रूप से व्याप्त है।

'नारी का वह हृदय, हृदय में सुधा-सिन्धु लहरें लेता।
बाड़ब-ज्वलन उसी में जलकर कंचन सा जल रंग देता।'

—प्रसाद

प्रस्तुत कविता में मुख्य अर्थ की बाधा यह है कि सुधा (अमृत) का समुद्र नही होता है और यदि हो तो हृदय में लहरें लेने की कल्पना असम्भव है। तदनन्तर उसमें बड़बाल की लपटों का उठना और भी असम्भव है। इसलिए लक्षणा द्वारा इसका अर्थ यह है कि नारी के हृदय में एक ओर शान्ति, प्रेम और माधुर्य है तो दूसरी ओर वियोग और दुख की ज्वाला। इसी प्रकार :—

पतझड़ था, झाड़ खड़े थे सूखी सी फुलवारी में,
किसलय, नव कुसुम बिछाकर आये तुम इस क्यारी में।
× × × ×
बाँधा था बिधु को किसने इन काली जंजीरों से,
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से ?

इस कविता में पतझड़, झाड़, सूखी फुलवारी में नीरसता का अध्यवसान है तो किसलय, कुसुम आदि में यौवन और आनन्द का।

व्यंजना में सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव को व्यंजित करने की शक्ति होती है। छायावादी कवि काव्य के आभ्यन्तर रूप को अधिक महत्व देते है। इसलिए छायावादी काव्य में व्यंजना का पूर्ण प्रयोग मिलता है। यथा:—

'आह यह मेरा गीला गान !
वर्ण-वर्ण है उर की कंपन,
शब्द-शब्द है सुधि की दंशन
चरण-चरण है आह ।

—पन्त

प्रस्तुत कविता में वर्ण का अर्थ 'रंग' तथा चरण का अर्थ 'पाँव' नहीं है अपितु वर्ण का अर्थ 'ध्वनि का वर्ण' और चरण का अर्थ 'कविता का चरण' है।

दीपक और फूल का चित्रण करती हुई महादेवी वर्मा कहती है कि दीपक और फूल दोनों का निर्माता एक है दोनों का जीवन, त्याग का जीवन है। दोनों ही विश्व का हित करते हैं किन्तु फिर भी एक खिलता है और दूसरा जलता है।

'जिसने उसको ज्वाला सौंपी, उसने इसमें मकरन्द भरा,
आलोक लुटाता वह घुल-घुल, देता झर यह सौरभ बिखरा,
दोनों संगी, पथ एक, किन्तु कब दीप खिला, कब फूल जला।'

—महादेवी वर्मा

व्यंग्यार्थ यह है कि त्यागमय जीवन से महान उद्देश्य की पूर्ति होती है तथा विश्व-नियन्ता जिस वस्तु या व्यक्ति से जो कार्य—साधन करना चाहता है, करता है, व्यक्ति या वस्तु उसके साधन मात्र है।

इस प्रकार छायावादी कविता में शब्द की तीनों शक्ति अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का समुचित प्रयोग हुआ है। नवीन प्रतीकों और अप्रस्तुतों की योजना से शब्दों की लाक्षणिकता तथा व्यंजकता एक नवीन प्रकार की दिखाई देती है।

४—छंद विधान तथा संगीतात्मकता

छंद का अर्थ है बन्धन। साधारण बन्धन नहीं, शब्दों का बन्धन। इसी बन्धन से संगीत की सृष्टि होती है। अतः छंद-विधान और संगीतात्मकता दोनों का कविता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। पन्त जी ने 'पल्लव' की भूमिका में कविता और छंद के सम्बन्ध में इस प्रकार अपने विचार प्रकट किये है कि "कविता तथा छंद के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छंद हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छंद में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं,—जिसके बिना वह अपनी ही बन्धन हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है—उसी प्रकार छंद भी अपने नियंत्रण से राग को स्पन्दन :—कम्पन तथा बेग प्रदान कर निर्जीव

शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियंत्रित साँसे निमंत्रित हो जातीं, तालयुक्त हो जातीं, उसके स्वर में प्राणायाम, रोमों में स्फूर्ति आ जाती, राग की असंवद्ध झंकारें एक बृत्त में बँध जाती उनमें परि पूर्णता आ जाती है।" इस प्रकार छंद विधान काव्य का आवश्यक तत्व है। काव्य को सामाजिक बनाने के लिये यह अति वांच्छनीय है क्योंकि छंदों बद्ध रचना में कवि और पाठक को एक स्थल पर केन्द्रित करने की अनुपम शक्ति होती है। अतः छायावादी कवि भी कविता के लिए छन्द-बन्धन का पूर्ण परित्याग न कर सके। यह सत्य है कि उन्होंने अति प्रचलित छंद जैसे कवित्त, सवैया दोहा, छप्पय आदि का पूर्ण परित्याग किया किन्तु अप्रचलित छंदों तथा मुक्तक प्रणाली को स्वीकार किया, इसमें सन्देह नहीं है। छायावादी काव्य के छंदों की नवीनता, मौलिकता तथा विविधता देखकर हमें मन्त्रमुग्ध होना पड़ता है। इन कवियों ने लोक गीतों के छंदों को अपनाकर, प्रचलित वर्णिक और मान्त्रक छंदों के कलेवर में विभिन्न प्रकार से हेर-फेर कर, गीतों में आन्तरिक पदों तथा टेकों का विधान कर तथा आवश्यकतानुसार तुक-हीन, लयहीन मुक्त छंदों का निर्माण कर अपनी स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। यहाँ तक कि व्यंग में छायावाद के मुक्त छंदों को कंगारू, रबड़ एवं कैचुआँ छंदों की संज्ञा प्रदान की गयी। कतिपय मुक्त छंदों में अँगरेजी अथवा बँगला की लय भी ग्रहण की गयी। बँगला से प्रभाव ग्रहण कर लिखा हुआ निराला जी का मुक्त छंद देखिए :—

'वह तोड़ती पत्थर,
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर,
कोई न छायादार,
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार'
—निराला

हम पूर्व विवेचन कर चुके हैं कि छायावादी कवि काव्य के आन्तरिक रूप के ही उपासक थे। अतएव उन्होंने रीतिकालीन छंदों का पूर्ण बहिष्कार किया। पन्त जी ने स्पष्ट घोषणा की कि "सवैया तथा कविता छंद मुझे हिन्दी कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते······सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृति होने से उसमें एक प्रकार की जड़ता, एक स्वरता आ जाती है।"

इसीलिए छायावादी कवियों का ध्यान भावनाओं के पूर्ण प्रकाशन पर रहा। उन्होंने भावानुकूल मात्रिक छंदों का अवलम्बन ग्रहण किया। कहीं दो-दो छन्दों के समन्वय से एक नूतन छंद को जन्म दिया तो कहीं एक ही छंद के विभिन्न चरणों में मात्राओं की संख्या में विषमता रक्खी। यथा :—

'अरे ये पल्लव बाल !
सजा सुमनों के सौरभ हार
गूथते वे उपहार
अभी तो है ये नवल प्रवाल'
नही छूटी तरु-डाल !'

—पन्त

कहीं-कहीं सभी चरणों में सम मात्राएं रक्खीं। जैसे :—

'ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।'

—प्रसाद

कहीं-कहीं एक ही पद में कई छंद प्रयुक्त हुए हैं :—

'एक औ बहु के बीच अज्ञान
घूमते तुम निज चक्र समान
जगत के उर में छोड़ महान
गहन चिन्हों में ज्ञान।'
परिवर्तित कर अगणित नूतन दृश्य निरन्तर
अभिनय करते विश्व मंच पर तुम मायाकर,
जहाँ हास के अधर, अश्रु के नयन करुणातर
पाठ सीखते सकेतों में प्रकट अगोचर,
शिक्षास्थल यह विश्व-मंच, तुम नायक नटवर,

प्रकृति नर्तकी सुघर
अखिल में व्याप्त सूत्र धर

—पन्त 'परिवर्तन'

प्रस्तुत कविता में प्रथम चार चरणों और अन्त के दो चरणों का छंद एक ही है। बीच के पाँच चरणों का छंद दूसरा है।

अतः छायावादी कविता में छंद विधान अति अनुपम तथा मौलिक है। भावनाओं की विविधता के साथ-साथ छंदों की विविधता भी दर्शनीय है।

छायावादी कविता के छंदों की अन्य विशेपता संगीतात्मकता है। वस्तुतः काव्य और संगीत का अमर सम्बन्ध है। संगीत का आधार स्वर है, जो मात्रा और ताल द्वारा नियंत्रित रहता है। काव्य का आधार शब्द मात्रा और लय द्वारा नियन्त्रित रहता है। संगीत में नाद-तत्व को प्रधान दी जाती है और काव्य में शब्द 'को' जिसका प्राण स्वर ही कहा जाएगा। इस प्रकार संगीत और काव्य का निकट सम्बन्ध स्वाभाविक ही है। भारतीय काव्य का विकास तो संगीत लहरी से सिञ्चित होकर ही हुआ। लोकगीतों में संगीत और काव्य की एक रूपता अब भी अक्षुण है। भक्तिकालीन कवियों की हृत्तन्त्री से निनादित वाणी संगीत माधुर्य से पूर्ण रूपेण मिश्रत है। कबीर, सूर, मीरा, तुलसी आदि अमर कलाकारों के काव्य मे संगीत स्वर लहरी का मनोहारी माधुर्य रसना को ही रसवती नही करता वरन् श्रुत पुटों में पीयूष उडेलता है। भक्त कवियों के असंख्य एवं अनेक राग-रागनियां अपने अनुपम माधुर्य से बसुन्धरा को सिञ्चित करती हुई सी प्रतीत होती है। छायावादी युग में भी संगीतात्मकता के वह सरस एवं सजल अंकुर पुनः हरित होते हुए से प्रतीत होते हैं। निराला जी में भी यह कला चरमावस्था पर विचरण करती हुई प्रतीत होती है। पाश्चात्य साहित्य तथा बंगला साहिस्य के सतत प्रभाव से हिन्दी काव्य में एक विशिष्ट सौन्दर्य का समावेश हुआ है जो संगीत के स्वर से झंकृत होकर हृदय के अंचल को स्पष्ट रूप से स्पर्श कर रहा है। अतएव हिन्दी के छायावादी कवि विभिन्न राग-रागनियों के गायक ही नही अपितु विधायक भी हैं। सिनेमा की गीतपद्धति तथा कवि सम्मेलनों में सस्वर कविता पाठ ते छायावादी कवियों को संगीत की ओर अधिकाधिक प्रोत्साहित किया है। आज छायावादी कवि कोरे कवि ही नहीं

वरन् संगीतज्ञ भी हैं। प्रसाद और निराला ने, शास्त्रीय संगीत के ज्ञाता होने के कारण संगीत-तत्व को अधिक महत्व दिया है।

इस प्रकार छायावादी कविता में संगीतात्मकता से समन्वित छंद विधान की विविधता विशेष महत्व रखती है।

५—चित्रात्मकता

काव्य में चित्रणकला का विशेष महत्व है। वस्तुतः काव्य को हम भाव या वस्तु का शब्द-चित्र कह सकते हैं। सफल चित्रण का वास्तविक लक्ष्य सौन्दर्य है। काव्य में तीन प्रकार से सौन्दर्य का चित्रण होता है :—रूप सौन्दर्य, भाव सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य। रीतिकालीन कवियों का नख-शिख वर्णन रूप सौन्दर्य के अन्तर्गत ही आता है। भाव-सौन्दर्य आत्मगत होता है। वह कलाकार के अन्तस्तल की सौन्दर्य भावना का वर्ण्य वस्तु में आरोपमात्र है। कर्म-सौन्दर्य क्रियाशीलता तथा गद्यात्मकता का प्रतिविम्ब मात्र है। छायावादी कविता में कर्म-सौन्दर्य के चित्रण का नितान्त अभाव है। कारण मुक्तक गीतों में कीर्ति-स्तवन को अवकाश नहीं मिलता। इस प्रकार छायावादी काव्य में रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। निराला और प्रसाद रूप-सौन्दर्य के सजीव एवं आकर्षक चित्र है। 'भारतीय बन्दना' शीर्षक कविता में निराला जी द्वारा भारत-श्री का सुन्दर चित्र देखिए :—

भारति, जय, विजय करे,
कनक-शस्य-कमल धरे।
लङ्का पदतल शतदल
गर्जितोर्मि सागर जल
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु अर्थ-भरे।
तरु-तृण-बन-लता-वसन,
अचल में खचित सुमन,
गंगा ज्योतिर्जल—कण,
धवल-धार हार गले!

मुकुट शुभ्र हिम-तुषार,
प्राण प्रणव ओङ्कार
ध्वनित दिशायें उदार,
शतमुख—शतख—मुखरे ।

—निराला-'गीतिका' ।

स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत माता की सजीव प्रतिमा हमारे नेत्रों के समक्ष उपस्थित हो जाती है जो दर्शनीय नही अपितु बन्दनीय भी है। प्रसाद जी द्वारा कामायनी के 'श्रद्धा सर्ग' में एक व्यक्ति की आकृति का छाया और प्रकाश की कला द्वारा कैसा प्रभावात्मक चित्र उपस्थित किया गया है :—

'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार एक लम्बी काया, उन्मुक्त;
मधु पवन कीड़ित ज्यों शिशु शाल, सुशोभित हो सौरभ संयुक्त ।
मसृण गान्धार देश के नील रोम वाले मेषों के चर्म,
ढँक रहे थे, उसका वपु कान्त, बन रहा था वह कोमल वर्म ।
नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखिला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ-बन बीच गुलाबी रंग ।
आह वह मुख पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि मंडल उनको भेद दिखाई देता हो छवि धाम ।
घिर रहे थे घुँघराले बाल, अंस अवलंबित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास ।'

रहस्य और कुतूहल पूर्ण कैसा सुन्दर एवं आकर्षक छाया चित्र है ।

प्रकृति के छाया चित्र भी छायावादी कविता में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं । पन्त जी का 'चाँदनी' शीर्षक कविता में मनोरम खण्ड-चित्र की छटा अवलोकनीय है ।

'नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद हासिन
मृदु करतल पर शशि मुख धर नीरव अनिमिष एकाकिन ।'

छायावादी काव्य में भाव-सौन्दर्य के चित्रण का बाहुल्य है । कामायनी में प्रसाद जी ने भावों को सांगोपांग रूप से साकारिता तथा मूर्तता प्रदान की है । सौन्दर्य की साकार प्रतिमा की पावन झाँकी अवलोकनीय है :—

'तुम कनक-किरण के अन्तराल में लुक छिपकर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के थन रसकन ढरते,
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में।
कल-कल ध्वनि की गुजारों में।
मधुसरिता सी यह हँसी तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ?

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि चित्रात्मकता भी छायावादी कविता का शैलीगत अथवा कलागत गुण है। इसमें छायावादी कवियों को आशातीत सफलता मिली है। ये चित्र अत्यन्त ही आकर्षक तथा प्रभावन्विति पूर्ण हैं जिनकी पाठक के हृदय पर अमिट छाप लग जाती है तथा पलकों पर अमर्र-सुन्दरता बस जाती है।

छायावाद की भावगत तथा शैलीगत विशेषताओं का विवेचन करने के पश्चात् हमारा ध्यान छायावादी कवि की निजी विशेषता की ओर आकृष्ट हो जाता है। यह विशेषता छायायादी कवि की व्यक्तिगत विशेषता है। जिसे हम वैयक्तिकता के नाम से पुकार सकते हैं। सारे छायावादी काव्य में वैयक्तिकता की प्रधानता लक्षित होती है। प्रत्येक छायावादी कवि ने अपनी कविता में 'स्व' की अभिव्यञ्जना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि छायावादी कवि वहिर्जगत की भीषणता से त्रस्त होकर उससे एक तटस्थता का भाव रखकर अपने काल्पनिक-लोक में सुख एवं शान्ति ढूँढ़ने का प्रयास कर रहा हो तथा वह जीवन की कटुता से ऊवकर विराम लेने के प्रयत्न में हो। इसीलिए उसके अन्तस्तल से 'ले चल मुझे भुलावा देकर' अथवा "शान्ति सुख, रे उस पार' आदि गीत निसृत हो उठते हैं। इसका एक-मात्र कारण यही हो सकता है कि अधिकांश छायावादी कवि व्यक्तिगत जीवन से असन्तुष्ट थे। एक ओर दैन्यता का प्रकोप तथा दूसरी ओर प्रेमिक जीवन की असफलता—दोनों कारण अधिकांश छायावादी कवियों के मानस-मुकुर को घूमिल किये हुए थे। वेदना, दुख, निराशा में इन सभी छायावादी कवियों को आँसुओं का अर्घ्य चढ़ाना पड़ा। यही कारण है कि प्रसाद तथा पन्त जैसे महान कलाकारों की क्रमशः 'आँसू' और 'ग्रन्थि पल्लव'

जैसी प्रारम्भिक कृतियाँ निराशा के गीतों से भरी पड़ी हैं। तदनन्तर समाज में स्वच्छन्द रूप से व्यक्त न की जाने वाली भावनाएँ प्रकृति की कल्पनाओं के साथ व्यक्त होने लगी। पलायन वृत्ति का उद्भव छायावादी कवियों में इसी वैयक्तिकता के कारण हुआ। इसी प्रकार जीवन के प्रति छायावाद का दृष्टिकोण केवल भावात्मक रह गया। यह नितान्त निष्क्रिय था। छायावादी कवियों को कुछ काल तक अनन्त कुहेलिका में निराश जीवन में परितोष प्राप्त हुआ किन्तु आगे चलकर इन्होंने प्रकृति को नारी का प्रतीक मान लिया। वैयक्तिकता के कारण प्रकृति के सरोवर मे नारी की स्मिति, पुष्प, में यौवन, लहरों में आलिङ्गन आदि को सुषमा का संसार देखा जाने लगा। यहाँ तक कि प्रकृति उनके लिए केवल प्रेम-पिपासा के शमन का साधन बन गयी। तदनन्तर छायावादी कवि अपने हृदय के सारे उच्छ्वास, अरमान तथा उत्ताप लेकर आत्म-निवेदन की भावना से आगे बढ़ा किन्तु जहाँ से उसने आगे बढ़ने को पग उठाया था। वहीं लौटकर पहुँच गया। अंचल और नरेन्द्र ऐसे ही कवि कहे जाएँगे जो छायावाद-जनक, प्रसाद आदि के आदेशों की अवहेलना कर आज के चित्रपट तथा धूम्रपान-आसक्त नवयुवकों की भाँति पूर्वज-सञ्चित-सम्पत्ति का विनाश करने के लिए सन्नद्ध हों। वस्तुत ! ये आदर्श-हीन रचनाएँ ही छायावाद के पतन का कारण हुई।

पन्त जी ने छायावाद के पतन के कारण का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—"छायावाद इसलिए अधिक नहीं चल सका क्योंकि उसके लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नही था। वह काव्य न रहकर अलंकृत संगीत बन गया था।" महादेवी-वर्मा ने भी छायावाद के विषय में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—"छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्ग-गत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य-सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया। समाहार-रूपेण आलोचकों ने छायावाद के कतिपय दोष बताये हैं जिन्हें हम छायावाद के पतन का कारण कह सकते हैं। वे निम्नलिखित हैं :—

(१) छायावाद वास्तविक तथा यथार्थ जीवन से दूर।

(२) वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव।

(३) रूढ़गत-शैली ।

(४) कवियों में शब्द-मोह, चित्र-मोह और कल्पना-मोह ।

(५) पलायन प्रवृत्ति ।

(६) भारतीय काव्य की मूल-प्रेरणाओं का अभाव ।

वस्तुतः छायावाद के कर्तव्य का विचार करते हुए ये दोष कोई अस्तित्व नहीं रखते क्योंकि छायावाद ने हिन्दी काव्य में भाव-जगत में एक ओर कुत्सित, मलिन तथा वासनात्मक सौन्दर्य के स्थान पर शुद्ध सुरुचि-सम्पन्न सरस-सौन्दर्य का उद्घाटन किया तथा बुद्धिवाद के स्थान पर सुकुमार भावना को प्रश्रय दिया; तो दूसरी ओर शैलीगत क्षेत्र में नवीन अभिव्यंजक, लाक्षणिक शक्तियों के सम्बल से भाषा-परिष्कार ही नहीं किया अपितु कोमल कान्त-पदावली के समावेश से शाश्वत-साहित्य सृजन किया । यही नहीं छायावादी कवियों ने हिन्दी काव्य में एक दार्शनिक विचार-धारा की स्थापना की जिसमें द्वैत-अद्वैत के समन्वय, जीवन और जगत की लालसा, चिर-विनाश की असारता, मुक्ति की अस्पृहणीयता, परम-चेतना सत्ता की पावन झाँकी आदि की मौलिक उद्भावनाएँ थीं जिसने मानवतावाद के प्रति आस्था के अंकुर अंकुरित किये ।

कविवर निराला जी के छायावाद की दार्शनिक विशेषताओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

'चेतन का सुन्दर इतिहास,
अखिल मानव भावों का सत्य,
विश्व के हृदय पटल पर दिव्य,
अक्षरों से अङ्कित हो नित्य ।
शक्ति के विद्युत कण जो व्यस्त,
विकल बिखरे हैं, हों निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त,
विजयिनी मानवता हो जाय ।'

अतः छायावाद साहित्य की एक आदर्शात्मक भाव-पूर्ण अभिव्यक्ति है जिसमें जीवन की गति-शीलता के प्रति अटूट-श्रद्धा तथा समाज की जागरूकता के लिए अनुपम अनुराग है । यह वह संगम है, जहाँ विश्व-चेतना, प्रकृति चेतना

तथा मानव-चेतना समन्वित होकर, सुख शान्ति एवं सौन्दर्य के साकार दर्शन कराती हैं। यह नेत्र, मन और प्राणों के मिलन का सुस्थल प्रकृति और परम-सत्ता के प्रियतम और पावनतम दर्शन की चित्र-शाला; सुकुमार भावनाओं और कमनीय कल्पनाओं की अभिनय-शाला तथा सरस शब्दों और शब्द-शक्तियों की की प्रदर्शन-शाला है। इसमें चिर विदग्ध वियोगियों के लिए मिलन के मधुर-संदेश, संयोगियों के लिए सुमुखियों की सुस्मिति, रागियों के लिए सुराग तथा विरागियों के लिए भवसागर के उस पार के स्वर्णिम सुख की सुस्पर्श्य साकारिता है। हिन्दी के कुत्सित, कुंठित तथा कलंकित रीति-काव्य का उत्तराधिकारी होते हुए भी इसने प्रगतिवाद जैसे माङ्गलिक साहित्य को जन्म दिया है जिसका अक्षय आलोक साहित्यकारों को शाश्वत आनन्द-प्रदान करेगा। संक्षेप छायावाद विश्व-चेतना का साकार रूप है।

रहस्यवाद

सारा विश्व एक रहस्य से भरा है। मानव की करोड़ों वर्षो की खोज क्या जान पाई कि आकाश में चमकने वाला एक-एक तारा सूर्य से भी अधिक बड़ा है। एक नीहार राशि में अनेक महा सूर्य हैं। तब पृथ्वी इस विराट विश्व का कौन सा भाग है—यह अनुमान नहीं किया जा सकता। फिर मानव जीवन का मूल्य इस पृथ्वी पर उठे हुए बुलबुले के समान है। अपने इस जीवन के मूल्य का महत्व विचार कर मानव आश्चर्यान्वित है। उसके लिए सारी सृष्टि एक रहस्य है। वह सोचता है कि संसार का परिचालन कौन करता है? इस असंख्य सूर्य, चन्द्र, तारे आदि के कार्यक्रम का समय-विभाजन कौन करता है? एक ही पौधे पर पुष्प कंटक क्यों लगते हैं? सरिताओं के निरन्तर जल उडेलने पर सागर क्यों नहीं भरता है? बिना मूल की अमरवेल को कौन सींचता है। छोटे-छोटे बीज में विशाल वृक्षों के उत्पन्न होने की शक्ति कहाँ से आती है? ऐसे रहस्यों की सीमा नही है। अतः मानव इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि इन रहस्यों के पीछे एक अव्यक्त शक्ति हैं। अव्यक्त शक्ति के समर्थन में उसकी पुकार सुनिए :—

'तेरी सत्ता के बिना, हे प्रभु मंगल मूल।
पत्ता तक हिलता नहीं, खिले न कोई फूल।'

इस अव्यक्त, अज्ञात शक्ति का सभी धर्मों ने ईश्वर नाम रखकर गुणगान किया है। ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है। अखिल सृष्टि का रचयिता वही है। सारे प्राणियों का स्वामी वही है अशरणों को शरण देने वाला वही है। दीनों का भगवान वही है। निराश की आश वही है। दुखियों का दुःख हर्त्ता वही है। सूर्य उसकी आज्ञा से नियमित रूप से आकाश मंडल में चक्र काटता दिखाई देता है। उसकी आज्ञा से ही शशि रात्रि के अन्धकार के आवरण को हटाने का प्रयास करता है। कल्लोलिनी उसकी आज्ञा से ही रत्नाकर के चरणों में जल की भेंट दिया करती है। उसकी प्रसन्नता से ही मेघ जल की वर्षा करते हैं। सारांश

यह है कि उसकी आज्ञा से सभी प्राणी इस विश्व में आते है तथा चले जाते हैं। किन्तु अभी तक ज्ञात नहीं कि वह शक्ति कैसी है ? इसी रहस्य को समझने के लिए कवि की जिज्ञासा देखिए :—

"हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता ।
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो,
भार विचार न सह सकता ।"

—प्रसाद

आस्तिकों ने इस शक्ति के दो रूप माने है—साकार और निराकार। निराकार शक्ति का ऊपर नाम ब्रह्म है। इस ब्रह्म की परम सत्ता का बोध तथा साक्षात्कार रहस्यवाद है। वस्तुतः रहस्यवाद की अनभूति का तत्व जिह्वा द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता है। वह तो हृदय की अनुभूति का विषय है फिर भी विद्वानों ने रहस्यवाद की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है :—

रामकुमार वर्मा—"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ अन्तर नहीं रहता है।"

महादेवी वर्मा—"जब प्रकृति की अनेक रूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में, कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध में मानव हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग जनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसीसे इस अनेक रूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म निवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना, जिसे रहस्यमय रूप के कारण रहस्यवाद का नाम दिया गया।"

श्याम सुन्दरदास—"अज्ञात और अव्यक्त सत्ता के प्रति जिसमें भाव प्रकट किये जाते हैं वही कविता रहस्यवाद की कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में व्यक्त जगत मे परोक्ष की अनुभूति का अभिव्यञ्जन रहस्यवाद है। कला की दृष्टि से यह एक शैली विशिष्ट है, जिसमें इस विविध चराचर के मूल में विद्यमान कारण भूत रहस्यमयी चेतन-सत्ता पर मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके प्रति अनुराग जनित आत्मसमर्पण की भावना का अभिव्यञ्जन किया जाता है।"

गंगाप्रसाद पाण्डेय—"ईश्वर तथा इस विश्व का सम्बन्ध, इस विश्व की क्रियाशीलता का रहस्य, उसकी उत्पत्ति, उसका विनाश, आदिकाल से मनुष्य को मुग्ध तथा क्षुब्ध किये है। इस क्षुब्धता में अशान्ति का आवेश है। अतः शान्ति प्रिय नर समाज इस चिर रहस्य गुत्थी के सुलझाने का प्रयास कर रहा है, हमारी ससीम चेतना असीम चेतना की निरन्तर खोज करती रहती है। इसी खोज की मधुर अभिव्यक्ति काव्य मे रहस्यवाद का रूप धारण करती है। × × × सारांशतः रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं स्वर्गिक "मंहा-अस्तित्व" के साथ एकात्मता का अनुभव करने लगता है।"

नगेन्द्र—"बहिरंग जीवन से सिमटकर जब कवि की चेतना ने अन्तरङ्ग में प्रवेश किया तो कुछ बौद्धिक जिज्ञासाएँ जीवन और मरण सम्बन्धी, प्रकृति और पुरुष सम्बन्धी, आत्मा और विश्वात्मा सम्बन्धी—काव्य में आजाना सम्भव ही था और वे आईं। उसके चिन्तन स्वरूप रहस्यवादी कविता उद्भुत हुई।"

रामचन्द्र शुक्ल—"चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, वही भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद है।"

बाबू गुलाबराय—"प्रकृति में मानवी भावों का आरोप कर जड़-चेतन के एकीकरण की प्रवृत्ति छायावाद की एक विशेषता है और उसके मूर्त्त अमूर्त्त से तुलना करने वाले अलंकार विधान मे जैसे 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल' लहरों के लिए 'इच्छाओं सी असमान' तथा मानवीकरण प्रधान लाक्षणिक प्रयोगों में परिलक्षित होती है। जब यह प्रवृत्ति कुछ अधिक वास्तविकता धारण

कर अधुभूतिमय निजी सम्बन्ध की ओर अग्रसर होती है तभा छायावाद रहस्य-वाद मे परिणित हो जाता है।"

विश्वम्भर मानव—"प्रकृति को चेतना प्रदान करना छायावाद है और ब्रह्म के प्रति प्रणय निवेदन रहस्यवाद है।"

शान्तिप्रिय द्विवेदी—"जिस प्रकार इतिवृत्तात्मकता के आगे की चीज छायावाद है, उसी प्रकार छायावाद से आगे की चीज रहस्यवाद है। छायावाद में यदि जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति या आत्मा का आत्मा के साथ सन्निवेश है तो रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा के साथ सन्निवेश या एकीकरण है। छायावाद में यदि लौकिक अभिव्यक्ति है तो रहस्यवाद में अलौकिक।"

उपर्युक्त विद्वानों के भिन्न-भिन्न मतों के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि रहस्यवाद छायावाद से आगे की वस्तु है। छायावाद में आत्मा का सम्बन्ध आत्मा से और रहस्यवाद में आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से दिखाया जाता है। दूसरे शब्दों में व्यक्त में व्यक्त की अनुभूति छायावाद और व्यक्त में अव्यक्त की अनभूति रहस्यवाद है। अथवा ज्ञात-ज्ञात का मिलन छायावाद तथा ज्ञात-अज्ञात का मिलन रहस्यवाद है।

वस्तुतः रहस्यवाद शान्त और अनन्त तथा नश्वर और शाश्वत के सम्मिलन को लेकर आगे बढ़ा है। इसका विषय गूँगे के गुड़ की भाँति बुद्धि और तर्क से परे है। यह एक अलौकिक अनुभव है। ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्त कवि दादू ने ठीक ही कहा है :—

'केते पारिख पचि मुए, कीमत कही न जाय।
दादू सब हैरान हैं, गूँगे का गुड़ खाय॥'

रहस्यवाद का शाब्दिक अर्थ ज्ञानातीत सत्य का आध्यात्मिक निरूपण है। जिस दिन सर्वप्रथम मानव ने सृष्टि की गोद में आँखें खोलीं, उसने एक रहस्य का अनुभव किया। अतः अनादिकाल से ही मानव के मन में आत्मा और परमात्मा के प्रश्न उठते रहे हैं। प्रत्येक देश अथवा जाति के साधकों ने इस रहस्यपूर्ण पहेली को सुलझने का प्रयत्न किया हैं किन्तु यह अनुभव अति गूढ़, गूह्य और अनिर्वचनीय होने के कारण आज भी पूर्ववत एक रहस्य बना हुआ

है। इस प्रकार रहस्यवाद का इतिहास अति प्राचीन है। हमारे साहित्य में इसका विकास आदिकाल की उस आर्य-भावना का विकास है जिसकी अनुभूति से वह मेघ, वायु, अग्नि, जल आदि में एक विराट अव्यक्त शक्ति के दर्शन करता था। यह स्तुति अन्धविश्वास की कोरी कल्पना अथवा भक्ति का भ्रमपूर्ण ढकोसला नहीं था। यह स्वाभाविक चेतन्य का अनुभव मात्र था अथवा आर्य-साधकों द्वारा जीवन को परोक्ष सत्ताओं के साथ संयुक्त करने का प्रयास-मात्र था। किन्तु वैदिक काल की यह देवत्व-अनुभूति मानव-जीवन की जटिलता को नहीं सुलझा सकी। तदनन्तर प्राकृतिक शक्तियों की कल्पना समष्टि शक्ति के रूप में की गयी। इसके पश्चात् मानव हृदय में उस समष्टि शक्ति का परिचय पाने की जिज्ञासा की गयी।

'कथं वातं नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन ।।'

अर्थात् वायु व्याकुल क्यों है ? मन क्यों नहीं रम रहा है ? तथा किस सत्य को प्राप्त करने के लिए जल गतिशील है ?

वेदों के पश्चात् उपनिषदों में परोक्ष परम सत्ता की पूर्ण प्राण प्रतिष्ठा की गयी। इस अलक्षित शक्ति की अस्तित्वपूर्ण कल्पना ही से रहस्यवाद का बीजारोपण हुआ। उपनिषदों में इस अलक्षति शक्ति की व्यापकता देखिए :—

"यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्व भुवनमा विवेश,
यो ओपधीषु यो बनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः।"

अर्थात् जो देव अग्नि में, जल में, विश्व-भुवन में, औषधियों तथा बनस्पतियों में व्याप्त है, उसे नमस्कार है।

पन्त जी ने 'सौर-मण्डल' कविता में अव्यक्त शक्ति की उसी व्यापकता को व्यक्त किया है :—

'चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय,
चिन्मय प्रकाश में विकसित लय।
रवि, शशि, ग्रह, उपग्रह, ताराचय,
अग—जग प्रकाशमय है निश्चय।'

× × ×

वह विश्वात्मा रे अग-जग का।
वह अखिल चराचर का समुदय ।।

गीता में भी आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को एक रहस्य ही कहा है :—

'इदं हि ते गुह्यतम् प्रवक्षाम्ययु सूयवे ।'

इस प्रकार हमारे साहित्य में रहस्यवाद अति प्राचीन है। कतिपय विद्वानोंका कथन है कि रहस्यवाद अँगरेजी शब्द मिस्टिसिज्म (Mysticism) का भाषान्तर है। (Mysticism) मूल धातु (My) से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'चुप रहना।' अतः अनिवर्चनीयता रहस्यवाद का पैतृक गुण है। आचार्य शुक्ल भी रहस्यवाद को पाश्चात्य साहित्य की देन मानते है। उनके मतानुसार रहस्यवाद सूफी कवियों द्वारा यूरोप पहुँचा। तदनन्तर ईसाई सन्तों के छायाभासों में अन्तर्निहित रहा। उसके पश्चात् अँगरेजी कवि ब्लेक, कीट्स आदि द्वारा कवीन्द्र रवीन्द्र के माध्यम द्वारा बंगाल मे अवतरित हुआ। फिर रवीन्द्र की वाणी प्रसाद, निराला आदि में प्रतिध्वनित हो उठी। शुक्ल जी हिन्दी के पंथवादी कवियों से रहस्यवाद स्वीकार नही करते। उन्होंने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक में विवेचना करते हुए लिखा है कि—"किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम मे आँसुओं की आकाश-गंगा में तैरने, हृदय की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न प्रलय-सा ताण्डव करने या मुँदे नयन पलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को कविता कहना कहाँ तक ठीक है? जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्य क्षेत्र से निकल मतवालों (साम्प्रदायियों) के बीच अपने हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए।" डाक्टर केशरी नारायण शुक्ल ने भी अपनी पुस्तक 'आधुनिक काव्य धारा' में शुक्ल जी के मत का प्रतिपादन किया है।

"अँगरेजी साहित्य का मिस्टिसिज्म हिन्दी काव्य में रहस्यवाद तथा छायावाद के नाम से व्यक्त होता है। रहस्यवाद उस रहस्योमुख भावना की ओर संकेत करता है जिसका मिस्टिसिज्म से सतत सम्बन्ध है।"

अतएव आचार्य शुक्ल जी की दृष्टि में रहस्यवाद विलायत की अद्भुत देन है। उनका यह निर्णय सकारण तथा समीचीन नहीं। कारण-उनका विवेचन अपनी

वैयक्तिक उद्भावनाओं पर आश्रित है। आधुनिकता के कट्टर विरोधी होने के कारण वह आधुनिक काव्य-धारा के प्रति समुचित न्याय नहीं कर सके। नन्द-दुलारे बाजपेयी ने लिखा है कि "शुक्ल जी 'लोकमंगलवाद' के संकुचित दृष्टिकोण को लेकर सूरदास तथा अन्य रहस्यवादी कवियों के साथ उचित न्याय न कर सके।" यह सत्य है कि कबीर, सूर आदि की रहस्यवादी रचनाएँ आधुनिक रहस्यवादी रचनाओं से कुछ भिन्न है किन्तु वे भी रहस्यवाद के अन्तर्गत आती हैं। वस्तुतः प्राचीन और अर्वाचीन रहस्यवादी कविताओं का वर्ण्य-विषय एक ही है। साधारणतया प्राचीन रहस्यवाद वासनात्मक प्रेम-तत्व पर अवलम्बित न होकर सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति पर आश्रित था। उसमें कतिपय अंशों में पंथवादी सिद्धान्त तथा साम्प्रदायिक मान्यताओं का पुट रहता था। इसके विपरीत अर्वाचीन रहस्यवाद में वासनात्मक प्रेम-तत्व की प्रधानता तथा इसकी अनुभूति कल्पनात्मक अधिक होती है। इसमें पाश्चात्य साहित्य के सतत साहचर्य से परमतत्व की झाँकी प्रेमतत्व से अधिक प्रभावित हुई प्रतीत होती है। वैसे प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार के रहस्यवाद का भावगत दृष्टिकोण एक ही है। इससे पूर्व कि रहस्यवादी विशेषताओं का विवेचन किया जाए, यह उपयुक्त होगा कि रहस्यवाद को अपने भारतीय साहित्य की मौलिक देन स्पष्ट करने के लिए उसके इतिहास पर एक बिहंगम दृष्टि डाली जाए।

हिन्दी में रहस्यवाद का इतिहास उसके आदि युग से ही प्रारम्भ होता है। नानपंथी योगियों एवं साधकों में हमें सर्वप्रथम इसकी झाँकी होती है। इनका रहस्यवाद यद्यपि उसी परमसत्ता की ओर संकेत करता है किन्तु उसमें पंथवादी सिद्धान्तों की सर्वत्र छाप है। योग की क्रियाओं की भाँति इन साधकों की रहस्यात्मक अनुभूतियाँ भी मानव-मस्तिष्क के लिए जटिल पहेली अथवा गोरख जाल प्रतीत होती हैं। इन अनुभूतियों में भावात्मक आनन्द अल्प बौद्धिक संघर्ष अधिक है। अतएव नानपंथी योगियों का रहस्यवाद बुद्धि-तत्व द्वारा परमात्मा और आत्मा को एक सूत्र में बाँधने का असफल प्रयास है। तदनन्तर शुद्ध और वास्तविक रहस्यवाद की झाँकी हमें कबीर और जायसी की रचनाओं में होती है। कबीर रहस्यवाद के आदि कवि हैं। डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने भी कबीर को सर्वप्रथम रहस्यवादी कवि स्वीकार किया है। आचार्य शुक्ल जायसी को

सर्वप्रथम शुद्ध एवं भावात्मक रहस्यवादी कवि मानते हैं। वस्तुतः कबीर में भी भावात्मक रहस्यवाद का पूर्ण पुट परिलक्षित होता है। वह ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रधान कवि होते हुए भी शुष्क ज्ञान परक तर्क-वितर्क पूर्ण रहस्यवाद में नहीं पड़े। उनका रहस्यवाद परमसत्ता की सहज, स्वाभाविक अनुभूति का अन्तर्स्पर्श करता हुआ चलता है। उसमें भावुकता का पूर्ण समावेश है। वस्तुतः रहस्यवाद दर्शन और काव्य का समन्वित माधुर्य होता है। अतएव कबीर में दर्शन और काव्य का मधुर संयोग है। उनका भावात्मक अनुभूति पूर्ण एक दोहा देखिए :—

'माली आवत देखकर कलियाँ करी पुकार।
फूले-फूले चुन लिये काल्हि हमारी बार ॥'

भावना की चेतन-स्थिति की कैसी सजीव अनुभूति हैं? अतएव कबीर भावात्मक रहस्यवाद के आदि कवि हैं। उन्होंने शुष्क ज्ञान का सम्बल केवल समाज-सुधार के उद्देश्य से ग्रहण किया। यदि वह ऐसा न करते तो मसजिद की मीनारों से बाँग देने वाले मुल्लाओं और तिलकधारी, मायारूप पण्डितों को कैसे पराजित कर पाते। वह जानते थे कि ज्ञान और भावना के पृथक-पृथक क्षेत्र तथा विभिन्न गुण हैं। इसीलिए उन्होंने परमसत्ता की सारता ग्रहण करने के लिए केवल भावना को ग्रहण किया जैसा कि उनके निम्नलिखित दोहे से व्यक्त होता है :—

'यह करनी का भेद है नाहीं बुद्धि-विचार।
बुद्धि छोड़ करनी करौ, तौ पाओ कुछ सार ॥'

अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा की कबीर के रहस्यवाद में अनुभूति पक्ष ही प्रधान है। अनुभूति के दो पक्ष हैं। एक कार्य सत्य की खोज तथा अपर का कार्य आत्मा के अस्तित्व में अमर विश्वास करना है। तदनन्तर सत्य के मूल स्रोत तथा परमपिण्ड ब्रह्म से आत्मा का महा मिलन होता है। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा अथवा 'अहम्' और 'परम' की एकरूपता ही रहस्यवादी की आध्यात्मिक यात्रा का परमलक्ष्य है। कबीर के काव्य में इस परमलक्ष्य की साधना स्थान-स्थान पर दिखाई देती है :—

'पानी हीं तैं हिम भया, हिम भी गया बिलाय
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाय।'

'हिम' और 'जल' की एकरूपता तत्वतः 'अहम्' और 'परम' की अभिन्नता ही है। रहस्यवाद की अन्य विशेषता 'अहम्' और 'परम' को प्रेम के सूत्र से एकरूप करना है। दाम्पत्य-प्रेम आदर्श प्रेम की पराकाष्ठा एवं चरम परिणिति है। नारी-हृदय अति कोमल, सरस एवं स्पर्शी होने के कारण भावनाओं की अनुपमनिधि, अनुभूतियों का अक्षय कोष है। अतएव नारी-हृदय की विशेषता प्रिय-प्राप्ति का सुलभ सोपान है। इसीलिए परमसत्ता के परमोपासक साधनाइष्ट कवियों ने अपने को नारी रूप में अंकित कर उस पावन, परम सत्ता की अनुपम अर्चना की है। कबीर भी ऐसे ही साधकों में से हैं जिन्होंने प्रियतम की प्राप्ति के लिए अपने को दुलहिन की भाँति सजाने में किसी प्रकार के प्रयत्न को शेष नही रक्खा। दुलहिन रूप में प्रियतम-वरण की कमनीय कामना देखिए—

"दुलहिनी गावहु मङ्गलाचार।
हम घर आये हो राजा राम भरतार॥
तन रत करि मन रत करिहौं पंचतत्त्व बराती।
रामदेव मोरे पाहुने आये मैं जोबन में माती॥
सरीर सरोवर वेदी करिहौं ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव संग भाँवरि लैऊँ धनि-धनि भाग हमार॥
सुर तेतीसौ कोटिक आये मुनिवर सहस अठासी।
कह कबीर हम व्याहि चले है पुरुष एक अविनासी॥"

तात्पर्य यह है कि कबीर की रचनाओं में रहस्यवाद के अनेक रूप पाये जाते हैं। अतः कबीर रहस्यवाद के आदि कवि ही नहीं वरन् अमर कवि हैं।

तदन्तर जायसी भी शुद्ध एवं भावात्मक रहस्यवाद के अमर कलाकार हैं। इनके रहस्यवाद में सूफी रहस्यवाद का उत्कृष्ट एवं सुस्पष्ट रूप है। सूफीवाद ईश्वर को स्त्री रूप में देखता है। साधक उसे (ईश्वर) को माशूक़ मानकर प्रकृति के कण-कण में उसके रूप का आभास पाकर उसके वियोग में व्याकुल हो उठता है। वह अपने माशूक़ की प्रत्येक गति पर वह अपने को समर्पित

करना चाहता है। हाला वितरित करते हुए माशूक़ की अदा पर एक सूफी कवि की मुग्धता देखिए—

'देना वह उसका सागिरेमय याद है निजाम
मुँह फेरकर उधर को इधर को बढ़ाके हाथ।'

वैसे तो सभी सूफी कवियों ने 'प्रेम की पीर' को जगाया। सभी ने हिन्दुओं की प्रेमगाथाओं को लेकर लौकिक प्रेम का आधार लेकर आध्यात्मिक प्रेम को स्पष्ट किया किन्तु जायसी ने अपने दर्शन को जो वाणी दी वह अमर है। उनकी 'पद्मावत' में रत्नसिंह और पद्मावती का मधुर मिलन आत्मा और परमात्मा अथवा 'अहम्' और 'परम' का अमर संयोग है। कबीर पर भारतीय साधनात्मक रहस्यवाद का प्रभाव अधिक था और इसीलिए उन्होंने 'आत्मा' को पत्नी का रूप दिया पुरुष का नहीं फिर भी उन पर सूफियों की विरह भावना का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है। जायसी में यह विरह की उक्तियाँ मौलिक और अति हृदय स्पर्शी हैं।

यथा—

'रवि, ससि, नखत दिपहि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ-जहँ विहँसि सुभावहि हँसी। तहँ-तहँ छिटकि जोति परगसी॥
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन जोति नगहीर॥

अर्थात् रवि, चन्द्र, नक्षत्र, रत्न, माणिक, मोती आदि सभी में उसी की परम ज्योति विद्यमान है। कमल में उसकी नयनाभिरामता, नीर में उसकी शारीरिक शोभा, हीरे मे उसकी दंत पक्ति की कान्ति तथा हँस में उसका हास्य विद्यमान है। इस प्रकार जायसी का रहस्यवाद भी शुद्ध और भावात्मक रहस्यवाद है।

जायसी के पश्चात् सूर में रहस्यवाद का पुट मिलता है। यद्यपि वह सगुणोपासक कवि थे और 'अविगत गति कछु कहत न आवै' कहकर निर्गुण ब्रह्म और अव्यक्त शक्ति की अनिवचनीयता की ओर संकेत किया है फिर भी उन्होंने 'चकई री! चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम-वियोग' कहकर आत्मा और परमात्मा के मधुर मिलन का दिव्य संदेश दिया है। इस प्रकार सूरदास

के काव्य में भी यत्र-तत्र रहस्यवाद की झाँकी मिल ही जाती है। तदन्तर मीरा की प्रेमभावना में रहस्यानुभूति की सजीव वाणी अनियंत्रित रूप से निनादित हो उठी है। उसमें अशरीरी ब्रह्म के साथ प्रणय की भावना की अनुपम अभिव्यक्ति है यद्यपि अन्य सगुण कवियों में व्यक्त रूप से रहस्यवाद की झाँकी नहीं होती फिर भी रहस्यवाद की दार्शनिक विचारधारा का उनकी रचनाओं में सम्यक रूप से समावेश हुआ है। तुलसीदास ने भी 'केशव कहि न जाय का कहिए' जैसे पदों में रहस्य-भावना का संकेत ही दिया है। यही नहीं रीतिकालीन कवि भी इसके व्यापक प्रभाव से न बच सके। रसखान, घनानन्द, ताज आदि सगुणोपासक कवियों में अनेक रहस्यात्मक उक्तियाँ मिल जाती हैं। शृङ्गार रस के सम्राट-कवि बिहारी भी अव्यक्त शक्ति की व्यापक अभिव्यक्ति से अछूते न रह सके। यथा—

'मैं समझ्यौ निरधार, यह जग काँचो काँच सों।
एकै रूप अपार प्रतिविम्बित लखित जहाँ।'

इस प्रकार रहस्योक्तियाँ प्रायः प्रत्येक कवि ने अल्पाधिक मात्रा में व्यक्त की हैं। किन्तु वास्तविक रूप से कबीर और जायसी के पश्चात् रहस्यवाद की पूर्णाभिव्यक्ति आधुनिक कवि प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा, पन्त आदि में ही मिलती है। आधुनिक कवियों के रहस्यवाद में भारतीय दार्शनिक विचारधारा, सूफीवाद तथा पाश्चात्य मिस्टिसिज्म का अद्भुत त्रिमिश्रण है। कतिपय विद्वान छायावाद और रहस्यवाद में कोई अन्तर नहीं मानते हैं क्योंकि दोनों का मूलाधार आध्यात्मिकता ही है। रहस्यवाद के संक्षिप्त इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रहस्यवाद की भावना मानव जाति के इतिहास की भाँति अति प्राचीन है। इसका विश्लेषण मानव जाति की दार्शनिक विचारधारा के विकास का विवेचन है। सुश्री महादेवी वर्मा ने रहस्यवाद का विश्लेषण निम्नलिखित प्रकार से किया है—

'रहस्यवाद ने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको सांकेतिक दाम्पत्यभाव-सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका,

हृदय को मस्तिष्कमय और मस्तिष्क को हृदयमय बना सका। इसमें सन्देह नहीं कि इस वाद ने रूढ़ि बन बहुतों को भ्रम में डाल दिया है परन्तु जिन इने गिने व्यक्तियों ने इसे वास्तव में समझा उन्हें इस नीहार लोक में भी गन्तव्य मार्ग दिखाई दे सका।

साधारणतया रहस्यवाद मनुष्य और प्रकृति की व्यापक सत्ता के साथ भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। कवि भावुकता का आलम्बन लेकर प्रिय मिलन के लिए आतुर हो जाता है। आत्मा-स्थिरता रहस्यवाद का आधार है। 'न जायते म्रियते वा कदाचन' रहस्यवाद की अद्वैतभावना का पोषक है। इसलिए रहस्यवादी कवि भावना मे तन्मय रहता है।

रहस्यवाद में जीवन इन्द्रियजगत से ऊपर उठकर परमात्मा से मिलने को आतुर रहता है। उस समय 'मेरे' 'तेरे' का ज्ञान नहीं रहता है। वह तो सागर में जलबिन्दु के समान मिलकर अपने अस्तित्व को खोना चाहता है। वहाँ आत्मा का गीत निराला होता है—

'मैं सबनि औरनि में हूँ सब,
मेरी विलगि-विलगि विलगाई हो।
ना हम बार बूढ़ नाहीं हम,
ना हमरे चिल काई हो।'

—कबीर

संक्षेप में रहस्यवाद में कवि आत्म-निवेदन की भावना लेकर अग्रसर होता है। वह अपनी भावुकता की शक्ति से ईश्वर अथवा परम शक्ति से एकाकार करना चाहता है। इसमें कवि और परम सत्ता का वही सम्बन्ध होता है जो आराधक और आराध्य, उपासक और उपास्य, साधक और साध्य तथा ज्ञाता और ज्ञेय का होता है। सन्तों ने साधना द्वारा साध्य प्राप्ति के लिए अनुभूति की जितनी अवस्थाओं का वर्णन किया है, उतनी ही अवस्थाएँ रहस्यवाद की हो सकती हैं। उनका क्रम निम्नलिखित रूप से रक्खा जा सकता है—

१—परमसत्ता के प्रति आश्चर्य, कुतूहल तथा जिज्ञासा की भावना—

मानव प्रकृति की गोद में पला है। सृष्टि के आदि काल से ही प्रकृति उसकी चिरसंगिनी है। प्रकृति में ही सर्वप्रथम उसने अव्यक्त शक्ति के दर्शन

किये। अगाध, अपार जलराशि, असंख्य नक्षत्र, अद्‌भुत सूर्य-चन्द्रादि को देखकर उसके हृदय में कुतूहल की भावना अंकुरित हुई। तदनन्तर, छिटकती ऊषा, चन्द्रिका चर्चित यामिनी, रुपहले हिमशिखर आदि को देखकर उसके आनन्द का पारावार न रहा। इस प्रकार प्रकृति के उपादानों में ही उसने एक अद्‌भुत शक्ति के दर्शन किये। अतः कवि हृदय में सर्वप्रथम कुतूहल; आश्चर्य, विस्मय और जिज्ञासा की भावनाएँ अंकुरित हुईं। प्रकृति का प्रत्येक तत्व एक महाशक्ति से स्पंदित दिखाई देने लगा। उसके लिए एक समस्या हो गयी कि किसकी आराधना करे? वैदिक ऋचा 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' महाशक्ति के अस्तित्व-परिचय की एक प्रकार की जिज्ञासा ही कही जायगी। इस प्रकार कवि-मन में सर्व प्रथम इस चराचर विश्व का नियमत करने वाली 'अव्यक्तसत्ता' की खोज का प्रश्न अंकुरित हुआ—कवि की जिज्ञासामयी अवस्था यही कही जाएगी।

'सिर नीचा करके किसकी सत्ता,
सब करते स्वीकार यहाँ।
सदा मौन ही प्रवचन करते,
जिसका वह अस्तित्व कहाँ?'

यह जिज्ञासा की भावना प्रायः सभी कवियों में पाई जाती है। यथा :—

'विश्वदेव सविता या पुष्पा, सोम मरुत चंचल पवमान।
ग्रह, नक्षत्र आदि सब करते, रहते है किसका संधान?
शीश नवाकर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ?'
—प्रसाद 'कामायनी'

विश्व के पलकों पर सुकुमार, विचरते हैं जब स्वप्न अज्ञान
न जाने नक्षत्रों से कौन-संदेश मुझे भेजता मौन?'
—पन्त

'कैसी बजी बीन?
हृदय में कौन छेड़ता बाँसुरी?
हुई ज्योत्स्नामयी अखिल मायापुरी
लीन सुर सलिल में मैं बन रही मीन।'
—निराला

'सजनि कौन तम में परिचित सा
सुधि सा छाया सा आता ?
सूने में सस्मिति चितवन से
जीवन-दीप जला जाता ?

—महादेवी

'तेरे घर के द्वार बहुत है, किससे होकर आऊँ मैं।
सब द्वारों पर भीड़ खड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं।

—मैथली शरण गुप्त

'ओसों का हँसता बालरूप,
यह किसका है छविमय विलास ?
विहँगों के कंटों में समोद,
यह कौन भररहा है मिठास ?'

—राम कुमार वर्मा

२—अखिल विश्व में परमसत्ता की झाँकी तथा व्यापकता :—

साधक में कुतूहल, विस्मय और जिज्ञासा की भावना के अनुसार, परमसत्ता के अस्तित्व की भावना एवं विश्वास दृढ़ हो जाता है। तदन्तर उसकी अनुभूति अधिकाधिक तीव्र होती जाती है। फलतः उसे, विश्व की प्रत्येक वस्तु में प्रकृति के कण-कण में परमसत्ता की अनुभूति होती जाती है। अन्त में इस परमसत्ता की व्यापकता इतनी बढ़ जाती है कि सारी सृष्टि उसी परम सत्ता के रंग से रञ्जित, प्रकाश से प्रकाशित, तथा कान्ति से कान्तिमान दिखाई देती है। यहाँ तक साधक स्वयं अपने को भी रंग में रंगा हुआ देखता है। कबीरदास परम-सत्ता की सर्व-व्याप्त झाँकी इसी प्रकार करते हैं:—

'लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।'

इस प्रकार सारी सृष्टि में उसी परम सत्ता की अखण्डता व्याप्त है। कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ उसकी विद्यमानता न हो।

'वन उपवन में बनमाली बन,
वही रहा नव जीवन डाल।

वही वनज बन में विकसित हो,
रहा मधुप कुल को प्रतिपाल ।
भुवन-भुवन में, भवन-भवन में,
नित प्रति आँख मिचौनी खेल ।
प्राण पवन में, मलय पवन में,
त्रिविध पवन में रमा रसाल ।

—राजाराम शुक्ल

कविवर पन्त ने भी एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हुए सर्वत्र उसी परम सत्ता का एकछत्र राज्य उद्घोषित किया है :—

'एक छवि के असंख्य उड़गन,
एक ही सब में स्पन्दन ।
एक छवि के विभाव में लीन,
एक विधि के आधीन ।

× × ×

एक तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास ।
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शान्त अम्बर नील विकास ।

—पन्त 'आधुनिक कवि'

दर्शन से पहले पूर्वाभास का एक अन्य उदाहरण देखिए :—

'हे विराट हे विश्वदेव, तुम-कुछ हो ऐसा होता भान ।
मंद गंभीर धीर स्वर संयुक्त, यही कर रहा सागर गान ।।'

—प्रसाद

भगवत् गीता में इसी परम सत्ता को सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण बताया गया है—

'यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
नतदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चरा चरम् ।'

गीता-अध्याय १०, श्लोक ३९

अर्थात् हे अर्जुन ! समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का कारण मैं हूँ। जो कुछ जड़, चेतन है, वह मेरे बिना नहीं है।

३—दर्शन-लालसा—जब साधक को सृष्टि के कण-कण में उसी परम-सत्ता की अनुभूति होने लगती है, तो उसकी लालसा उस परम सत्ता का साक्षात्कार करने की होती है। परम सत्ता के रूप को पहिचानना ही उसके दर्शन करना है । कबीरदास जी ने उसी स्वरूप को जानने का आग्रह किया है :—

'चाम के महल में बोलता राम है,
चाम और राम को चीन्ह भाई ।'

वह 'कबरे मिलहुगे राम' कहकर उसी दर्शन की रट लगाने के पक्ष में है। कविवर विद्यापति भी उसी सत्ता के दर्शन हेतु अति आतुर हो जाते हैं :—

'कौन बन वसथि महेश, के ओं के नहिं कहथि उदेस ।'

अर्थात् वह महेश (परम्) किस बन में निवास करता है ? उसका पता भी कोई नहीं बताता है।

मीरावाई ने उसी परम् के दर्शन करने के लिए ध्यानमग्न होकर निद्रा का सहारा लिया किन्तु दर्शन नहीं हुए ।

"पौढ़ी हुती पलँगा पर मैं निसि ज्ञानस ध्यान पिया मन लाये ।
हाय लगी पलकें पल में, पल लागत ही पल में पिय आये ।
ज्यों ही उठी उनते मिलवेन को हाय सखी पिय पास न पाये ।
'मीरन' और तो सोय के खोवत, हौं सखि प्रीतम जागि गँवाये ।।'

साक्षात्कार की पूर्ति अति दुर्लभ है। महादेवी वर्मा भी केवल एक दर्शन की कामना करती हैं।

'जो तुम आजाते एक बार
कितनी करुण कितने संदेश,
पथ में बिछ जाते बन पराग ।'

दर्शन की लालसा स्वाभाविक और सकारण है क्योंकि दर्शन के उपरान्त ही लक्ष्य-पूर्ति सम्भव है। कबीर भी उन दिनों के फेर में हैं जब उन्हें परमात्मा का साक्षात्कार हो।

'वे दिन कब आवेंगे भाइ।
जा कारन हम देहधरी है मिलिवौ अङ्ग लगाइ।
हौं जानूँ जू हिलिमिलि खेलूँ तन मन प्रान लगाइ।
या कामना करो परिपूजन समरथ हो रामराइ।।'

—कबीर

प्रतीक्षा में साधन की यह भावना हो जाती है कि उसकी अभिलाषा की पूर्ति अब हुई। प्रतिक्षण उसके लिए एक नयी आशा लेकर आता है। कभी-कभी तो उसे प्लेट-फार्म पर खड़े हुए यात्री को ट्रेन के आगमन की ध्वनि की भाँति प्रिय-आगमन की ध्वनि-प्रतीत होती है।

'नयन श्रवणमय, श्रवण नयन-मय,
आज हो रही कैसी उलझन,
क्या प्रिय, आने वाले हैं?'

—महादेवी वर्मा

४—अनेक सम्बन्धों की स्थापना:—परम-सत्ता की पावन झाँकी की प्रतीक्षा में साधक को सृष्टि के समस्त पदार्थों में उसके अस्तित्व का आभास होता है। यहाँ तक कि अन्त में साधक को साध्य अत्यन्त ही निकट प्रतीत होता है। इस निकटता से अनेक प्रकार के सम्बन्धों की सृष्टि होने लगती है। कभी साधक साध्य को स्वामी के रूप में देखता है, तो कभी माता और पिता के रूप में। कभी सखा के रूप में मानकर समता-स्थापना का प्रयत्न करता है तो कभी प्रियतम (पति) के रूप में मानकर अनेक प्रकार की प्रेम-क्रीड़ाएँ एवं अठखेलियाँ करता है। इन्हीं सम्बन्धों के माध्यम द्वारा साधक साध्य के मध्य अनेक प्रकार की स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

कबीरदास जी ने परमसत्ता को पति मानकर आराधना की है :—

'हरि मोर पीव माई हरि मोर पीव।
हरि बिनु रहि न सकै मोर जीव।।'

वस्तुतः सच्ची अनुभूति तथा प्रेम में तल्लीन होने के लिए पति-पत्नी का सम्बन्ध ही सर्वोपरि है। हृदयोदगारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति पति से हो सकती है अन्य से नहीं क्योंकि अन्य सम्बन्धियों से नीति, मर्यादा, लज्जा, आदि के

नियन्त्रण द्वारा प्रत्येक बात नही की जा सकती है। दादू ने भी विरहिणी का रूप धारण कर प्रिय मार्ग को अपलक देखा है :—

'दरसन कारन विरहिनी, वैरागिन होवइ।
दादू विरह वियोगिनी, हरि मारग जोइह।'

मीराबाई भी इसी पथ की अनुगामिनी है :—

'कब की ठाड़ी पंथ निहारूँ, तेरे द्वार खड़ी।'

इसी प्रकार कविवर विध्वा पति भी वियोग का अनुभव करते हैं :—

'एकहि पलंग पर कान्ह रे, मोर लेख दूर देस भाग रे।'

महादेवी में तो प्रभु के प्रति आत्म-समर्पण की भावना अत्यन्त ही उत्कृष्ट रूप से मुखरित हो उठी है।

'दूर तुमसे भी हूँ, अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।'

× × × ×

वीणा भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।

निराला जी भी नारी रूप में रहस्य की मधुर अभिव्यक्ति करते हैं।

'मौन रही हार—
प्रिय पथ पर चलती,
सब कहते शृङ्गार।

वियोग और मिलन के जितने मधुर गीतों की अभिव्यक्ति पुरुष और नारी के सम्बन्ध द्वारा हुई है, वह वस्तुतः कला की सच्ची अनुभूति हैं। ऐसे गीतों में मर्मस्पर्शी अभिव्यञ्जना तथा सरस समरसता है जो हृदय को तुरन्त ही मुग्ध कर लेती है। बिरहानुभूति की अद्भुत व्यञ्जना देखिए :—

'बालम आओ हमरे गेहरे, तुम बिन दुखिया देहरे।
सब कोई कहे तुम्हारी नारी मोको यह सन्देह रे।
एक मेंव ह्वै सेज न सोवे तब लग कैसे नेहरे।
अन्न न भावे नींद न आवे गृह बन धरे न धीर रे।

—कबीर

तुलसीदास जी ने साधक और साध्य के बीच अनेक सम्बन्धों की स्थापना

की है जिनमें स्वामी और सेवक के आदर्शों और कर्तव्यों की मधुर अभिव्यक्ति है।

'ब्रह्म तू हौं जीव, तू ठाकुर हौं चेरों।
तात मात गुरु सखा, सब विधि हितु मेरो।'

सन्त कवि रैदास जी के सम्बन्धों की उद्भावना देखिए :—

'प्रभु जी, तुम चन्दन, हम पानी।
जाकी अंग-अंग बास समानी।।
प्रभु जी, तुम घन, हम बन मोरा।
जैसे चितवत चन्द्र चकोरा।।
प्रभु जी, तुम दीपक, हम बाती।
जाकी जोति जरै दिन राती।।
प्रभु जी, तुम मोती, हम धागा।
जैसे सोनहिं मिलत सुहागा।।
प्रभु जी तुम स्वामी, हम दासा।
ऐसी भक्ति करै रैदासा।।'

निराला जी ने ब्रह्म और जीव के मध्य अन्य सम्बन्ध स्थापित किये हैं :—

'तुम तुंग हिमालय शृंग और
मैं चंचल गति सुर सरिता,
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और
मैं कान्त कामिनी कविता।'

५—एक रूपता—अन्त में साधक और साध्य का महा मिलन ही अहम् और परम की एकाकारिता है। रहस्यवादी कवि के लिए भावाभिव्यक्ति हेतु एक आलम्बन की आवश्यकता है। अतएव निर्गुण कवियों में जहाँ कहीं रहस्यवाद की वास्तविक अनुभूति की अभिव्यक्ति है, वहाँ उनका दृष्टिकोण निर्गुण-परक होते हुए भी सगुण परक भावना से आवृत है। यही कारण है कि निर्गुण ब्रह्म और निराकार आत्मा का मधुर संयोग साकार भगवान और साकार लक्ष्मी का महामिलन है। आत्मा और परमात्मा के एक-रूप होने पर परमानन्द की प्राप्ति स्वाभाविक ही है। ऐसी अवस्था में साधक के आनन्द का

भी पारावार नहीं । अतएव साधक आनन्द की अमर प्राप्ति के, स्थायित्व देने के लिए, उस अनिर्वचनीय ब्रह्म के गुणानवाद का बीड़ा उठाता है । यह आनन्द सारे विश्व को एक अद्भुत आलोक से आलोकित कर दे, इसीलिए वह प्रतीक-विधान का अवम्लबन ग्रहण करता है । फलतः रहस्यात्मक अभिव्यक्तियों में प्रतीक-योजना की साकारिता अवलोकनीय है । साधक और साध्य के एक रूप होने पर साधक की उल्लास पूर्ण अभिव्यक्ति देखिए :—

'मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये ।
यह अलस, जीवन सफल सब हो गया ।'

—प्रसाद ।

'कबीरदास ने भी 'अहम्' और 'परम' की अभिन्नता का ऐसा ही उल्लेख किया है ।

'पानी ही ते हिम भया, हिम भी गया विलाय ।
जो कुछ था सोई भया अब कुछ कहा न जाय ।'

और देखिए :—

'तू' 'तू' कहता 'तू' भया मुझ में रही न 'मैं'

रहस्यवाद में मिलन दो प्रकार का होता है । प्रथम प्रकार के मिलन में व्यक्तित्व की विलीनता होती है । 'अहम्' और 'परम' की एक-रूपता इसकी विशेषता है । यथा :—

'हाँ सखि आओ बाँह खोल हम,
लगकर गले जुड़ाले प्राण,
फिर तुम हम में, मैं प्रियतम में ।
हो जावें द्रुत अन्तर्धान ।'

दूसरे प्रकार के मिलन में व्यक्तित्व का नाश नहीं होता है । जैसे—

'रामचन्द्र, चन्द्र, तू, चकोर मोहि कीजै ।'

इस प्रकार एकाकार रहस्यवादी साधक का अन्तिम लक्ष्य है । इस तादात्म्य में भिन्नता का विनाश हो जाता है ।

साधकों ने ब्रह्म की प्राप्ति के तीन सोपान माने हैं—साधारण प्राण, विश्व प्राण और महाप्राण । प्रथम अवस्था में साधक स्वप्राण की साधना में रत रहता

है। द्वितीयावस्था में विश्वप्राण में आत्मानुभूति समस्त जगत से अपना चेतन सम्बन्ध जोड़ता है। तृतीयावस्था में महाप्राण अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाता है। साधारण तथा प्रथम परिस्थिति में रहस्यवादी साधक ब्रह्म के मिलन के लिए झुकता है। द्वितीय परिस्थिति में अन्तर्जगत और बाह्यजगत् में कोई अन्तर नहीं रहता है। तृतीय अवस्था में आत्मा और परमात्मा का एकाकार होता है। कतिपय विद्वानों ने सूफी रहस्यवाद की चार अवस्थाओं—शरीअ़त, तरीकत, हकीकक और मारफत का आधार लेकर साधना के इस मार्ग को चार सोपानों में विभक्त कर दिया है—जिज्ञासात्मक अवस्था, विश्वासपूर्ण अवस्था, विरहानुभूति की अवस्था और आत्मा और परमात्मा के मिलन की अवस्था।

बाबू गुलाबराय ने रहस्यवाद को पाँच प्रकार से विभाजित किया है।

१—ज्ञान और दार्शनिकता प्रधान रहस्यवाद—इस रहस्यवाद में जिज्ञासा, आश्चर्य और कुतूहल की भावना की प्रधानता है। इसमें तर्क को स्थान कम रहता है दर्शन, ज्ञान आदि की भावना से साधक सारी सृष्टि में उसी परम शक्ति की झाँकी करता है। हिन्दी साहित्य में कबीर, दादू, प्रसाद, निराला आदि का रहस्यवाद इसी के अन्तर्गत आता है।

'अबधू सो जोगी गुरु मेरा, (जोयहि) पद का करै निवेरा।
तरिवर एक मूल बिनु ठाढ़ा, बिनु फूलै फल लागा
साखा पत्र किधौ नहिं बाके अस्ट-गगन-मुख गाजा॥
यो बिन पत्र करह बिनु तूँबा, बिनु जीभ्या गुन गावे।
गावन द्वार के रेख रूप नहिं, सतगुरु होय लखावे॥
पंछिक खोज मीन को मारग कहँहि कबीर दोउ भारी।
अपरम पार पार परसोतिम, मूरति की बलिहारी॥'

—कबीर

[कबीरदास जी कहते हैं कि बिना मूल के मूल-प्रकृति रूप श्रेष्ठ वृक्ष खड़ा है। उस वृक्ष में बिना फूल के विश्वरूपी फल लगा है, उसके शाखा पत्ते कुछ नहीं हैं। वह वृक्ष अष्ट-प्रकृतिरूप से संसार में फैला है। इस शरीर में दौ (अंकुर) के बिना पत्र (द्विदल का कमल) और करह (डंडी) के बिना एक तुम्बा (मस्तक) लगा हुआ है। वह बिना जिह्वा के अजपाजप गुणगान करते हैं। गाने वाले

(गायक) रूपरेख कुछ भी नही हैं। यदि सद्गुरु मिल जाएँ, तो सब भेद समझ में आ जाए। कबीरदास जी कहते हैं कि विहंगम मार्गी दोनों के विषय मे मैंने कहा है। जिस प्रकार आकाश में पक्षी के मार्ग को ढूँढ़ना और जल में मछली का मार्ग निकालना कठिन है, उसी प्रकार बिहंगम मार्ग और मीन मार्ग में बड़ी उलझन है। जो पुरुष मन और माया के बन्धनों से रहित है, वही पुरुषोत्तम है, उसके स्वरूप पर मैं बलिहारी हूँ]

२—दाम्पत्य प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवाद—इसमें परमसत्ता के सौन्दर्य का वर्णन इसी रूप में किया जाता है। पति और पत्नी में जो प्रेम की गहनता, तीव्रता तथा गुह्यता होती है, वही प्रेम की अलौकिक छटा 'परम' और 'अहम्' के बीच मिलती है। कबीर, जायसी, मीरा और महादेवी बर्मा के रहस्यवाद में उसी प्रकार के रहस्यवाद के दर्शन होते हैं—

'नयनन की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकन की चिक ठारि कै, पिय को लीन्ह बिठाय।'

—कबीर

'यह तन जारौं छार करि, कहों की पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग गिरि परै, कंत धरै जहँ पाँव।'

—जायसी

'नित जलता रहने दो तिल-तिल,
अपनी ज्वाला में उर मेरा।
उसकी विभूति में फिर आकर,
अपने पद चिन्ह बना जाना।'

—महादेवी वर्मा

३—साधनात्मक रहस्यवाद—इसमें योग और कर्मकाण्ड की साधना की प्रधानता रहती है। गोरख, कबीर, महायानी बौद्धों, शाक्तों और प्राचीन तांत्रिकों का रहस्यवाद इसी प्रकार का है। यथा—

'अवधू, जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ कल्प नही प्यापै, देही जुरा न छीजै।

उलटी गंग समुद्रहि सोखैं, ससिहर सूर गरासैं।
नवगिह मारि रोगिया बैठे जल में व्यंब प्रकासैं।
डाल गह्याँ पै मूल न सूझै मूल मह्याँ फल पावा।
बाँबई उलटि शरपकौ लागी धरणि माहारस खावा।
बैठि गुफा में सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटैं धनिक पारधी मारयौ यहु अचरज कोइ बूझै।'

४—भक्ति और उपासना सम्बन्धी रहस्यवाद—इसमें अद्वैतवाद की अपेक्षा सान्निध्य सुख को प्राधान्य दिया जाता है। कृष्ण भक्तों ने सखी आदि के द्वारा भक्ति का जो निरूपण किया है, वह इसी प्रकार के रहस्यवाद के अन्तर्गत आता है। सूर-तुलसी में इस प्रकार के रहस्यवाद की पूर्ण झाँकी होती है।

'श्याम रंग राची ब्रजनारि। और रंग सब दीन्हीं डारि।
कुसुम रंग गुरुजन पितु माता। हरित रंग भैनी अरुभ्राता।
दिना चारि में सब मिटि जैहै। श्याम रंग अजरामर रैहै।
उज्ज्वल रंग गोपिका नारी। श्याम रंग गिरवर के धारी।
स्यामहिं में सब रंग बसेरौ। प्रगट बहाइ देउँ कहि बेरौ।'

—सूरदास

५—प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद—इसमें प्रकृति के माध्यम द्वारा परम सत्ता की झाँकी की जाती है। आधुनिक कवियों में इस प्रकार के रहस्यवाद का पूर्ण समावेश है। इस प्रकार का रहस्यवाद छायावाद से अधिक साम्य रखता है: —

'रूपसि ! तेरा नर्तन सुन्दर
आलोक तिमिर सित असित चीर,
सागर गर्जन रुन झुन मञ्जीर।
उड़ता झञ्जा में अलक जाल,
मेघों में मुखरित किंकिणि स्वर।
रवि शशि तेरे अवतंस लोल,

सीमन्त जटिल तारक अमोल।
चपला विभ्रम स्मित इन्द्रधनुष,
हिमकरण बन झरते स्वेद-निकर।
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर।'

—महादेवी।

गंगाप्रसाद पाण्डेय जी ने रहस्यवादी साधकों को चार कोटियों में विभक्त किया है—

(१) प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवादी
(२) दार्शनिक रहस्यवादी
(३) धार्मिक तथा उपासक रहस्यवादी
(४) प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवादी।

प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवादी साधकों में प्रेम की उपासना अधिक है। कबीर और जायसी इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं।

'पिया मिलन की आस, रहौ कवलौं खरी।
ऊँचे नहि चढ़ि जाय, मने लज्जा भरी॥
पाँव नहीं ठहराया, चढ़ूँ गिरगिर परूँ।
फिरि-फिर चढ़उँ सम्हार चरन आगे धरूँ॥'

दूसरे कोटि के कवियों में निराला और माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवि आते हैं। निराला जी की 'तुम' और 'मैं' वाली कविता अद्वैतवाद की दार्शनिक विचारधारा का प्रतिपादन करती है।

'तुम तुंग हिमालय श्रृङ्ग और मैं चंचल गति सुर सरिता।
तुम बिमल हृदय उच्छ्वास और मै कान्त कामिनी कविता॥
तुम प्रेम और मैं शान्ति।

तीसरे कोटि में एकान्त साधना के उपासक कवि आते हैं। यथा :—

'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई।
अब तो बात फैल पड़ी जानौ सब कोई।
मीरा प्रभु लगण लागी होनी होय सो होई।

चतुर्थ कोटि का रहस्यवादी साधक प्राकृतिक दृश्यों के पीछे अपने आराध्य के साथ आँख मिचौनी खेलना चाहता है। उसे अपने प्रियतम की झाँकी प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में होती है। यथा—'मिले तुम राका पति में आज'। वस्तुतः रहस्यवादी साधक को सभी वस्तुओं में परम सत्ता के दर्शन होते हैं। उसे सारी सृष्टि उसी विराट भगवान का रूप दिखाई देती है। प्रकृति में कवि संयोग और वियोग दोनों के गीत गा सकता है। महादेवी वर्मा विरह को लेकर आगे बढ़ी हैं। उनकी तन्मयता अन्यत्र मिलना असम्भव है। वह तो विरह के कारण स्वयं आराध्य मय हो जाती है।

'हो गई मैं आराध्यमय विरह की आराधना से'

वह विरह में ही मिलन को मानने वाली है। देखिए :—

'फिर विकल हैं प्राण मेरे।
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देखलूँ उस पार क्या है ?
जा रहे जिस पन्थ से युग कल्प उसका छोर क्या है ?
क्यों मुझे प्राचीर बनकर
आज मेरे श्वास घेरे ?

सारांश यह है कि विरह ही महादेवी जी का आराध्य है।

'आकुलता ही आज
होगई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य
द्वैत क्या कैसी बाधा।'

रहस्यवाद और छायावाद की समानता तथा, असमानता

कतिपय आधुनिक आलोचक रहस्यवाद और छायावाद में विशेष अन्तर नहीं मानते हैं। वस्तुतः रहस्यवाद और छायावाद, कलापक्षीय दृष्टिकोण के समान ही है। आधुनिक रहस्यवादी काव्य पर छायावादी शैलीका पूर्ण प्रभाव है। कारण आधुनिक रहस्यवादी कवि प्रायः सभी मूलतः छायावादी कवि हैं। रहस्यवाद की अभिव्यक्ति मुख्यतः गीतों के माध्यम द्वारा ही हुई है। आधुनिक युग गीतों का युग है। छायावाद में गीतों की प्रधानता रहती है। अतएव रहस्यवाद और छायावाद का आधुनिक वस्तुपरक दृष्टिकोण समान ही है। भावगत दृष्टिकोण के

क्षेत्र में भी आधुनिक रहस्यवाद पर छायावाद का पूर्ण प्रभाव है। कारण आधुनिक रहस्यवाद में प्राकृतिक रहस्यवाद की प्रचुरता है जिसका मूलाधार छायावाद की भाँति आध्यात्मिक प्रकृतिवाद ही है। बाबू गुलाबराय जी ने रहस्यवाद और छायावाद के प्रकृति सम्बन्धी दृष्टिकोणों में बहुत थोड़ा अन्तर ही माना है। उनके मतानुसार छायावाद प्रकृति को व्यक्ति का रूप देना चाहता है और प्राकृतिक रहस्यवादी प्रकृति को समष्टि रूप में लेकर उसके दर्पण द्वारा अपने प्रियतम को छाया देखता है। वह प्रकृति के अंचल से झाँकती हुई सत्ता के साक्षात दर्शन करना चाहता है। रहस्यवाद में विचार भावना की प्रधानता तथा छायावाद में सौन्दर्य भावना की प्रधानता रहती है। रहस्यवाद में प्रकृति की परम सत्ता का आरोप तथा छायावाद में प्रकृति में मानवीय भावनाओं का आरोप होता है। छायावाद में कवि, प्रकृति में लौकिक प्रेम की व्यञ्जना करता है और रहस्यवाद में अलौकिक प्रेम की अनुभूति करना चाहता है। निम्नलिखित कविताओं के उद्धरण से रहस्यवादी और छायावादी दृष्टिकोणों की विभिन्नता स्पष्ट हो जाती है :—

रहस्यानुभूति—

'किसी निर्मल कर का आघात
छेड़ता जब वीणा के तार।
अनिल से चल पंखों के साथ
दूर हो उड़ जाती झंकार।
जन्म ही जिसे विरह की रात
सुनावे क्या वह मिलन प्रभात।'

छायानुभूति—

'विजन-वन-बल्ली पर
सोती थी सुहाग भरी, स्नेह स्वप्न मग्न
अमल कोमल तनु, तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किए शिथिल पत्रांक में।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्यवाद का भावगत दृष्टिकोण छायावाद से अधिक निर्मल एवं पावन है। रहस्यवाद और छायावाद दोनों प्रकार के काव्य

में प्रकृति के विभिन्न उपादानों का समान व्यवहार होता है। अन्तर केवल यह है कि रहस्यवाद में कवि प्रकृति के माध्यम द्वारा अपनी भावना को तीव्रता प्रदान करता है और छायावाद में कवि प्रकृति के उपादानों का सीधा साधा वर्णन करता है। एक में अव्यक्त शैली की प्रधानता और दूसरी में व्यक्त शैली की प्रधानता रही है। साधारणतया रहस्यवाद और छायावाद दोनों में आराधक और आराध्य की प्रेममयी भावनाओं की मधुर व्यंजना होती है किन्तु रहस्यवाद में वियोग पक्ष की प्रधानता रहती है। उस परम सत्ता के वियोग में सारी सृष्टि की चिर विदग्धावस्था देखिए :—

'हँस देता नव इन्द्र धनुष की स्थिति घन मिटता मिटता,
रंग जाता है विश्व राग से निष्फल दिन ढलता-ढलता,
कर जाता संसार सुरभिमय एक सुमन झरता-झरता,
भर जाता आलोक तिमिर में, लघु दीपक बुझता-बुझता,
मिटने वालों की हे निष्ठुर
बेसुध रंग रलियाँ देखो।'

—महादेवी वर्मा

अतः स्पष्ट है कि रहस्यवादी कवि का वियोग अखिल विश्व व्यापी है। छायावादी कवि प्रकृति में संयोग और विरह दोनों का वर्णन करता है। इस प्रकार छायावाद रहस्यवाद का पूर्व चरण है। आचार्य शुक्ल के मतानुसार रहस्यवाद छायावाद का विषयगत पक्ष है। महादेवी वर्मा रहस्यवाद को छायावाद की दूसरी मंजिल मानती हैं। प्रसाद छायावाद को अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्य पूर्ण अभिव्यक्ति मानते हैं। गंगाप्रसाद पाण्डेय के मतानुसार रहस्यवाद के विषय आत्मा, परमात्मा और जगत है; छायावाद के आत्मा और जगत। अर्थात् छायावाद परमात्मा को छोड़ देता है, छायावाद में आत्मा का सम्बन्ध आत्मा से दिखाया जाता है और रहस्यवाद में आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से। किसी वस्तु को देखकर उसमें सजीवता की अनुभूति करना छायावाद तथा उसमें परमसत्ता की झाँकी करना रहस्यवाद है। इस प्रकार छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही आदर्शवादी विचार धाराएँ हैं।

रहस्यवाद का गुणाङ्कन

रहस्यवाद वस्तुतः एक आदर्शवादी विचार-धारा है। जिसका सम्बन्ध अध्यात्म जगत से है। आत्मा, परमात्मा और जगत इसके वर्ण्य विषय हैं। ब्रह्म का सतत एवं निरन्तर ध्यान, उसी परमसत्ता की सारी सृष्टि में पावन झाँकी करना ही, इसकी चिन्तन शैली है। रहस्यवादी वस्तुतः कोरा कवि नही अपितु साधक भी होता है। अतएव उसकी अनुभूति में केवल काव्य-प्रदर्शन नही वरन् एक साधना होती है। यह साधना प्रभु की अर्चना के रूप में प्रारम्भ होती है। सर्वप्रथम कलाकार अथवा साधक प्रभु का अनवरत ध्यान करता है। तदनन्तर ध्यान करते-करते उसे परमसत्ता की दिव्य आभा दिखाई देती है। यह ज्योति किसी विशेष वस्तु में नहीं अपितु सारी सृष्टि के चर-अचर सभी पदार्थों में दिखाई देती है। अन्त में साधक उसी ज्योति से स्वयं रंजित एवं आलोकित हो जाता है। इसीलिए रहस्यवादी रचनाओं में कलाकार की सच्ची अनुभूति तथा उत्कृष्ट कला के दर्शन होते है। प्राचीन रहस्यवादी कवियों में तो यह साधना एक अलौकिकता लिये हुए है। कारण प्राचीन रहस्यवादी कवि साधक होने के साथ-साथ संत भी थे। संसार की माया, विषय-वासना आदि का पूर्ण परित्याग कर वे इस साधना के मार्ग को अपनाते थे। उनकी भावना उनकी व्यक्तिगत अनुभूति का आधार लेकर चलती थी। अतः उनका मार्ग निश्चित था, कबीर, सूर, जायसी, मीरा आदि ऐसे ही साधक थे। यही कारण है कि प्राचीन रहस्यवादी कवियों की कृतियों में शृङ्गार का नितान्त अभाव है। इन सन्त कवियों के जैसे निष्कपट, निर्मल हृदय थे, वैसी ही उनकी भावनाएँ निर्मल हैं। इसके विपरीत वर्तमान रहस्यवादी कवियों की रचनाओं में अस्पष्टता, धूमिलता, नीरसता, शृङ्गारिकता आदि दोष हैं। उनमें वास्तविक अनुभूति का अभाव सर्वत्र खटकता है। कारण आधुनिक रहस्यवादी कवि अपनी वाणी में व्यक्तिगत अनुभूति नहीं अपितु समष्टिगत अनुभूति व्यक्त करना चाहता है। उसने कविता को बुद्धिवाद का प्रयास समझ रक्खा है और प्रकृति को अतृप्त काम-वासना की तृप्ति का साधन माना है। इसीलिए आज कवियों की रहस्यानुभूतियाँ लौकिक शृङ्गार से पूर्ण हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के मतानुसार आधुनिक रहस्यवादी काव्य की वेदनात्मक अनुभूतियाँ अवास्तविक हैं। उतमें बुद्धिगतवाद की प्रधानता है। इसके

अतिरिक्त कुछ रहस्यवादी कवि प्रकृतिवाद की ओर झुक गये है। रहस्यवादी काव्य में कतिपय रूढ़ियाँ भी जड़ पकड़ गयी है। यथा—वासनात्मक प्रणयोद्गार अतृप्ति व्यञ्जना, अवसाद, विषाद, नैराश्य आदि की भावना, वेदना विवृत्ति, सौन्दर्य संघटन इत्यादि फिर भी तात्विक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट है कि रहस्यावाद ने हमारे साहित्य को एक शान्तिप्रदायिनी, जीवनदायिनी आदर्श विचारधारा प्रदान की है जो निराश हृदयों को आशा, दुखियों को सुख, पथ से भटके हुए प्राणियों को गन्तव्य मार्ग पर चलने के लिए दिव्य आलोक प्रदान करती है। इसके दिव्य सुवास से हमारा समूचा साहित्य सुवासित हो रहा है। आज भी हमें प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी वर्मा निर्माणक प्रगतिपूर्ण साहित्य प्रदान कर सच्चिदानन्द की साकार झाँकी करा रहे हैं। अतः रहस्यवादी साहित्य में कोरी कला नहीं अपितु मानव-जीवन को सार्थक, साभिप्राय एवं सफल बनाने का मूलमन्त्र छिपा है।

अभिव्यञ्जनावाद

इटली के सुविख्यात, तत्वविचारक, बेनेदेत्तो क्रोचे (Benedetto Croce) ने आलोचना-क्षेत्र में कला सृष्टि के सिद्धान्त के विषय में अपने जिस मत का प्रतिपादन किया, वह अभिव्यंजनावाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः क्रोचे आत्मवादी दार्शनिक थे, इसीलिए उन्होंने अभिव्यंजना को वाह्य अभिव्यक्त न कहकर आन्तरिक अभिव्यक्त कहा है। लोकमत के अनुसार अभिव्यंजना केवल वाह्य अभिव्यक्त है। क्रोचे इस मत के विरोध में हैं। उनके कथनानुसार अभिव्यंजना, भौतिक नहीं, मानसिक है। वाह्य अभिव्यंजना, आन्तरिक अभिव्यंजना का प्रकटीकरण है। जब हम किसी वस्तु की पूर्ण अभिव्यक्ति मन में कर लेते हैं, तदनन्तर हम वाह्य अभिव्यक्त करते हैं। दूसरे शब्दों में वाह्य अभिव्यक्त आन्तरिक अभिव्यक्ति का विशद एवं स्पष्ट प्रकाशन है। इस विषय में उनके विचार इस प्रकार है—

'When we have mastered the internal word, when we have vividly and clearly conceived a figure or a statue, when we have found a musical theme, expression is born complete, nothing more is needed......... ...what we then do is say aloud what we have already said within, sing aloud what we have already sung within.

— Croce

'अर्थात् जब हम आन्तरिक शब्द पर पूर्णाधिकार कर चुकते हैं, जब हम किसी आकृति या मूर्ति के विषय में स्पष्ट एवं विषद रूप से विचार कर लेते हैं, जब हमें संगीतात्मक विषय प्राप्त हो जाता है, तो पूर्ण अभिव्यंजना का प्रादुर्भाव होता है और किसी वस्तु की अधिक आवश्यकता नहीं होती है—तदनन्तर जिसे

हम आन्तरिक गा चुकते हैं, उसे जोर से बाहर गाते है, और जिसे मन में कह चुके है, उसे जोर से बाहर कहते है।'

उपर्युक्त कथन से स्पष्टतर है कि अभिव्यंजना का सीधा सम्बन्ध मन से है। क्रोचे के दृष्टिकोण से मन ही एक सत्यता एवं सत्ता है या सारे जगत की वस्तुओं की सत्ता एवं सत्यता का आधार मन ही है। सृष्टि की सारी वस्तुओं की विद्यमानता, मानस व्यापार रूप ही है। मन ही अपने अनेक व्यापारों के बल पर वह वस्तु निर्मित करता है जिसे हम 'सत्ता' के नाम से सम्बोधित करते है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। प्रातः बेला है। प्राची दिशा में बाल रवि की प्रथम रश्मियों का पूर्वालोक आकाश को आलोकमय किये है। सुमनभार से नत वृक्षों पर विहगों की स्वर लहरी संगीत का माधुर्य प्रदान कर रही हैं। सरिता कल-कल स्वर से आगे बढ़ती जा रही है। शीतल मन्द-सुगन्धित वायु इठलाती हुई प्रवाहित हो रही है। ललित-लताओं के सुपल्लवों तथा हरित घास पर ओस विन्दु ऐसे झलक रहे है जैसे मोती। प्रकृति का कैसा रम्यरूप है। इस आकर्षक एवं मनोरम दृश्य की यदि व्याख्या की जाए, तो इसका समस्त रूप मन के व्यापार रूप में प्रस्फुटित होगा। अतएव क्रोचे के मतानुसार कलासृष्टि का आधार रूप मन ही है।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को समझने के लिए, उनके मत का सैद्धान्तिक विश्लेषण, आवश्यक है। हमारे नैयामिकों ने मानस व्यापार को तीन भागों में विभाजित किया है—ज्ञान, इच्छा और यत्न। सर्व प्रथम किसी वस्तु को जानते हैं। तदनन्तर उसे प्राप्त करने की इच्छा करते है और तत्पश्चात् उसे पाने का यत्न करते है। इस प्रकार हमारे यहाँ मन के तीन व्यापार माने हैं। क्रोचे ने मन के केवल दो व्यापार माने है—(१) ज्ञान या प्रज्ञा और (२) क्रिया या संकल्प। ज्ञान मन का सैद्धान्तिक व्यापार है और क्रिया व्यावहारिक। जिस प्रकार क्रिया, ज्ञान पर निर्भर रहती है, उसी प्रकार संकल्प, प्रज्ञा पर।

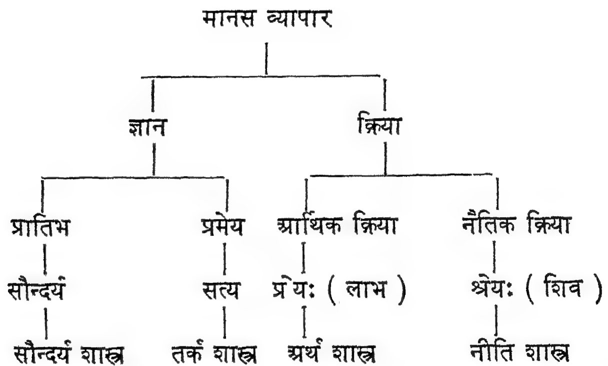
ज्ञान के दो प्रकार होते हैं—

(१) प्रातिभज्ञान (Intution)—इसे स्वयंप्रकाश ज्ञान अथवा कलात्मक सहजानुभूति भी कहते हैं। जो ज्ञान, बिना किसी प्रकार के विचार के अथवा बुद्धि के प्रयोग के बिना ही उत्पन्न होता है, उसे प्रातिभज्ञान कहते हैं।

वस्तुतः प्रातिभज्ञान मन में स्वतः उठने वाली मूर्तभावना का मूलरूप है। यह कल्पना में उद्‌भूत ज्ञान एक विशेष व्यक्ति या वस्तु का ज्ञान होता है। अतएव यह सबसे सरल और सीधा प्रथम मानस व्यापार है।

(२) प्रमेयज्ञान (Concept)—इसे तर्क सम्बन्धी ज्ञान भी कहते हैं। जो ज्ञान निश्चयात्मक बुद्धि द्वारा प्राप्त किया जाता है, उसे प्रमेयज्ञान कहते हैं। यह पृथक-पृथक व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान अर्थात् जाति संकेतग्रह है।

क्रिया अथवा संकल्प के भी दो प्रकार होते है—(१) आर्थिक क्रिया (Economic activity) और नैतिक क्रिया (Ethic activity)। इस प्रकार संक्षेप में मानस व्यापार की सत्ता की चार प्रकार से अभिव्यक्ति होती है। क्रोचे के मतानुसार वास्तविक सत्ता के ये ही चार स्तर हैं—सौन्दर्य (Beauty), सत्य (Truth), प्रेयः (usefulness) और श्रेयः (Goodness)। तालिका रूप में मानस व्यापार का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से हो सकता है—



उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि मानस व्यापार का क्षेत्र अति विस्तृत एवं व्यापक है। मन का मुख्य व्यापार ज्ञान ही है। उसी का आश्रय लेकर क्रिया अपने स्वरूप का प्रसार किया करती है। मन की जीवनी शक्ति का पूर्ण प्रकाशन क्रिया द्वारा ही होता है। कला-सृष्टि की अभिव्यक्ति इस क्रिया द्वारा ही

होती है । इसकी प्रक्रिया अति सुन्दर है । जगत् के नाना रूपों का प्रभाव हमारे मन अथवा अन्तःकरण पर पड़ता है । जब हम उस प्रभाव को व्यक्त करना चाहते है, तो वह प्रभाव अस्पष्ट, संकुल और अधिक होने के कारण मूल संवेदनात्मक रूप में बाहर नहीं आते हैं । अतः उनका स्वभावतः ही दमन हो जाता है । तदनन्तर अभिव्यक्ति होती है । इसके द्वारा उन प्रभावों की ओर संकेत होता है । अतएव प्रभावों को संकेतित करने वाली प्रक्रिया का नाम ही अभिव्यक्ति है । वह अभिव्यक्ति साधारण व्यक्ति अथवा कवि दोनों मे होती है । इस दृष्टिकोण से क्रोचे का मत, लोकमत से भिन्न प्रतीत होता है । अब तक लोकधारणा यह थी कि कवि पैदा होते है, गढ़े नहीं जाते (Poeta nascitur non fit) । किन्तु क्रोचे ने इसे परिवर्तित कर दिया । उनके मत के अनुसार 'मनुष्यो जन्मना कविः' (Homo nascitur poeta) अर्थात् मनुष्य जन्म से कवि होता है—कोई छोटा, कोई बड़ा । इस प्रकार क्रोचे प्रत्येक मनुष्य को प्रकृति से ही, कलाकार अथवा कवि मानता है । उसके विचार से प्रत्येक मनुष्य कल्पना के अद्भुत प्रयोग से कला-साधना में प्रवृत्त हो सकता है । क्रोचे की दृष्टि में कलाकार होना अति सरल कार्य है क्योंकि कला-साधना के लिए कल्पना का विशेष महत्व है और कल्पना मानव का स्वाभाविक रूप से प्राप्त हुआ गुण है । अब प्रश्न यह उठता है कि सभी कलाकार क्यों नहीं होते ? इसका समाधान-क्रोचे ने इस प्रकार किया है । कलाकार जिस दृष्टि से किसी वस्तु को देखता है, साधारण व्यक्ति उसकी केवल अनुभूतिमात्र करता है । दूसरे शब्दों में साधारण जन वस्तु के अन्तस्तल में प्रवेश नहीं कर पाता । वह उसके केवल बाह्यरूप का अवलोकन करता है । इसी दृष्टिभेद से साधारण व्यक्ति और कलाकार की अभिव्यंना में अन्तर हो जाता है ।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कला सृष्टि के लिए कल्पना शक्ति अति वांच्छनीय है । इससे पूर्व की हम कल्पना का विश्लेषण, करें, ज्ञान का विश्लेषण करना अति आवश्यक है क्योंकि कल्पना तो ज्ञान का एक प्रकार है, वस्तुतः कला सृष्टि का मुख्य आधार ज्ञान ही है । क्रोचे ने इसे प्रातिभज्ञान की संज्ञा प्रदान की है । मन का प्रथम व्यापार यही है । आत्मा की क्रिया यही है । सन्ध्या काल क्षितिज पर श्याम मेघों का अवलोकन कर हमारा

मन अनेक प्रकार की मूर्तियों (Images) का निर्माण करने लगता है। कभी कोई मेघ किसी पर्वत का शिखर प्रतीत होता है, तो कभी श्याम वर्ण मतंग। वायु से संचारित होते हुए मेघ को देखकर कभी हम चौकड़ी भरते हुए हिरण की मूर्ति भावना करते है, तो कभी शशक की, कभी लंगूर की, तो कभी बृषभ की। यह मूर्ति-विधान ही हमारी आत्मा की प्रक्रिया का प्रथम सोपान है। विशुद्ध प्रातिभज्ञान का माप-दण्ड यही है कि हमें प्रतिबिम्वित वस्तु के विषय में, सत्य-असत्य, वास्तविक-काल्पनिक, जाग्रत-सुप्त आदि किसी प्रकार का ज्ञान न हो। विशुद्ध प्रातिभज्ञान की वास्तविक पहिचान यह है कि हमारा मन, बिना सोचे बिचारे किसी वस्तु की प्रतिविम्वित मूर्ति गढ़ले।

प्रातिभज्ञान के दो रूप होते हैं—(१) कल्पना (Imagination) (२) विचार (Thought) कल्पना आत्मा की निजी क्रिया है। मूर्ति-विधान का कार्य इसी के द्वारा होता है। विचार के द्वारा मूर्तियों का जातिज्ञान के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। विचार की अपेक्षा कल्पना का कलासृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए अधिक महत्त्व है क्योंकि दृश्यजगत् के भिन्न-भिन्न रूपों तथा व्यापारों के ग्रहण करने का कार्य कल्पना के द्वारा ही होता है। कल्पना के द्वारा ही मनुष्य जगत में सौन्दर्य का बोध करता है। अतएव मानव मस्तिष्क का सौन्दर्य-वोधात्मक व्यापार (Asthetic Activity) कल्पना ही है। इस प्रकार क्रोचे के मतानुसार कल्पना के दो कार्य होते हैं—मूर्तियों का विधान करना और सौन्दर्य-बोध करना। वस्तुतः कल्पना के द्वारा ही मनुष्य कलाकार बनता है। इसीलिए क्रोचे ने कल्पना को स्वतन्त्र शक्ति मानकर उसकी व्यापकता तथा प्रभावशीलता पर विशेष जोर दिया है। संक्षेप में कल्पना की व्याख्या इस प्रकार हो सकती है कि—कल्पना वह शक्ति है जो मानस व्यापार में मूर्तियों का आविष्कार करती है, निर्माण करती है तथा उन्हें गढ़कर सुन्दर रूप प्रदान करती है। वह सौन्दर्य का भी बोध करती है। इसका कार्य भिन्न-भिन्न पदार्थों की अनुभूति करना और तदनन्तर उन्हें मूर्तरूप में हमारे समक्ष अभिव्यक्त करना है। इस प्रकार कल्पना का कार्य अति व्यापक है। मानस व्यापार में उससे अधिक महत्वपूर्ण कोई अन्य तत्त्व नहीं है। क्रोचे ने मानव-जीवन में कल्पना की महत्ता को पूर्ण स्वीकार किया है।

अब प्रश्न उठता है कि अभिव्यञ्जना क्या है ? जब हमारी आत्मा के संसर्ग में दृश्यमान जगत का कोई पदार्थ आता है तो प्रातिभज्ञान के रूप में हमारे मन में कुछ अरूप झंकृतियाँ अँकुरित होती हैं। यह झंकृतियाँ कल्पना के साँचे में ढलकर सूक्ष्म रूप से आन्तरिक रूप में अभिव्यञ्जित होती रहती है। क्रोचे के मतानुसार यह सूक्ष्म अभिव्यञ्जना जो भीतर ही भीतर होती है, अति महत्वपूर्ण है। वस्तुतः अरूप झंकृतियों का कल्पना के साँचे में ढलकर भीतर ही भीतर उपस्थित होना ही कला और सौन्दर्य है। तदनन्तर सहजानुभूति से जन्य आनन्द की अनुभूति होती है, जिसे, शब्द, रंग, रेखा आदि प्राकृतिक तत्वों की सहायता से रूपान्तरित किया जाता है। इसी का फल काव्य, चित्र आदि कला के रूप है। इस प्रकार अभिव्यज्जना एक प्रकार का साँचा है जिसमें मन अपने प्रातिभ-ज्ञान को ढालता है। इस कार्य के लिए वह कल्पना का आश्रय लेता है। प्रातिभज्ञान और अभिव्यञ्जना का पूर्ण एक्य है। प्रातिभज्ञान के प्रादुर्भाव के साथ अभिव्यञ्जना का भी समावेश होना स्वाभाविक ही है। अभिव्यञ्जना की सुन्दरता प्रातिभ-ज्ञान की सुन्दरता पर ही निर्भर है। दूसरे शब्दों में यदि अभिव्यञ्जना सुन्दर नही तो, यह निश्चय है कि प्रातिभ-ज्ञान भी सुन्दर नहीं है। क्रोचे के मतानुसार प्रातिभ-ज्ञान और अभिव्यञ्जना का समीकरण ही कला का मूल तत्व है। इसी मूल तत्व पर उन्होंने अपने सौन्दर्य-शास्त्र का प्रणयन किया है।

क्रोचे ने प्रत्येक सुन्दर वस्तु के दो आधार स्वीकार किये है। द्रव्य (matter) और साँचा (form)। द्रव्य वह उपाहान है जिसका आश्रय लेकर आत्मा या मन अपने स्वबल द्वारा मूर्त-विधान करता है। मानव आत्मा का कार्य द्रव्य का निर्माण करना नही है, अपितु उसकी प्रतीति करना है। वास्तव में द्रव्य जगत के नाना रूप व्यापार हैं। इन्ही व्यापारों का अवलम्बन ग्रहण कर आत्मा की क्रिया स्वभावतः अपना कार्य किया करती थी। साँचे (form) को क्रोचे ने सौन्दर्य का आधार माना है।

'The aesthetic fact is form and nothing but' form croce—

सौन्दर्य सत्ता के विषय में आलोचक मतान्तर रखते है। कतिपय आलोचक

द्रव्य (matter) में सौन्दर्य का आभास देखते है और कुछ द्रव्य और साँचे के समन्वय में। क्रोचे ने सौन्दर्य की सत्ता का मात्र आधार, साँचे को ही माना है। उनका कथन है कि आत्मा जगत के नाना रूप (द्रव्य) को, प्रातिभज्ञान द्वारा, कल्पना का अवलम्बन ले सूक्ष्म साँचे में डालकर अपनी रचना को अभिव्यक्त करती है। कलशा के दृष्टिकोण से साँचा सर्वस्व है, द्रव्य का कोई महत्व नहीं है। क्योंकि साँचा आत्मा की कृति होने के कारण आध्यात्मिक वस्तु है। एकरसता इसका स्वाभाविक गुण है। साँचे की अभिव्यक्ति मे विभिन्नता का आभास द्रव्य की सतत अस्थिरता तथा परिवर्तशीलता के कारण लक्षित होता है।

इसके अतिरिक्त क्रोचे ने अभिव्यञ्जना की अन्य विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने अभिञ्जना को भौतिक न बताकर, मानसिक बताया है। इसलिए उनका मत लोकमत के अनुसार अभिव्यञ्जना की सत्ता एक वाह्यवस्तु है और अभिव्यञ्जना बाहर ही होती है। किसी प्रभावपूर्ण, आकर्षक, सरस तथा मधुर दृश्य का अवलोकन कर, कविता का उदय स्वभावतः ही हो जाता है और पद्य स्वतः ही प्रवाहित हो निकलते हैं। इस विचार से अभिव्यञ्जना बाह्यवस्तु है। किन्तु क्रोचे का मत इस मत के नितान्त विपरीत है। उनका कथन है किसी मूर्ति की कल्पना करते समय अभिव्यञ्जना का उदय तत्काल ही हो जाता है। अभिव्यञ्जना के लिए किसी अन्य वस्तु की किञ्चिनमात्र आवश्यकता भी नहीं पड़ती है और न बाहरी अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यञ्जना का प्रयोग ही समुचित तथा सकारण है। अभिव्यञ्जना का क्षेत्र आन्तरिक है, वाह्य नहीं। इसका वाह्य प्रयोग करना वास्तविक कला का हनन करना है। हम पूर्व विवेचन कर चुके हैं कि वाह्य अभिव्यक्ति का स्पष्ट प्रकाशन है। जब हम किसी विषय अथवा वस्तु का आन्तरिक अनुभव कर लेते हैं, तब उसकी वाह्य अभिव्यक्ति करते हैं। अतएव अभिव्यञ्जना एक आन्तरिक वस्तु है और कला का सीधा सम्बन्ध इसीसे है। इस प्रकार आन्तरिक अभिव्यञ्जना ही सौन्दर्य है। क्रोचे ने इसी मत का प्रतिपादन किया है :—

"We may define beauty as successful expression, or better, as expression and nothing more, because express-

ion when it is not successful is not expression.'

—Croce, 'Aesthetic'

'अर्थात् सफल अभिव्यञ्जना ही सौन्दर्य की परिभाषा है। दूसरे शब्दों में सौन्दर्य सफल अभिव्यन्जना है अथवा केवल अभिव्यन्जना है, न अधिक न कुछ कम ! क्योंकि अभिव्यन्जना आदि सफल नही होती, तो अभिव्यन्जना ही नही होती ।'

क्रोचे ने सौन्दर्य के अर्थ को अति सीमित रक्खा है। उनके विचार से सौन्दर्य का अर्थ केवल अर्थ अभिव्यञ्जना के सौन्दर्य से अथवा किसी उक्ति के चमत्कार से है। इसके अतिरिक्त क्रोचे किसी अन्य प्रकृति की वस्तु में सौन्दर्य मानने को तैयार नहीं है। उनका विचार यह है कि किसी प्राकृतिक वस्तु में सौन्दर्य ढूढ़ना, बालू से तेल निकालना है। लोगों की यह धारणा, कि यह प्राकृतिक वस्तु अति सुन्दर है, भ्रम पूर्ण तथा निराधार है। किसी वस्तु में सौन्दर्य का अवलोकन करना नितान्त असत्य है। सौन्दर्यबोध हमें कल्पना से होता है। कल्पना के बिना प्रकृति में सौन्दर्य का अस्तित्व असम्भव है। प्रकृति में सौन्दर्य अभिव्यन्जना या उक्ति रूप में निवास करता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति में सौन्दर्य देखना एक निष्फल प्रयत्न ही कहा जाएगा। अब प्रश्न उठता है कि भौतिक पदार्थो का सौन्दर्य कल्पना के लिए क्या महत्व है ? इसके विषय में क्रोचे का यह मत है कि भौतिक पदार्थ अथवा वाह्य पदार्थ सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए सहायक मात्र है, उनमें स्वतः सौन्दर्य का भान नहीं होता है। काव्य, चित्र, संगीत आदि कलाकृतियों, केवल सौन्दर्य-बोध को उद्दीप्त करती है, स्वयं सुन्दर नही। सौन्दर्य तो केवल कलात्मक अभिव्यंजना ही है। सुविख्यात अँगरेजी लेखक विल्डन कार ने 'क्रोचे के दर्शन' नामक ग्रन्थ में इस विषय में निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं—

'The beautiful is not a physical fact, beauty does not belong to things, it belongs to the human asthetic activity and this is a mental or spritual fact.

'अर्थात् सुन्दर कोई भौतिक तथ्य नहीं है, सौन्दर्य पदार्थ से सम्बन्ध नहीं रखता है। यह मनुष्य की सौन्दर्य-बोधक क्रिया से ही सम्बन्ध रखता है और यह मानसिक अथवा आध्यात्मिक तत्व है।'

इस प्रकार क्रोचे के मतानुसार अभिव्यंजना ही कला है। सौन्दर्य का प्रतीक यही अभिव्यंजना है।'

रूप-विवेचना के दृष्टिकोण से अभिव्यंजना का प्रयोग दो प्रकार से मिलता है—(१) लौकिक और (२) शास्त्रीय। लोगों की साधारण धारण यह है कि कवि के शब्द, चित्रकार के चित्र तथा गायक के स्वर ही अभिव्यंजना है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग अनुभावों अथवा भावों की अभिव्यक्ति—यथा प्रसन्नता में मुख का खिलना, क्रोध में नेत्रों का लाल होना आदि को अभिव्यंजना के अन्तर्गत मानते है। किन्तु ये भौतिक अभिव्यंजनाएँ है। ये कलात्मक अभिव्यंजनाओं से किसी प्रकार का सम्बन्ध नही रखती हैं और इनमें कला का अभाव होता है। भौतिक अभिव्यंजना का कार्य केवल कलात्मक अभिव्यञ्जना को प्रकाशित करना है। कलात्मक अभिव्यञ्जना केवल मानसिक व्यापार है। इसकी क्रिया भी नितान्त आध्यात्मिक होती है। क्रोचे ने इन दोनों प्रकार की अभिव्यंजनाओं में महान अन्तर बताया है। उनके मतानुसार कलात्मक अभिव्यंजना को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) अन्तः संस्कार (Impressions) यह अभिव्यंजना का प्रथम सोपान है। दृश्य जगत के किसी पदार्थ के सामने आते ही द्रष्टा अथवा श्रोता के चित्त पर तज्जन्य संस्कार उत्पन्न होते हैं।

(२) अभिव्यंजना (Expression) इसे आध्यात्मिक कलापरक योजना (Spiritual aesthetic Synthesis) भी कहते हैं। संस्कार के उद्बोधन मात्र से हमारे मन में अभिव्यंञ्जना स्वाभावतः ही अंकुरित हो जाती है। वास्तविक कलापरक अभिव्यंजना यही होती है।

(३) सौन्दर्य-भावनाजन्य आनुषङ्गिक आनन्द (Hedonistic Accompariment or the pleasure of the beautiful) किसी पदार्थ, वस्तु अथवा चित्र को देखने से अथवा गायक के स्वर को सुनने से जो आनन्द हमें प्राप्त होता है।

(४) कल्पना का स्थूल भौतिक रूपान्तर (Translation of the aesthetic fact into physical phenomena) कलाकार का कार्य आध्यात्मिक वस्तु को शब्द, स्व, गति, रंगविधान आदि का रूप देना है जिससे

साधारण व्यक्तियों के लिए उसकी कला बोधगम्य हो सके ।

इस प्रकार क्रोचे के मतानुसार इन चारों अवस्थाओं के पूर्ण होने पर अभिव्यञ्जना का विधान पूर्ण होता है ।

संक्षेप में क्रोचे के अभिव्यञ्जना के विधान की क्रिया का उल्लेख हम इस प्रकार से कर सकते हैं कि सर्व प्रथम जगत के पदार्थों के आत्मा के संसर्ग में आने पर आत्मा में कुछ संवेदन अंकुरित होते है । ये संवेदन स्वयं प्रकाश ज्ञान के रूप होते हैं । तदनन्तर ये संवेदन कल्पना के साँचे में ढलकर मूर्तवधान होकर अभिव्यञ्जित होते है । इसे सहानुभूति भी कहते है । सहजानुभूति से सौन्दर्य-जन्य आनन्दानुभूति होती है । इसी आनन्दानूभूति का शब्द, चित्र, रेखादि प्राकृतिक तत्वों द्वारा रूपान्तर होता है । यह रूपान्तरित कला कृति ही वास्तविक कला है । क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद की रूपरेखा यही है ।

अभिव्यञ्जना वाद की समीक्षा

क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद ने आलोचनाक्षेत्र में एक विशेष स्थान प्राप्त किया है । हिन्दी के आलोचक एवं कवि इस सिद्धान्त की ओर अधिक आकृष्ट हैं । इससे पूर्व कि हम अभिव्यञ्जनावाद को समीक्षा की कसौटी पर कसें, यह आवश्यक है कि क्रोचे की विचारधारा के अनुसार हम कला के स्वरूप को समझलें । क्रोचे के कथनानुसार कला किसी वस्तु का स्वतः आविर्भूत, बिना विचारे उत्पन्न होने वाला प्रातिभज्ञान है । इतिहास की भाँति इसका कार्य न सत्य-असत्य, की परीक्षा करना और न विज्ञान की भाँति अमूर्त विधान का निर्धारण करना है । कला का कार्य तो केवल मूर्त विधानों का सम्पादन है । संक्षेप में क्रोचे के मतानुसार कला का उद्देश्य कला के लिये ही है ।

अभिव्यञ्जनावाद के मूल सिद्धान्तों पर एक समीक्षात्मक बिहंगम दृष्टि डालने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्रोचे का यह कला सम्बन्धी दृष्टिकोण हमारी भारतीय काव्य सम्बन्धी विचारधारा के नितान्त विपरीत है । क्रोचे ने काव्य की भावना में कल्पना और ज्ञान को विशेष महत्व प्रदान किया है । उन्होंने काव्य में कल्पनापक्ष को प्रधानता प्रदान कर काव्य-भावना के ज्ञानात्मक रूप को ही स्वीकार किया है । हमारी भारतीय साहित्यिक विचारधारा के अनुसार रस ही काव्य की आत्मा है । रस सिद्धान्त के अनुसार काव्य-भावना का मूल रूप

भावात्मक अथवा अनुभूत्यात्मक है। भाव के अन्तर्गत बोध (ज्ञान) एवं प्रतीति का स्थान केवल गौणातिगौण है। इसी प्रकार कल्पना का प्रयोग भी काव्य में भावयोग में होता है। भाव-प्रेरणा एवं विभाव-चित्रण के लिए कल्पना का प्रयोग समुचित है। इस दृष्टि से काव्य क्षेत्र में कल्पना एवं ज्ञान साधन हैं, साध्य नहीं। वस्तुतः काव्यविधायिनी कल्पना क्रोचे की कल्पना से नितान्त भिन्न है। अब प्रश्न उठता है कि क्रोचे के इस मतान्तर का कारण क्या है ? क्रोचे की विचारधारा से काव्यानुभूति और भावानुभूति पृथक-पृथक है। काव्यानुभूति भावानुभूति के रूप में नही होती। उनका कथन है कि काव्यानुभूति और भावानुभूति दोनों एक ही रूप में होती तो दोनों की अनुभूति समान ही होती किन्तु ऐसा नहीं होता। उदाहरण के लिए करुण रस का चित्रण लीजिए। किसी स्वजन, प्रिय एवं सम्बन्धी की मृत्यु पर हमें लौकिक रूप से शोक का अनुभव होना स्वाभाविक है। किन्तु काव्य में ऐसा नही होता। काव्य में हम दुखात्मक चित्रण देखकर भी आनन्दानुभूति करते हैं। इसका एक मात्र कारण काव्यानुभूति और भावभूति की पृथक-पृथक सत्ता है। वस्तुतः काव्य में यह विचार-विषमता पाश्चात्य तथा प्राच्य आलोचकों के लिए बाद-विवाद का विषय बन गयी है। भिन्न-भिन्न आलोचको के मतान्तर विलक्षण एवं अवलोकनीय है।

अरस्तू (Aristole) का कथन है कि किसी शोकान्वित अभिनय को देखकर दर्शक के हृदय से करुणादि भावों का वाह्य निष्काशन एवं विरेचन होता है। इस प्रकार दर्शक का हृदय जोकि स्वभावतः भयादि भावों से बोझिल रहता है, थोड़ा सा, शोकानन्तर हलका हो जाता है और तदनन्तर एक शान्ति एवं आनन्द की अनुभूति होती है। फ्राइड का मत है ऐसे शोकपूर्ण अभिनय के नायक को हम अपना प्रतिद्वन्द्वी समझ लेते है। प्रतिद्वन्द्वी का पतन हर्ष एवं आनन्द प्राप्ति का कारण है। इसीलिए हमें किसी कारुणिक दृश्य का अवलोकन कर आनन्दानुभूति होती है। अन्य आलोचकों का कथन और भिन्न है। अँग्रेजी कवि शैली का मत है कि शोकपूर्ण अभिनय में इसलिए आनन्दानुभूति होती है कि वह शोक में निहित सुख की छाया की अनुभूति कराता है।

'Tragedy delighto by affording a shedow of that pleasure which exists in pain.'

—Shelley—Defence of Poetry

हमारे भारतीय साहित्य के अमर रत्न आदि—कवि वाल्मीकि तथा प्रकृति के अनन्य कलाकार भवभूति आदि भी करुण रस को प्रकृति रस मानकर, कारुणिक दृश्यावलोकन अनन्तर प्रवाहित होते हुए दुःख आँसुओं को आनन्द-अश्रु ही पुकारते है। यही कारण है कि करुणारस पूर्ण काव्य हमें दुःखानुभूति नहीं आनन्दानुभूति कराते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी काव्यानुभूति भावानुभूति के रूप में ही होती है। कविता हृदय को स्पर्श कर वाह्य प्रभाव अवश्य प्रकट करती है—

'Born of deep pain is the poet's art,
And the song that alove is true,
Is wrung from a throbbing human heart
That sororow is burning through.'

'अर्थात् कविता का जन्म दुख से हुआ है और वह गीत ही केवल सत्य है। क्योंकि वह सतत प्रज्वलित करुणापूर्ण मानव हृदय से निनानिद हुआ है।'

कविवर पन्त के विचार भी ऐसे ही है—

'वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
वही होगी कविता अनजान।'

अतः स्पष्ट है कि क्रोचे ने काव्य के वास्तविक तथ्य की अवहेलना की है। इस, अलंकार आदि का भी क्रोचे की दृष्टि में काव्य में विशेष स्थान नही है। अब प्रश्न विचारणीय है कि क्रोचे की दृष्टि में कविता क्या है? वस्तुतः अभि-व्यञ्जना ही उनकी दृष्टि में काव्य है। शुक्ल जी के कथनानुसार अभिव्यंजनावाद किसी बात को कहने के ढंग के अतिरिक्त और कुछ नही है। उन्होंने अभिव्यंजना-वाद का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि "इस वाद में तथ्य इतना ही है कि उक्ति ही कविता है। उसके भीतर जो कुछ अर्थ छिपा रहता है वह स्वतः कविता नही है। पर यह बात इतनी दूर तक नहीं घसीटी जा सकती कि उस उक्ति की मार्मिकता का अनुभव उसकी तह में छिपी हुई वस्तु या भाव पर बिना दृष्टि रक्खे ही हो सकता है। बात यह है कि 'अभिव्यंजनावाद' भी 'कलावाद' की

तरह काव्य का लक्ष बेल-बूटे की नक्काशी वाला सौन्दर्य मान कर चला है, जिसका मार्मिकता या भावुकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। और कलाओं को छोड़कर यदि हम काव्य ही को लें तो इस अभिव्यंजनावाद को 'वाग्वैचित्र्यवाद' ही कह सकते हैं और इसे अपने यहाँ के पुराने 'बक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान मान सकते हैं।'' अतएव हमें हिन्दी काव्य में 'वक्रोक्तिवाद' के ग्रहीत अर्थ पर बिहंगम दृष्टि डालनी है। हिन्दी साहित्य में 'वक्रोक्ति' का प्रयोग कई रूपों में मिलता है। प्रथम रीतिकालीन कवियों द्वारा 'वक्रोक्ति' का प्रयोग शब्दालंकार के रूप में मिलता है। द्वितीय अर्थालङ्कार के रूप में। इसके अतिरिक्त दोनों रूपों में प्रयुक्त साहित्याचार्य कुन्तक की काव्यगत विचारधारा को भी हम 'वक्रोक्तिवाद' की संज्ञा दे सकते हैं। साधारणतया 'वक्रोक्ति' का अर्थ विलक्षण, चमत्कारपूर्ण अथवा लोकारिक्रान्त कथन है। वस्तुतः 'वक्रोक्ति' शब्द वक्र+उक्ति दो शब्दों के संयोग से बना है। 'वक्र' का अर्थ है—अव्यक्त, कुटिल बिलक्षण और 'उक्ति' का अर्थ है कथन। इस प्रकार 'वक्रोक्ति' का सीधा साधा अर्थ 'बिलक्षण कथन' से है। रीतिकालीन कविवर भिखारीदास जी ने 'काव्य-निर्णय' में वक्रोक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है—

'व्यर्थ काकुते अर्थ को फेरि लगावै तर्क।
बक्र उक्ति तासों कहै जो बुधि-अम्बुज अर्क।'

इसी प्रकार महाकवि केशवदास जी ने 'बक्रोक्ति' का लक्षण इस प्रकार दिया है—

'केशव सूधी बात में, बरणत टेढ़ो भाव।
बक्रोक्ति तासों कहत, सही सवै कविराज।'

कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' का अर्थ शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों के रूप में किया है। कुत्तक की वक्रोक्ति क्रोचे की अभिव्यञ्जना से नितान्त भिन्न है। अभिव्यञ्जनावाद अलंकार तथा रस विहीन 'चमत्कारवाद' है। इसमें केवल व्यापार का प्राधान्य ही सर्वस्व है। इसके विपरीत 'वक्रोक्तिवाद' व्यापार-प्राधान्य के साथ-साथ, रस और अलंकार को भी समुचित स्थान प्रदान करता है। वह शब्द और अर्थ के वागवैदग्ध को ही प्रकट नहीं करता है, वरन् अनुभूति को भी प्रश्रय देता है क्योंकि हृदय की अनुंभूति ही शब्दों के रूप में साकार रूप

धारण करती है। संक्षेप में शब्द, अर्थ, रस, भाव, अभिव्यञ्जना, अभिव्यंग्य आदि के समन्वित रूप का नाम ही वक्रोक्तिवाद है। अभिव्यञ्जनावाद में अभिव्यंजना ही सब कुछ है, अभिव्यंग्य कुछ नहीं। अतः अभिव्यंजनावाद किसी भी दृष्टिकोण से कुन्तक के वक्रोक्तिवाद की तुलना में ठहर नहीं सकता। इस विषय में डाक्टर बल्देव उपाध्याय ने अभिव्यञ्जनावाद के विषय में यथार्थ ही कहा है कि 'अभिव्यञ्जनावाद यूरोपिय आलोचना पद्धति का एक प्ररोहमात्र है........ भारतीय आलोचना दृष्टि से समीक्षा करने पर अनेक दोषों की सत्ता, उसे नितान्त अनुपादेय, एकदेशीय तथा कृत्रिम बता रही है।......अभिव्यञ्जनावाद में काव्य तथा कला के लिए न तो किसी नैतिक आधार का प्रयोजन मान्य है और न हृदय के भावों का समर्थरूप से रमणीय अनुसंधान है। वह कोरा चमत्कारवाद ही सिद्ध होता है।' इसी प्रकार श्री सुधांशु जी ने 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' नामक पुस्तक में अभिव्यञ्जनावाद के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि 'जिस काव्य में रस संचार की प्रकृत क्षमता नहीं, वह भारतीय दृष्टि से ही नहीं, योरुपीय दृष्टि से भी हेय है।'

पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने भी अभिव्यञ्जनावाद में अनेक दोष बताये हैं। सर्वप्रथम आक्षेप उन्होंने यह किया है कि 'क्रोचे काव्य को जिस आध्यात्मिक प्रक्रिया का परिणाम मानता है, उसका सम्बन्ध काव्य के श्रोताओं तथा पाठकों से बिल्कुल नहीं रक्खा गया है।'—इसका अभिप्राय यह है कि क्रोचे की दृष्टि में काव्य में साधारणीकरण के अमर गुण की कोई आवश्यकता नहीं है। क्रोचे काव्य को केवल व्यक्ति विशेष तक सीमित वस्तु ही मानता है। वाजपेयी का उपर्युक्त आक्षेप सकारण है। काव्य का उद्देश्य ही व्यक्तिगत भावना को सार्वजनिक अथवा समाजगत भावना के रूप में परिणत करना है। अतः जब तक काव्य का आस्वादन सर्वग्राह्य नहीं होगा, तब तक उस काव्य में काव्य के गुणों का पूर्ण अभाव होगा दूसरा आक्षेप यह है कि क्रोचे के अनुसार कला को एक अखण्ड अभिव्यक्ति बताया गया है जिसमें न तो सुन्दर, असुन्दर का कोई प्रश्न हो और जिसका न नीति से सम्बन्ध हो। इस दृष्टिकोण से क्रोचे का उपर्युक्त कथन भारतीय दृष्टिकोण के नितान्त विपरीत है। कविता मन की सक्रिय अनुभूतियों का प्रकाशन है। अतएव परिवर्तनशीलता काव्य का सापेक्षित गुण है।

इसके अतिरिक्त काव्य 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' के आदर्श को लेकर चला है। इसलिए ऐसे काव्य की कल्पना करना जिसमें न सुन्दर, असुन्दर का कोई प्रश्न हो और न नीति को ही कोई स्थान प्रदान किया हो, नितान्त निराधार तथा भ्रममूलक है। वाजपेयी जी का तीसरा आक्षेप क्रोचे द्वारा काव्य व्यापार में जीवन और जगत का सम्बन्ध न स्थापित करना है। वस्तुतः हमारा जीवन सततरूप से वाह्यजगत के साहचर्य में रहता है। वाह्यजगत का प्रभाव हमारे हृदय पर स्वाभाविक रूप से पड़ता है। इस प्रभाव को हम भावानुभूति की संज्ञा दे सकते है। काव्यानुभूति इसी भावानुभूति का साकार रूप हैं। इस प्रकार काव्य व्यापार में जीवन और जगत का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि क्रोचे का अभिव्यञ्जनावाद का सिद्धान्त नितान्त अस्पष्ट एवं भ्रामक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी प्रातिभज्ञान और अभिव्यञ्जना का सम्बन्ध-स्थापन असंगत एवं अकारण है। यूरोपीय विद्वानों ने क्रोचे की इन असंगतियों का स्पष्ट विरोध किया है। विख्यात लेखक डुकासे ने अपने ग्रन्थ 'फ्लासफी आफ आर्ट' में क्रोचे के मत को सिद्धान्ततः अपूर्ण बताया है। भारतीय साहित्य के सिद्धान्तों एवं परम्पराओं का पालन तो अभिव्यंजनावाद में किन्चितमात्र भी नही होता है। अतएव अभिव्यंजनावाद कोई साहित्यिक सिद्धान्त न होकर कोरा कल्पनावाद है।

प्रतीकवाद

प्रतीक का शाब्दिक अर्थ है—चिह्न, प्रतिरूप। अतएव जब हम साम्य के आधार पर सृष्टि की किसी साकार वस्तु, किसी भाव सूचक गुण अथवा किसी शब्द को, अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए, साधारण रूप अथवा साधारण अर्थ में प्रयुक्त न कर विशेष रूप अथवा विशेष अर्थ में प्रयुक्त न कर विशेष रूप अथवा विशेष अर्थ में प्रकट करने लगते है, तो इस प्रकार की प्रयोग शैली एवं अभिव्यक्ति के प्रकार को हम 'प्रतीक स्थापन' की संज्ञा दे सकते हैं। प्रतीक स्थापन की इस प्रवृत्ति का नाम ही प्रतीकवाद है। उदाहरण के लिए 'निशा' शब्द को लीजिए। यह शब्द निराशा एवं दुख का प्रतीक माना जाता है। इसी प्रकार 'प्रभात' आशा का; 'बन्सत' यौवन एवं सौन्दर्य का; 'उषा' आनन्द एवं सौख्य का, 'काँटा', पीड़ा, शत्रु अथवा अवरोध का; 'सागर' जीवन का, 'प्रकाश' ज्ञान का, 'अन्धकार' अज्ञान का, इत्यादि।

मानव, सृष्टि के आदि से ही, प्रकृति की गोद में रहा है। जीवन का आरम्भ जीवन का विकास तथा जीवन का अन्त-सभी प्रकृति की गोद में होते रहते हैं। अतः प्रकृति के रूपों एक उपादानों के साथ मनुष्य का शाश्वत सम्बन्ध रहा है। मानव चेतनापूर्ण प्राणी है। अनुभूति और अभिव्यक्ति गुण उसे स्वभावतः ईश्वर प्रदत्त वरदान के रूप में मिले हैं। इसलिए प्रकृति के नाना रूपों और उपादानों के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध हो जाता है। अनुभूति की अवस्था में यह सम्बन्ध अमूर्तावस्था में ही रहता है। भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए जब हम प्राकृतिक पदार्थों का अवलम्बन ले लेते हैं, तो हमारा रागात्मक सम्बन्ध मूर्तावस्था का रूप ग्रहण कर लेता है। उदाहरण के लिए किसी वृक्ष का सघन छायादान तथा प्रचुर फल-दान देखकर हमारे हृदय में एक विशेष आनन्द एवं हर्ष का प्रादुर्भाव होता है। वृक्ष की यह तापश्चर्या, साधना एवं क्रियाशीलता देखकर हमारा रागात्मक सम्बन्ध एक रूपता धारण कर लेता है। फलतः जब

हम किसी परोपकार पूर्ण एवं उदार वृत्ति का चित्रण करने लगते हैं, तो परोपकार में लीन वृक्षों को प्रतीकरूप में चित्रित करते है। इस प्रकार की चित्रण-शैली द्वारा हमारी गूढ़ातिगूढ़ भावनाओं की अभिव्यक्ति अत्यन्त ही स्वाभाविक, स्पष्ट एवं हृदय स्पर्शी होती है।

प्रकृति असंख्य एवं अगणित पदार्थों का समन्वित रूप है। इसमें जितने अगणित पदार्थ तथा जीव इत्यादि है, उससे अधिकतर उनके नाना रूप, गुण इत्यादि है। प्रकृति पूर्ण है और मानव अपूर्ण। अतएव मानव-वाणी में उतनी शक्ति नहीं कि प्रकृति के असंख्य पदार्थो के असंख्य से भी अधिक गुणों की पृथक्-पृथक् एवं स्पष्ट व्याख्या कर सके। मानव-भाषा-शब्द-कोश में इतने शब्द नही जो असंख्य पदार्थो की संसर्गात्मक अनुभूति की पूर्ण अभिव्यक्ति कर सकें। यथा—जब हम किसी वस्तु को खट्टा कहते है तब यदि खट्टा शब्द के साथ उस वस्तु का नाम न जुड़ा हो, तो उस बस्तु के 'खट्टेपन' का अनुभव हमें नही होता, क्योंकि दही का खट्टापन, नीबू का खट्टापन, संतरा का खट्टापन, आम का खट्टापन, टिमाटर का खट्टापन, इमली का खट्टापन आदि में जो अन्तर है, उसके वाचक शब्द मानव की भापा में नहीं। इसी प्रकार जब हम किसी वस्तु को मधुर कहते हैं तब यदि मधुर शब्द के साथ वस्तु का नाम न कहें, तो उस वस्तु की यथार्थ मधुरता का ज्ञान होना नितान्त असम्भव है। केले की मधुरता, पपीते की मधुरता, शकर की मधुरता. आम की मधुरता, दूध की मधुरता आदि में पर्याप्त अन्तर है। मधुरता के इन पृथक्-पृथक् रूपों को व्यक्त करने के लिए वाचक-शब्द हमारी मानव-भाषा में नही है। इसी प्रकार प्रेम, भय आदि भावों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के वर्णन करने के लिए मानव-भाषा में सामर्थ्य नहीं है। पितृ-प्रेम, भ्रातृ-प्रेम, भ्रातृ-प्रेम, पुत्र-प्रेम, पत्नी-प्रेम, पति-प्रेम, लोक-प्रेम, परलोक-प्रेम, धन-प्रेम, विद्या-प्रेम आदि की मनोदशाओं का हम संकेतात्मक परिचय दे सकते हैं। ऐसी नाना रूप धारिणी अनुभूतियों की पूर्ण एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति, मानव न अतीत में कर सका, न आज करने में समर्थ है। मानव-भाषा की इस असमर्थता के कारण ही सृष्टि के अनादि काल से एक विशिष्ट अनुभूति को स्पष्टतर और पूर्णतर व्यक्त करने के लिए उसके समान रूप एवं गुणवाली अन्य अनुभूतियों के चित्रण की पद्धति चली आ रही है। इस पद्धति

का आधुनिक साहित्यिक नाम ही प्रतीकवाद है। अतएव प्रतीकवाद का इतिहास अति प्राचीन है।

भारतीय साहित्य में प्रतीकवाद की प्रवृत्ति अनादि काल से चली आ रही है। वेदों में प्रतीकवाद के अनेक उदाहरण मिलते है। ऋग्वेद का एक उदाहरण लीजिए :—

ओउम् द्वा सुपर्णा सयुजा सुमानं वृक्षं परिपस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।

अर्थात् एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। एक पक्षी फलों को खा रहा है। दूसरा पक्षी फल नहीं खा रहा है किन्तु फल खाने वाले पक्षी की ओर देख रहा है। इससे स्पष्ट है कि खाने वाला पक्षी जीव, देखनेवाला ईश्वर है। वृक्ष, पृथ्वी, जल, अग्नि, सूर्य आदि का संक्षिप्त रूप है। अतः प्रतीक वाद की इससे अधिक सुन्दर झाँकी हमें कहाँ मिल सकती है ? वृक्ष, खाने वाला पक्षी, देखने वाला पक्षी—प्रकृति, जीव और परमात्मा के सुन्दर प्रतीक हैं।

उपनिषदों आदि में भी अनेक गाथाएँ प्रतीकवाद ही हैं। हमारे पौराणिक ग्रन्थों में प्रतीकवाद का ही स्थापन किया गया है। महाभारत की पौराणिक गाथा प्रतीकात्मक ही बतायी जाती है। श्री मद्भावगत् का उपव्याख्या प्रतीकवाद का ही प्रतिपादन करता है। यही नही संस्कृत साहित्य में पंचतन्त्र तथा कथा सरित् सागर आदि अनेक कहानियाँ (Fealles) प्रतीकात्मक ही है। उनमें प्रतीकात्मक रूप में दिये गये उपदेश अति सरस और हृदय स्पर्शी है।

पाश्चात्य साहित्य में भी प्रतीकवाद का विशेष स्थान है। कतिपय साहित्य-समीक्षकों का तो यह मत है कि 'प्रतीकताद' यूरोपीय साहित्य की देन है। इसकी जन्म भूमि फ्राँस माना जाता है। सर्वप्रथम प्रतीकवादी साहित्य का समावेश फ्राँसीसी साहित्य में ही हुआ। तदनन्तर इगलैंड, जर्मनी तथा अमेरिका आदि में यह साहित्यिक धारा पूर्णतया प्रसारित हो गई। सन् १८७० ई० में फ्राँस में तृतीय प्रजातन्त्रवाद (Third Rpuplic) की स्थापना हुई। कुछ समय पश्चात् जर्मनी के आक्रमण तथा नेपोलियन तृतीय की पराजय आदि से फ्रान्स में घोर असन्तोष का युग आया। निराश की छाया से फ्रांसीसी हृदय धूमिल हो गया। फलतः वहाँ दो विरोधी विचारधाराओं का जन्म हुआ। राजनैतिक

क्षेत्र में ये धाराएँ जनतन्त्रवाद और पुरोहितवाद के नाम से पुकारी गयी। साहित्य-क्षेत्र में क्रमशः प्रकृतवाद तथा प्रतीकवाद की संज्ञा मिली। प्रकृतवाद ने यथार्थ को स्थान दिया तथा प्रतीकवाद ने आदर्श की प्रतिष्ठा की।

प्रकृतवाद प्रथम चरण में अति आवेश तथा तीव्रगति से चला। इसका यथार्थ चित्रण पाठकों को आकर्षित तो कर सका किन्तु ध्यानावस्थित नही! इसके अतिरिक्त यथार्थवादी साहित्य के अनावश्यक विस्तृत वर्णन, संवेदना रहित कल्पनाएँ, अर्थ गाम्भीर्य के अभाव तथा चमत्कारिता के लोप के कारण-प्रकृतवाद की गति अवरुद्ध हो गयी। फलतः प्रतीकवाद पनप उठा। उन्नीसवी शताब्दि के अन्त में यथार्थवाद के प्रति विद्रोह हुआ। प्रकृतवाद का प्रभाव फीका पड़ गया। काव्य-प्रेमियों को इसमें सौन्दर्य एवं नूतनता का ह्रास दिखाई देने लगा। रहस्यवाद की वृत्ति ने प्रतीकवाद को और सबल बना दिया। शीघ्र ही साहित्य गगन प्रतीकवाद की पताका से पूर्णतया प्रदीप्त एव प्रकाशित होगया। प्रकृतवाद के नग्न, निकृष्ट तथा नीरस वाग्विस्तार को गम्भीर और संवेदनशील बनाने का प्रयत्न ही प्रतीकवाद के जन्म एवं उत्थान का कारण हुआ। वाट द्वारा लिखित अँगरेजी साहित्य के कोश से विदित होता है कि उन्नीसवी शताब्दि के अन्त में प्रतीकवाद साहित्य में समुचित स्थान पा चुका था—

'In France and Belgium at the end of 19th century the symbolists were members of a school of literature and music that rebelled against realism and sought to express themselves by Indirect rather than direct suggestion.'

आगे चलकर प्रतीकवाद की दो शाखाएँ हो गईं। एक शाखा के प्रतिनिधि वर्ले थे और द्वितीय के मलार्मे। वर्ले के अनुयायियों ने सरल और स्पष्ट शैली को अपनाया। मलार्मे के अनुयायियों ने गम्भीर और रहस्य पूर्ण शैली का प्रतिपादन किया। सृष्टि के विषय में इनके विचार अद्भुत थे। उनका कथन था कि दृश्यमान जगत, सृष्टि का मिथ्या रूप है। वास्तविक जगत अलौकिक एवं शाश्वत है। अतएव अलौकिक जगत के चित्रण के लिए अलौकिकता एवं

रहस्यमयता का समावेश स्वाभाविक एवं अनिवार्य है। इसी दृष्टिकोण को लेकर मलार्मे के अनुयायियों ने शाश्वत एवं अलौकिक जगत के रहस्य-पूर्ण रूप का चित्रण करना काव्य का उद्देश्य माना। प्रतीकवाद के सम्बन्ध में मलार्मे के विचार भी ऐसे ही थे—'जो बोधगम्य हो, वह और चाहे कुछ हो, प्रतीक नहीं है।' यही कारण है कि मलार्मे की रचनाएँ दुर्बोध, रहस्य-पूर्ण तथा अलौकिक हैं। इनमें अस्पष्टता तथा दुरूहता को प्राथमिकता दी गयी है। यूरोपिय प्रतीक-वाद की संक्षिप्त रूप रेखाएँ यही कही जा सकती हैं। अतः यूरोपिय प्रतीकवाद की विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से अंकित कर सकते हैं:—

१—कविता को रूढ़िगत परम्परा से मुक्त कर नवीन-शैली का समावेश।

२—मुक्त तथा अतुकान्त छन्द का प्रयोग।

३—कविता में संगीत का समावेश।

४—सौन्दर्योन्मुख प्रवृत्ति।

५—साहित्य, राजनीति से दूर की वस्तु।

यूरोपिय प्रतीकवाद का हमारे हिन्दी साहित्य पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। 'छायावाद' में इसकी लगभग सभी विशेषताएँ पूर्ण-रूप से लक्षित होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथन के अनुसार छायावाद का सामान्यतःअर्थ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप मे अप्रस्तुत का कथन है। जिस प्रकार वाचक पदों के स्थान पर लक्षक पदों का व्यवहार आता है, उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्ग के स्थान पर उसकी व्यञ्जना करने वाले अप्रस्तुत छन्दों का विधान भी। इस दृष्टिकोण से छायावाद की व्यापक-शैली का नाम ही प्रतीकवाद है।

प्रतीक विधान का आधार साम्य है। साम्य तीन प्रकार का होता है:—सादृश्य, साधर्म्य और शाब्दिक साम्य। सादृश्य साम्य में रूप और आकार की समानता होती है। साधर्म्य में गुण और क्रिया की समानता को प्रमुखता दी जाती है। शाब्दिक साम्य में अनेकार्थवाची शब्दों की क्रीड़ा होती है। जैसे-श्लेष अलंकार। सादृश्य और साधर्म्य मे प्रभाव-साम्य अधिक रहता है। प्रतीकवाद प्रभाव-साम्य को लेकर ही आगे बढ़ता है। यह प्रभाव-साम्य बाह्य भी हो सकता है और आन्तरिक भी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का भी यही मत है—"कहीं-

कहीं तो बाहरी सादृश्य साधर्म्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी आभ्यन्तर-प्रभाव-साम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप या प्रतीकवत (Symbolic) होते हैं जैसे, सुख, आनन्द, प्रफुल्लता, यौवन-काल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक ऊषा, प्रभात, मधु-काल; प्रिय के स्थान पर मुकुल; प्रेमी के स्थान पर मधुप; श्वेत या शुभ के स्थान पर कुन्द, रजत, माधुर्य के स्थान पर मधु; दीप्तमान् या कान्तिमान के स्थान पर स्वर्ण; विषाद या अवसाद के स्थान पर अन्धकार, अंधेरी रात या संध्या की छाया, पतझड़; मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर, झंझा, तूफान; भावतरङ्ग के लिए झंकार; भाव-प्रवाह के लिए संगीत या मुरली का स्वर इत्यादि।"

उपर्युक्त विवेचन का यह अर्थ नहीं कि हिन्दी साहित्य में प्रतीकवाद सहसा एक नवीन वस्तु हो। प्रतीकवाद तो भारतीय साहित्य की मौलिक विचार-धारा है। अतः भारतीय साहित्य का जितना प्राचीन इतिहास है, उतना ही प्राचीन इतिहास प्रतीकवाद का है। हिन्दी-साहित्य में तो अनेक कवियों ने प्रतीकवाद की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। संत कवियों में प्रतीक-स्थापन की प्रवृत्ति पूर्ण-रूप से दिखाई देती है। कबीरदास जी का निम्नलिखित दोहा प्रतीकवाद का अनुपम उदाहरण है:—

माली आवत देखिकर, कलियन करी पुकार।
फूले-फूले चुन लिये, काल्हि हमारी बार।

उपर्युक्त दोहे में 'माली 'काल' का प्रतीक है कली 'जीव' का प्रतीक है। कबीरदासजी के इस प्रतीक-स्थापन का अभिप्रायः यह है कि संसार में काल सभी का अन्त करता है। उससे कोई शेष नहीं रह जाता है। कोई आज काल-कवलित हो रहा है, तो कोई कल। जाना सभी को है; केवल समय का अन्तर है।

अन्य दोहा लीजिए :—

'चलती चाकी देखिकर, दिया कबारा रोय।
दुइ पट भीतर आइ कर, सावित गया न कोय।'

—कबीर

इन पक्तियों में प्रतीकवाद की कैसी सुन्दर, मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी स्थापना है। चाकी 'काल' का प्रतीक है। काल द्वारा सभी का हनन देखकर कबीरा (जीव अथवा प्राणी) व्याकुल हो जाता है। इसी प्रकार चाकी के दोनों पाट 'संसार, और 'माया' के प्रतीक है। संसार और माया के फन्दे में पड़कर विनाश आवश्यक है।

आध्यात्मिक जगत में प्रतीक-स्थापन की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है।

काहे री नलिनी तू कुंभिलानी।
तेरे ही नालि सरोवर पानी।।
जल में उतपति जल में वास।
जल में नलिनी तोर निवास।।
ना तलि तपति न ऊपरि आगि।
तोर हेत कहु कासन लागि।।
कहै कबीर जे उदकि समान।
ते नहिं मुए हमारे जान।।

—कबीर

इस पद में नलिनी 'जीवात्मा' और सरोवर का जल 'परमात्मा' के प्रतीक हैं। आग 'सांसारिक माया जनित कष्टों, का प्रतीक है। इन तीनों प्रतीकों द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन अति सुन्दर ढंग से हुआ है। कवि नलिनी रूपी जीव को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि अरे कमलिनी (जीव) तू क्यों दुखी है तेरे चारों ओर सरोवर का जल अर्थात् समस्त संसार में व्याप्त परमात्मा के तत्व है। इस आत्मा-रूपी कमलिनी को नष्ट करने वाली आग न ऊपर है और न नीचे अर्थात् सांसारिक माया जनित कष्ट इस नलिनी-रूपी-आत्मा को कष्ट नहीं दे सकते हैं क्योंकि जब नलिनी रूपी-आत्मा जल रूप परमात्मा में विलीन हो जाएगा तो किसी प्रकार कष्ट अथवा मृत्यु का भय नहीं रहेगा।

दादू, रैदास, सुन्दरदास, धर्मदास, मलूकदास आदि सभी ने प्रतीकों द्वारा आध्यात्मिक तत्वों की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। मलिक-मुहम्मद जायसी की पद्मावत तो पूर्ण-रूप से प्रतीकात्मके काव्य है। निम्नलिखित दोहा में जीवन-

मरण की क्रिया की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देखिए :—

मुहमद जीवन जल भर न, रहट घरी के रीति ।
घरी जो आई ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति ।

जिस प्रकार रहँट के चक्र पर जल की घरी भरती और खाली होती रहती है उसी प्रकार यह जीवन भी जन्म और मृत्यु के चक्कर में पड़ा रहता है। इसमें रहँट 'जीवन,' घरी का भरना 'जन्म' और घरी का खाली होना 'मरण' के रूपक (प्रतीक) हैं। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहा में प्रतीक रूप में 'चारि वसेरे' का प्रयोग हुआ है—

'नवौ खंड नव पौरी, औ तहँ वज्र कि बार ।
चारि बसेरे सों चढ़े, सत सो उतरे पार ।।'

—जायसी

यात्रा के चार बसेरे सूफी साधना के चार पड़ाव-शरीअत, तरीकत, मारिफत और हकीकत के प्रतीक हैं।

सूरदास जी के काव्य में अनेक स्थलों पर प्रतीक-स्थापन की प्रवृत्ति पर्याप्त-रूप से दिखाई देती है। गोपी उद्धव सम्वाद में प्रतीकवाद की अभिव्यक्ति अत्यन्त ही मार्मिक है।

'आयो घोस बड़ो व्यापारी'

× × × ×

फाटक देकर हाटक माँगत भोरिय निपट सुधारी ।
धुर ही तें खोटो खायो है लये फिरत सिर भारी ।
इनके कहे कौन उहकावे ऐसी कौन अजानी ।
अपनो दूध छाँड़ि को पीवै खार कूप को पानी ।

× × × ×

इस पद में घोस बड़ो व्यापारी 'उद्धव' का प्रतीक है। इसी प्रकार फाटक 'निर्गुण' ब्रह्म' और हाटक (सुवर्ण), सगुण ब्रह्म के प्रतीक हैं।

महात्मा गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अपनी मनोरम भावनाओं की अभि-व्यक्ति के लिए प्रतीक-पद्धति का ही अनुसरण किया है। चातक-प्रेम सम्बन्धित

दोहों में चातक प्रेमी का प्रतीक है और धन ईश्वर का। चातक प्रेम की अनन्यया, भक्त-हृदय की तल्लीनता, का ही द्योतक है।

रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखिगे अंग।
'तुलसी' चातक प्रेम को, नित नूतन रुचि अंग ॥

—तुलसीदास

इसमें चातक-प्रेम भक्त-हृदय के प्रेम का प्रतीक है। भक्त भूखा प्यासा भगवान के नाम का जप करता रहता है। शरीर के दुर्बल होने की उसे चिन्ता नहीं रहती है। उसका प्रेम नित्य नवीनता धारण करता जाता है।

उपल वरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ॥

—तुलसीदास

इस दोहे में चातक भक्त-हृदय का प्रतीक है और मेघ भगवान का प्रतीक है। उपल का बरसना तथा बज्र आदि का गिरना सांसारिक कष्टों के प्रतीक हैं। भक्त-हृदय के प्रेम को चातक-प्रेम के द्वारा अत्यन्त ही अनुपमता के साथ चित्रित किया है।

रीतिकाल के कवियों ने भी प्रतीक-विधान द्वारा काव्य सौन्दर्य की वृद्धि करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है। किसी-किसी कवि में प्रतीकवाद की अद्भुत छटा अवलोकनीय है :—

बिहारी जी का एक प्रतीक—चित्र देखिए :—

चले जाहु ह्याँ को करै हाथिन को व्यापार।
नहिं जानत या पुर बसैं, धोबी, गोंड, कुम्हार।

—विहारी

प्रस्तुत दोहे में 'हाथिन को व्यापार' से तात्पर्य सद्‌गुण की परख तथा धोबी, गोंड़ कुम्हार आदि से अभिप्राय अयोग्य व्यक्तियों से है।

कहा जाता है कि विहारी जी ने राजा जयसिंह को अपनी नव विवाहित रानी के प्रेम में राज्य कार्य में रुचि न लेने के कारण, प्रतीक प्रद्धति पर एक दोहा लिखकर भेजा था। उस दोहे का राजा के हृदय पर इतना प्रभाव पड़ा कि राजा तुरन्त ही सँभल गये।

'नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल ।
अली कली ही सों विध्यौं, आगे कौन हवाल ।।

इस दोहे में कली 'रानी' का प्रतीक है और अलि 'राजा' का । पराग, मधु तथा विकास आदि शब्दों द्वारा कवि ने रानी के सौन्दर्य तथा आयु की ओर संकेत किया है । प्रतीक विधान द्वारा राजा की चेतना को जाग्रत कर देना, कवि की सफलता का पूर्ण परिचायक है । इस प्रकार का साहित्य हिन्दी में अन्योक्ति प्रधान साहित्य कहलाता है । अतएव अन्योक्ति, प्रतीक का ही साम्य रूप है । ऐसे साहित्य का हिन्दी साहित्य में बाहुल्य है । दीनदयाल गिरि तथा गिरिधरदास की की अन्योक्तियाँ हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि हैं ।

बरखै कहा पयोद इत मानि मोद मन मांहि ।
यह तो ऊसर भूमि है अंकुर जमि है नाहिं ।।
अंकुर जमि है नाहिं वरस सत जो जल दैहै ।
गरजै तरजै कहा वृथा तेरो श्रम जैहै ।।
वरनै 'दीनदयाल' न ठौर कुठौ रहि परखै ।
नाहक गाहक बिना बला हक ह्याँ तू वरखै ।।

—दीनदयाल गिरि

प्रस्तुत कुण्डलियां में पयोद किसी उपदेशक या शिक्षक का प्रतीक है । इसी प्रकार ऊसर भूमि वज्र मूर्ख का । अंकुर से तात्पर्य ज्ञान का है । ठौर-कुठौर पाप और कुपात्र के प्रतीक हैं ।

अन्य उदाहरण देखिए—

टूटे नख रद केहरी वह बल गयो थकाय
हाय जरा अब आइके, यह दुख दियो बढ़ाय ।।
यह दुख दियो बढ़ाय, चहूँ दिसि जंबुक गाजें ;
रासुक लोमरी आदि ; स्वतन्त्र करें सब राजें ।।
बरनै 'दीनदयाल' हरिन विहेरे, सुख लूटें ।
पंगु भयो मृगराज, आज नख रद के टूटें ।।

—दीनदयाल गिरि

प्रस्तुत कुण्डलिया में केहरी अथवा मृगराज किसी वीर एवं पराक्रमी व्यक्ति

का प्रतीक है। जंबुक, ससकु, लोमड़ी इत्यादि कायर एवं निर्बल प्राणियों के प्रतीक हैं। हिरण भी निर्बल प्राणियों के प्रतीक हैं।

आधुनिक युग में प्रतीकवाद का कवियों पर पूर्ण प्रभाव है। छायावाद में इसका आभास हमें स्पष्ट ही दिखाई देता है। छायावादी कवियों ने प्रतीक रूप में प्रतीक के अनेक प्रयोग किये हैं। ऐसे प्रयोगों में छायावादी कवियों की कल्पनाएँ एवं उद्‌भावनाएँ अनुपम हैं। नये प्रतीकों की अवतारणा नये कवियों की विशेषता ही कही जाएगी। यथा—झंझावात को हृदय के उद्वेग तथा विद्युत को स्मृति का प्रतीक। यही नहीं, आज का कवि किसी परम्परा की शृंखला में बँधा हुआ नहीं है। वह आज परम्परागत प्रतीकों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। अँग्रेजी साहित्य के प्रभाव स्वरूप अपनी अनुभूति के अभिव्यक्तीकरण के लिए आज के कवि को स्वतन्त्र, सुगम और विशाल क्षेत्र प्राप्त हो गया है। इसीलिए आधुनिक कवियों की दृष्टि में ऊषा पनघट पर भरती हुई नायिका के रूप में, तो सन्ध्या काले-काले केश वाली सुन्दरी के रूप में दिखाई देती है। संध्या सुन्दरी का प्रतीकात्मक चित्रण देखिए—

रूपसि ! तेरा घन केश पाश
श्यामल कोमल-कोमल,
लहराता सुरभित केश पाश।
—महादेवी वर्मा।

उपर्युक्त पद्य में रूपसि 'सन्ध्या सुन्दरी' का प्रतीक है और घन केश श्यामल एवं काले-काले मेघों' का।

प्रसाद जी की कामायिनी में भी प्रतीकों की छटा प्रचुर मात्रा में दिखाई देती है। 'काम' सर्ग के आरम्भ में देखिए :—

'मधुमय बसंत जीवन बन के,
वह अन्तरिक्ष की लहरों में,
कब आये थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में।
क्या तुम्हें देखकर आते :यों
मतवाली कोयल बोली थी।

उस नीरवता में अलसाई
कलियों ने आँखें खोली थीं।'

प्रस्तुत पद्य में 'बसन्त' यौवन के लिए, 'रजनी का पिछला पहर' वय सन्धि के लिए, 'कोमल' यौवन-उल्लास के लिए, 'कलियाँ मधुर भावों के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

रात्रि में तारक-मंडल से युक्त चन्द्रिका के मानव-रूप का वह इस प्रकार वर्णन करते हैं—

तार हीरक हार पहनकर, चन्द्रमुख
दिखलाती उतरी आती थी चाँदनी
शाही महलों के ऊँचे मीनारों से
जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका
मंथर गति से उतर रही है सौध से

इसमें कवि ने चाँदनी को 'पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका' और तारक-माला में 'हीरक-हार' की कल्पना कर प्रतीकात्मक कल्पना का स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है।

पन्त जी के काव्य में भी लाक्षणिक प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में दिखाई देता है—

'धूल की ढेरी में अनजान।
छिपे हैं मेरे मधुमय गान।'

—पल्लव

यहां 'धूल की ढेरी' असुन्दर वस्तुओं के तथा 'मधुमय गान' सुन्दर वस्तुओं के प्रतीक हैं। इसी प्रकार—

'चाँदनी का स्वभाव में वास।
विचारों में बच्चों की साँस।'

—पल्लव

इसमें 'चाँदनी' 'मृदुलता शीतलता एवं हास्य का प्रतीक है और 'बच्चों की साँस' भोले पन का प्रतीक है।

छायावाद के युग में तो प्रतीकों का पूर्ण प्रयोग हुआ है। कवियों की नवीन-

नवीन कल्पनाएँ इस युग में अत्यन्त ही मनोरम रूप में चित्रित की गयी है। प्रतीकों के आधार पर गूढ़ातिगूढ़ भावों की अभिव्यक्ति अत्यन्त ही सुन्दर ढंग से हुई है।

प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद के नवीनतम युग में भी लेखकों तथा कवियों ने अनेकानेक प्रतीकों का आश्रय लिया है। उनकी रचनाओं में यद्यपि वैयक्तिक छाप विद्यमान है किन्तु अभिव्यक्ति अत्यन्त ही प्रभावात्मक तथा हृदयस्पर्शी है। धर्मवीर भारती की एक प्रतीकात्मक कविता देखिए :—

> ये फूल मोमबत्तियाँ और टूटे सपने
> ये पागल क्षरण,
> यह काम काज, दफ्तर, फाइल, उचटा-साजी भत्ता, वेतन
> इनमें से रत्ती भर न किसी से कोई कम,
>
> × × ×
>
> यह काम काज संघर्ष विरस कड़वी बातें
> ये फूल मोमबत्तियाँ और टूटे सपने।

प्रस्तुत रचना में 'मोमबत्तियाँ' अन्तर्वेदना और टूटे सपने कभी न पूर्ण होने वाली, 'आशाओं' तथा 'अभिलाषाओं' के प्रतीक हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी साहित्य में प्रतीकात्मक साहित्य प्रचुर मात्रा में है। कतिपय पाश्चात्य साहित्य प्रेमियों का यह भ्रम, कि हिन्दी में प्रतीकवादी साहित्य विदेशी देन है, नितान्त निराधार तथा निर्मूल है। हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद प्रचुर मात्रा में है। आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य में अनेक ऐसे ग्रन्थों का सृजन हुआ है कि जो पूर्ण रूप से प्रतीकात्मक काव्य कहे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद जी का 'कामना' शीर्षक नाटक प्रतीकात्मक ही है। इसी प्रकार हिन्दी के 'नवरस' शीर्षक नाटक में वीरसिंह, प्रेमलता, रुद्रदेव, भीम, ग्लानिदत्त, लीला, करुणा, शान्ता, मधु आदि पात्र क्रमशः वीर, शृङ्गार, रौद्र, भयानक, वीभत्स, हास्य, करुणा, शान्त तथा वात्सल्य रस के प्रतीक हैं। इसी प्रकार अन्य रचना 'अम्बा' के भीष्म और अम्बा पात्र भी अभिमानी पुरुष तथा शोषित, दलित नारी के प्रतीक हैं। 'गुप्तधन' उपन्यास में भी प्रतीकवाद की अनुपम झाँकी मिलती है। कतिपय साहित्याचार्यों के मतानुसार

कामायिनी की रचना भी प्रसादजी ने प्रतीक का आधार लेकर की है। आधुनिक युग में इस शैली के प्रति कवियों और लेखकों का मोह बढ़ता ही जारहा है। साहित्य के रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि अन्य वादों ने प्रतीकात्मक शैली को तो अपना विशेष गुण बना लिया है। प्रतीक पर विशेष बल देना ही आज की कविता का प्रथम गुण माना जाता है। आज के प्रयोगवादी कवि अपने काव्य में प्रतीकों का उपयोग करके साहित्य जगत् में एक नवीन सृष्टि करना चाहते हैं। उन्हे इस साहित्य साधना में कब और कितनी सफलता मिलेगी इसका मूल्यांकन तो अनागत में ही हो सकेगा। हाँ यह सत्य है कि यदि कवियों ने परम्परागत, देशगत तथा युगगत प्रतीकों का परित्याग कर केवल व्यक्तिगत प्रतीकों का आश्रय लिया तो कविता अपने स्वाभाविक गुण 'साधारणी करण' को खो बैठेगी।

अन्त में यह स्वीकार करना पड़ता है कि प्रतीकवाद का हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान है। कवि के संदेश को पाठकों तक पहुँचाने के लिए, गूढ़ अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए थोड़े से शब्दों में महत्वपूर्ण भाव भरने के लिए, पाठकों की सुप्त वृत्ति को उद्बुद्ध करने के लिए, भाषा को गतिशील बनाने के लिए तथा राजनीति के दलपूर्ण जीवन से मुक्त रहने के लिए, प्रतीकवाद, सरल एवं स्पष्ट-वादी कवि के रक्षार्थ चक्र-सुदर्शन है।

हालावाद

> मजा शराब का कैसे कहूँ तुझसे ज़ाहिद ।
> हाय कम्बख्त तूने पी ही नहीं.........।।'

उपयुक्त नारे द्वारा फारस के जिन सूफी कवियों ने इस्लाम के 'कठमुल्लावाद' के विरुद्ध अपनी भावनाएँ व्यक्त कीं, उनमें कवि मौलाना रूम, हाफिज और उमरखैयाम प्रमुख थे। इस्लाम के अनुयायियों ने, शराब, सुराही, साकी, प्याला और मीना (बोतल) आदि के तराने-गाने वाले इन सूफी कवियों पर, अनेक प्रकार के अत्याचार किये। इस्लाम धर्म में शराब हराम है। अतः शराब की मस्ती के गीत गाने वाले इन कवियों को धर्म का विरोधी ठहराया गया। उन्हें अनेक प्रकार की यातनाएँ दी गयीं किन्तु ये कवि अपने पथ पर अडिग रहे। इन्होंने शराब की मस्ती में प्रभु के पावन दर्शन किये। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में, रहस्यपूर्ण, अव्यक्त प्रिय के दर्शन कर, सूफी कवि मुग्ध हो गये। इन्होंने शराब के नशे की तुलना प्रभु के प्रेम की तन्मयता से की। सुरापान की मादकता और ईश्वर-प्रेम की तन्मयता, सूफी कवियों की दृष्टि में एक ही थे। अतः शराब ईश्वरीय-प्रेम की प्रतीक बन गयी। सुरापान की मादकता और तन्यमता में सूफी कवियों को 'इलहाम' होता था और उन अवस्था में रूह और खुदा में कोई भेद नहीं रह जाता था। इस प्रकार सूफी कवियों ने रोज़ा, नुमाज़ तथा मुल्लाओं के आचारवाद की अवहेलना कर प्रभु-प्रेम के शराब जैसे नशे में मस्त होकर अपनी भावनाएँ प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया। इन्होंने शराब के नशे की तन्मयता को ईश्वरीय प्रेम की तन्ययता के लिए आधार समझा। लौकिक प्रेम में अलौकिक प्रेम का समावेश किया। अतः जन-साधारण ने सूफी कवियों की भावनाओं को अपनी रुचि के अनुकूल पाया। फलतः सूफी कवियों के उदगारों की व्यापकता बढ़ती गयी। इसी फारसी-साहित्य के अनुकरण एवं प्रभाव से हिन्दी में जिस मादक कविता का प्रणयन किया गया, उसे 'हालावाद' के नाम से पुकारा गया।

हिन्दी साहित्य में 'हालावाद' का समावेश अँग्रेजी के माध्यम द्वारा हुआ। सन् १८५९ ईसवी में सर्वप्रथम प्रसिद्ध अँग्रेजी कवि फिट्ज़जेराल्ड द्वारा फारसी के प्रसिद्ध हालावादी कवि उमर खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद किया गया। लगभग एक दशाब्द तक इस अनुवाद की ओर लोगों का विशेष ध्यान भी नहीं गया। तदनन्तर इसकी लोकप्रियता बढ़ती गयी और क्रमशः सन् १८६८, १८७२ और १८७९ में फिट्ज़जेराल्ड के जीवन काल में ही इस अनुवाद के तीन प्रकाशन हुए। धीरे-धीरे इस मादक-कविता की व्यापकता बढती गयी। फलतः हिन्दी साहित्य में भी इन भावनाओं ने स्थान पाया। सन् १९२७-२८ ईसवी के लगभग 'सरस्वती' पत्रिका में उमर खैयाम की मादकता पूर्ण रुबाइयों का उल्लेख किया गया। इन रुबाइयों ने इंजैक्शन की भाँति हिन्दी-कवियों पर पूर्ण प्रभाव डाला। भारत की तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों ने इस मादक साहित्य की व्यापकता को और बढ़ा दिया। इस समय निश्चय ही भारतीय जनता अत्यन्त दुःखित हो निराशा में डूबी हुई थी। महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटिश शासकों के शोषण और अत्याचार, क्रान्तिकारियों का दमन, गोलमेज कॉन्फ्रेन्स की असफलता, देशव्यापीय दुर्भिक्ष और भयंकर रोग आदि इसके कारण थे। गांधीवाद की नैतिकता और सहिष्णुता ने जनता को और भी अधिक मूक और मौन बना दिया था। साहित्य जगत में सूक्ष्म वासनापूर्ण छायावाद भी जनता के हृदय में सरसता लाने में असफल रहा था। ऐसे समय निराश जनता चाहती थी कि उसे किसी प्रकार क्षणिक शान्ति ही मिल जाए। जिस प्रकार शूल का रोगी क्षणिक शान्ति के लिए एक मादक वस्तु को भी हितकर समझता है, ठीक उसी प्रकार देश व्यापीय पीड़ा से छट-पटाती हुई भारतीय जनता ने भी हालावादी मादक साहित्य का स्वागत किया। अनेक नवयुवक हिन्दी कवि अपनी रचनाओं द्वारा हाला की इस मादकता का प्रकाशन करने लगे। पद्मकान्त मालवीय, हरिवंशराय 'बच्चन', हृदय नारायण पाण्डेय 'हृदयेश', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि हालावाद के प्रमुख कवि हैं।

हिन्दी साहित्य में हालावाद जिस तीव्रता से आया, उसी तीव्रता से विलीन हो गया। यदि गम्भीरतया हालावादी साहित्य पर दृष्टि डाली जाए तो इसकी आयु ५ वर्ष से अधिक दिखाई नहीं देती है। इसका एकमात्र कारण यह था कि

हालावादी साहित्य की उत्पत्ति कुछ तरुण कवियों की पूर्ण वैयक्तिकता से हुई थी। पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी जी के मतानुसार हालावादी साहित्य की अनुभूतियाँ हिन्दी साहित्य में नितान्त अपरिचित थी और वह न हिन्दी काव्य की ग्रहीत परम्परा में आती थीं। सामाजिक-जीवन के उत्थान के लिए उसमें सुस्पष्ट योग का अभाव भी था। इनकी परख भी केवल निराशावादी प्रतिक्रिया के रूप में हुई थी। इसीलिए हालावादी साहित्य अधिक पनप न सका।

वस्तुतः हालावाद निराशावाद के क्रोड़ से उत्पन्न हुआ था। कवि समाज से भिन्न प्राणी नहीं है। उसकी पुकार समाज की पुकार है। अतः हालावादी कवियों ने जो कुछ कहा, उसमें तत्कालीन भारतीय समाज की प्रेरणा निहित थी। सामाजिक, आर्थिक, दैविक तथा राजनीतिक थपेड़ों से भारतीय जीवन उस समय अति दुःखी था। उसी दुःख से क्षणिक मुक्ति पाने के लिए, गम को गर्क करने के लिए हालावादी साहित्य ने शराब का काम किया। इस साहित्य के तराने गा-गाकर निराश भारतीय जनता निराशा का, दुःख का विस्मरण कर एक मस्ती में झूमने लगी। उस मस्ती में, उसे आनन्द मिला। अतः हालावादी कवियों का काव्य अति हृदयस्पर्शी है।

डाक्टर हरिवंशराय 'बच्चन' हालावादी साहित्य के प्रमुख कवि हैं। उन पर उमर खय्याम का प्रभाव दो प्रकार से पड़ा है। उसके भाव उन्हे इतने प्रिय लगे कि फिट्जजेरल्ड और खैयाम की कविता का हिन्दी रूपान्तर किया। इसके अतिरिक्त उसका जीवन-दर्शन इतना हृदयस्पर्शी लगा कि उसे बच्चन ने अपना लिया। खैयाम की समता पर बच्चन ने मधुशाला, मधुवाला और मधुकलश की रचना की। मधुशाला बच्चन की प्रथम रचना है जो कवि की ख्याति का कारण हुई। इसमें कवि ने मदिरालय, मधुवाला, प्याला और हाला के प्रतीकों को स्वीकार करके उनका प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया है। बच्चन की यह दूरदर्शिता प्रशंसनीय है। सृष्टि की अनेक एवं असंख्य वस्तुओं में मदिरालय तथा हाला की कल्पना कर लेना बच्चन की मर्मज्ञता का द्योतक है। कही पात्र शरीर है, तो हाला प्राण। कहीं पात्र जगत है, तो हाला जीवन। कहीं पात्र हृदय है, तो हाला भावनाएँ। पात्र पलकें, तो हाला अश्रु। पात्र मन है, तो हाला मादकता। प्रकृति में पात्र समीर है, हाला सौरभ। पात्र पुष्प है, तो हाला पराग। पात्र

पृथ्वी है, हाला सागर। पात्र आकाश है, हाला वर्षा जल। मधुबालाओं में कहीं उषा, सन्ध्या, शशिबाला हैं, विविध राग रागिनियाँ। हाला पिलाने वाले चित्रकार, कवि तथा काल इत्यादि है। इस प्रकार कवि ने सृष्टि की असंख्य वस्तुओं में मधुशाला एवं हाला के दर्शन कर सभी प्रकार के पीने वालों को तृप्त करने का प्रयत्न किया है। पाठकों के लिए बच्चन जी ने कल्पना, विचार और भावों का समन्वय अत्यन्त ही कौशल के साथ उपस्थित किया है फिर भी यत्र-तत्र स्थूलता आ ही गई है। जैसे—

आज सजीव बना लो प्रेयसि !
अपने अधरों का प्याला ।
भरलो—भरलो—भरलो इसमें,
यौवन मधुरस की हाला ।
और लगा मेरे अधरों से,
भूल हटाना तुम जाओ ।
अथक बनूँ मैं पीने वाला,
खुले प्रणय की मधुशाला ।

कहीं-कहीं मधुशाला में बच्चन जी सुधारक के रूप में दिखाई देते हैं। सामाजिक विषमताओं, जातीय विभिन्नताओं और धार्मिक आडम्बरों पर किये गये व्यंग्य, जाति और धर्म की एकता के लिए अत्यन्त हृदयस्पर्शी प्रतीत होते हैं। बच्चन किसी भी प्रकार की विचार-संकीर्णता के पक्ष में नहीं हैं। उनकी कामना है कि मनुष्य जातीयता और धार्मिक संकीर्णता के बन्धन से मुक्त होकर समानता के मार्ग को अपनाये। इस प्रकार सभी असामंजस्य, विभिन्नता आदि को दूर करने का बच्चन की दृष्टि में एक साधन है—वह है हाला। इसी का दूसरा नाम प्रेम की मस्ती है जो सृष्टि की सभी वस्तुओं से टपक रही है और जिस ओर प्रकृति का प्रत्येक कण अग्रसर हो रहा है। यही नहीं हाला की मादकता में ही कवि को अनन्त सुख का प्रादुर्भाव होने लगता है। देखिए :—

'प्रिये ! मदिरा से देना सींच
अधर मेरे होवे मृत-म्लान ।

मरूँ तब मदिरा से ही, प्राण।
करांना मेरे शव को स्नान ।
अँगूरी पत्तों के मृत देह,
मून्द, उनकी ही शैया डाल ।
सुला देना मुझको चुपचाप
किसी मधुमय उपवन के पास।

इस प्रकार हाला एक ओर लोक-सुख का साधन है तो दूसरी ओर परलोक सुख का। 'मधुवाला' में बच्चनजी आध्यात्मवाद का सुन्दर रूपक उपस्थिति करते हैं। इसमें 'मालिक-मधुशाला,' मदिरालय, मधुवाला, मधुपायी, सुराही, प्याला हाला आदि सृष्टिकर्ता, जगत, प्राणी, जीवन, आनन्द आदि के प्रतीक हैं। कवि ने मधुवाला का प्रयोग यत्र तत्र नारी के लिए भी किया है। क्योंकि वस्तुतः नारी स्वयं ही साकार सुन्दरता, साकार मधुरता और साकार आकर्षण है। संक्षेप में मधुवाला वच्चन की सुन्दर कृति है। उनमें कवि की सरस वाणी, अलौकिक काव्य प्रतिभा तथा अनुपम दृष्टिकोण अवलोकनीय है। 'मधुकलस' में तो मधु की अति होगयी है।

कवि वच्चन का अपना निजी दृष्टिकोण है। फारसी हालावादी कवियों के दृष्टिकोण के समान भी है तथा पृथक् भी। धार्मिक दृष्टिकोण से वच्चन की विचारधारा व्यापक है। उसमें धार्मिक सकीर्णताओं पर कसे व्यंग मर्मस्पर्शी हैं। इसीलिए हालावादी कवि समाज के आडम्बरों का अट्टहास करने के लिए, उसकी संकीर्णताओं के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए 'मदिरालय के दरवाजों' की ओर बढ़ने लगता है। उसकी पुकार देखिए :—

''हमने छोड़ी कर की माला, पोथी पत्रा भू पर डाला,
मंदिर, मस्जिद के बंदीग्रह को तोड़, लिया कर में प्याला।

उसे आलोचकों का कोई भय नहीं—

'वह पुण्य कृत, यह पाप कर्म, कह भी दूँ तो दूँ क्या सबूत,
कब कंचन मस्जिद पर वरसा, कब मदिरालय पर गिरी गाज।

कवि की दृष्टि में मधुशाला, मन्दिर मस्जिदों से अधिक पवित्र है। उसकी विचारधारा लोक से नितान्त विपरीत्त है :—

रक्त से सींची गई है—राह मन्दिर मस्जिदों की।
किन्तु रखना चाहता मैं, पाँव मधु सिंचित डगर में।।
हैं कुपथ पर पाँव मेरे-आज दुनिया की नजर में।

बच्चन स्पष्टवादी हैं। वह अपने हृदय में किसी बात को छिपाना नहीं जानता। इसीलिए वह पुकार उठता है—

कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्‌गार मेरा।
मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधु समझता।

कुछ भी हो। बच्चन को उसे कुमार्ग पर चलने वाला कहें, तो उसे परवाह नहीं। उस पर लोग हँसकर क्या करेंगे? क्योंकि

मैं हँसा जितना कि खुद पर—
कौन हँस मुझे पर सकेगा।
और जितना रो चुका हूँ-रो नहीं निर्भर सकेगा।

कवि का विचार है कि जीवन क्षणभंगुर है। न जाने कब मृत्यु का आलिङ्गन करना पड़े। इस लिए भूत एवं भविष्यत् की चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए मधुपान अति आवश्यक है—

पिलाकर प्यारी मदिरा आज
नशे में इतना करदो चूर।
भविष्यत के भय जाएँ भाग,
भूत के दारुण दुःख हों दूर।
प्रिये, लेना मत कल का नाम।
नहीं कल पर मुझको विश्वास
अरे! कल दूर, एक क्षण बाद
काल का मैं हो सकता ग्रास।

मदिरा के बिना कवि को चैन नही पड़ता है। पीडा-विस्मरण मदिरापान के द्वारा ही सम्भव है। इसीलिए कवि मधुशाला, मधुबाला, प्याला और हाला के लिए व्याकुल हो जाता है।—

'मैं कहाँ और वह आदर्श मधुशाला कहाँ है?
विस्मरण दे जागरण के साथ मधुबाला कहाँ है?

है कहाँ प्लाया कि जो दे चिर तृषा चिर तृप्ति में भी
जो डुबा तो दे मगर दे, पारकर हाला कहाँ है ?

जीवन में प्रज्वलित होती हुई आग बुझाने का साधन मधुपान ही है—ऐसी बच्चन की विचारधारा है। इसी कारण जीवन में मधुरता प्राप्त करने के लिए मधुपान आवश्यक है—

कुछ आग बुझाने को पीते यह भी, कर मत इन पर संशय।
मिट्टी का तन, मस्ती का मन, क्षणभर जीवन, मेरा परिचय !

कहने का तात्पर्य यह है कि बच्चन की विचारधारा पर उमर-खैयाम आदि फारसी कवियों का पूर्ण प्रभाव है। इसके अतिरिक्त उनके निजी दृष्टिकोण तथा अनेक प्रकार की प्रतीकात्मक कल्पनाओं के सुन्दर समन्वय से उनके काव्य में एक विशेष प्रकार का आकर्षण उत्पन्न हो गया हैं जो हृदय को मुग्ध किये बिना नहीं रहता है। कुछ आलोचक बच्चन की इस विचारधारा को, कि पीड़ा-विस्मरण के लिए मधुपान अति हितकर है, पलायनवाद के अन्तर्गत मानने लगते हैं किन्तु बच्चन जी इसके विरोधी है। उनका अमर विश्वास है कि—

राग के पीछे छिपा, चीत्कार कह देगा किसी दिन।
हैं लिखे मधु गीत मैंने, जो खड़े जीवन समर में।

इसीलिए बच्चन अपने पथ पर अचल है। उसकी दृष्टि में मधुशाला विश्रान्ति साधन, श्रेय तथा प्रेम सभी हैं। वेदमार्ग पर चलने वाले पुजारियों तथा मस्जिद के मुल्लाओं के प्रति कवि की निर्भीक गर्जना देखिए—

वेद विहित यह रस्म न छोड़ो, वेदों के ठेकेदारो।
किसी तपोवन से क्या कम है मेरी पावन मधुशाला।

इस्लाम के कठमुल्लावाद के विरोध में कवि के आक्षेप—

शेख कहाँ तुलना हो सकती, मस्जिद की मदिरालय से।
चिर विधवा है मस्जिद तेरी, सदा सुहागिन मधुशाला।

इस प्रकार बच्चन जी की रचनाएँ अपनी निजी विशेषताएँ रखती हिं। यह सत्य है कि उनकी यह अभिव्यक्तियाँ भारतीयता के अनुकूल नहीं हैं किन्तु उन्होंने हिन्दी काव्य के एक अपूर्ण अंग को पूर्ण किया। आज भी जब पंत, निराला तथा महादेवी की गति में शिथिलता आ गयी है, बच्चन स्वभावतः चमक रहे है।

उनकी लोकप्रियता बढ़ती ही चली जाती है।

हृदयनारायण पाण्डेय 'हृदयेश' हालावादी साहित्य के अन्य कवि हैं। यद्यपि उनके काव्य का आधार एवं विषय वही है किन्तु उसमें एक निरालापन है। फारसी कवियों की भाँति उन्होंने शीरीजी अंगूरी का नग्न चित्रण नहीं किया। उन्होंने साक़ी, सुराही, मीना आदि के रूप को ही बदल दिया। उनकी हाला तो सोमरस और द्राक्षासव के मध्य की वस्तु है। उस पर भारतीयता की पूर्ण छाप है। प्रखर कल्पना, लाक्षणिक शैली, मधुर-भाषा और भारतीय दर्शन के अनुपम समन्वय से हृदयेश जी की रचनाएँ अत्यन्त ही हृदयहारिणी हैं।

यमुना तट पर कदम कुंज में कुली स्नेह की मधुशाला।
श्याम सलोना सा प्रिय प्यारा अधर मुरलिया प्याला।
झूम रहे हैं पीने वाले भूल रहे हैं; जगती को।
प्रणय मदोत्पादक श्रवणों में सुखकर स्वर आसव डाला।

स्पष्ट है कि हृदयेश जी का हृदय भारतीयता के रंग से पूर्णरूप से रंगा हुआ है। उनका काव्य हाला के उस रूप से पूर्ण मुक्त है जिसे लोग भारतीयता के प्रतिकूल समझते हैं। माया को मधुबाला का रूप देकर हृदयेश जी के जीवन तथ्य की कैसी सुन्दर अभिव्यक्ति की है--

योगी पीते भोगी पीते पण्डित प्याला पर प्याला।
गृही विरत वैरागी पीते तन का होश भुला डाला।

× × × ×

दुनिया में हृदयेश सभी को पीनी पड़ती है आकर।
माया मधुबाला के हाथों दुनियाँ की सुख-दुख हाला।

हृदयेश जी के रूपक तो अत्यन्त ही सरस तथा सुन्दर हैं। बसन्त में मधुशाला का रूपक देखिए—

खुली हुई सुमन प्यालियाँ चमन बना है मतबाला।
ढाल रही हैं ओस स्नेह से रजत विनिर्मित हिम हाला।
साकी बनकर आया ऋतुपति बन उपवन सबने ढाला।
लाल पलास लालिमा मिस मदमाते हो कहते लाला।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' शृङ्गार और वीर—दोनों रसों के ही सफल एवं

उच्चकोटि के कवि हैं। उनके काव्य में स्वाभाविक कल्पनाएँ अत्यन्त ही मनोरम और अनुपम रूप प्रस्तुत करती है। शृङ्गार रस में विप्रलम्भ का आधिक्य है। उसमें कही-कहीं रहस्यवाद का सा पुट दिखाई देने लगता है। बच्चन के उन्माद की भाँति नवीन जी के हालावाद में विश्रान्ति नहीं है। वह तो निरन्तर पीना चाहते हैं। उनकी मस्ती, उनकी प्यास निराली है।

कूजे दो कूजे में बुझने वाली मेरी प्यास नहीं।
बार-बार ला ! ला ! कहने का समय नहीं, अभ्यास नहीं।
अरे बहादे अविरल धारा, बूँद-बूँद का कौन सहारा।
मन भर जाये, जिय उतराये, डूबे जग सारा का सारा।

कवि से एक क्षण का विलम्ब भी सहा नही जाता—

और ? और ! मत पूछ दिये जा, मुँह माँगे वरदान लिये जा।
तू बस इतना ही कह साकी और पिये जा और पिये जा।

नवीन जी के हालावाद में उनकी तीव्र लालसा निहित है। उसमें सदाशयता तथा सार्वभौम हित-चिन्तन की भावना है—

साकी मन-घन-गन घिर आये
उमड़ी श्याम मेघ माला !
अब कैसा बिलम्ब !
तूभी भरभर ला गहरी गुल्लाला
प्याले दो प्याले में बुझनेवाली
मेरी प्यास नहीं
बार-बार लाला कहने का
समय नही, अभ्यास नहीं।
हो जाने दे गर्क नशे में
मत आने दे फर्क़ नशे में।
ज्ञान ध्यान पूजा पोथी के
वह जाने दे वर्क नशे में।
ऐसा पिला कि विश्व हो उठे

एक बार मतवाला।
अब कैसा विलम्ब.........

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त डाक्टर मैथिलीशरण गुप्त, पद्मकान्त मालवीय, स्वर्गीय डाक्टर सुधीन्द्र आदि ने भी हालावाद पर रचनाएँ की हैं। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में हालावादी साहित्य एक निजी विशेषता रखता है।

संक्षेप में हालावादी साहित्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१—सामाजिक रूढ़िवाद तथा धार्मिक आडम्बरों के प्रति विद्रोह की भावना।

२—हाला, वाला, मधुशाला, प्याला आदि का गुण-गान।

३—साँसारिक संघर्षों, दुखों एवं बाधाओं से पीड़ित होकर अरण्य-रोदन -

४—मधुपान द्वारा जीवन की कठिनाइयों से क्षणिक मुक्ति की कामना।

५—जीवन की क्षणभंगुरता में अमर विश्वास और उसको आनन्द एवं मस्ती से व्यतीत करने की लालसा।

६—प्रेम, सौन्दर्य और यौवन की ओर आकर्षण।

७—हाला द्वारा ईश्वरीय प्रेम का अनुभव करने की कल्पना।

८—लोकमार्ग के प्रतिकूल चलने का दुराग्रह।

९—कल्पना की ऊँची उड़ान।

१०—सरस एवं सरल भाषा में अनुपम एवं सरल अभिव्यक्ति।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हालावादी साहित्य, भारतीय आदर्श वाक्य 'सत्यं शिवं सुन्दरंम्' आदि कहाँ तक पालन करता है? क्या यह साहित्य समाज-हित में भी सहायक हुआ है ? हालावादी साहित्य पर गम्भीर दृष्टि डालने तथा उपर्युक्त प्रश्नों पर विचार करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हालावादी कवि केवल अपनी व्यक्तिगत भावनाओं की अभिव्यक्ति कर सके हैं। उनका प्याला केवल उनको ही क्षणिक आनन्द एवं शान्ति प्रदान कर सका है। समाज के लिए इस प्रकार के साहित्थ में कोई दिव्य, ग्राह्य एवं अमर सन्देश नही हैं। जिस साहित्य से लोक-कल्याण एवं समाज-कल्याण सम्भव नहीं, उसकी उपादेयता ही क्या हो सकती है ? इसके अतिरिक्त किसी समाज के साहित्य की

उत्कृष्टता उस समाज के आदर्शों की अनुकूलता पर निर्भर रहती है। यदि साहित्य समाज के आदर्शों का प्रतिपादन नहीं करता है तो साहित्य अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल नहीं कहा जा सकता है। अतएव हिन्दी साहित्य में हालावाद का समावेश कल्याणकारी नहीं हो सकता। यह सत्य है काव्य का उद्देश्य मनोरंजन है किन्तु ऐसा मनोरंजन नहीं जिसका परिणाम अत्यन्त घातक सिद्ध हो। हालावादी काव्य का मनोरंजन अत्यन्त क्षणिक है। उसका आनन्द क्षणिक एवं असत्य है। यही कारण है कि हालावादी साहित्य का अधिक प्रचार न हो सका। जिन हालावादी कविताओं की कवि-सम्मेलनों तथा अन्त्याक्षरी-प्रतियोगिताओं में धूम रहती थी, आज 'मधुशाला' आदि में ही बन्द पड़ी हैं। अतः हालावादी साहित्य भारतीय आदर्शों का पालन करता है और न समाज के लिए कर्म का सन्देश देता है। स्वतन्त्र भारत में जबकि हमारे कर्तव्य और उत्तरदायित्व अधिक बढ़ गये, हमें जीवन के संघर्षों, कठिनाइयों, पीड़ाओं एवं बाधाओं का सामना करना है। संघर्ष में अटल एवं अविचलित रहना ही कर्म वीरता है। उससे हाला पीकर क्षणिक मुक्ति पाना कायरता का प्रमाण है। जब हालावाद, हाला प्रिय कवि बच्चन आदि को ही तृप्ति प्रदान न कर सका, तो दूसरों को क्या हितकर सिद्ध होगा ? बच्चन जी के 'निशानिमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' हालावाद से उनकी विरक्ति को ही स्पष्ट करते हैं।

हालावादी-साहित्य के कतिपय प्रशंसकों का यह मत है कि हालावाद में हिंदी के अमर काव्य 'पद्मावत' और 'कामायनी' की भाँति रूपक है। जैसेः—

मैं मदिरालय के अन्दर हूँ—
मेरे हाथों में प्याला।
प्याले में मदिरालय विम्बित—
करने वाली है हाला।
इस उधेड़बुन में ही मेरा—
सारा जीवन बीत गया।
मैं मधुशाला के अन्दर था—
मेरे अन्दर मधुशाला।

उपर्युक्त मत के विषय में केवल यही कहना है कि ऐसा सोचना दर्शन का अपमान करना है। जिस दर्शन का साधन ही साधना रहित हो, वह दर्शन नहीं है। अतः हिन्दी में हालावादी साहित्य एक विचार धारा के अभाव की पूर्ति अवश्य करता है, किन्तु वह अमर काव्य के स्वाभाविक गुणों से रहित है।

नग्नवाद

यदि 'वाद' शब्द किसी अन्य शब्द से सम्बन्धित होकर व्यवहृत रूप में एक विशेष विचारधारा की पुष्टि करता है, तो रहस्यवाद, छायावाद, हालावाद आदि की भाँति 'नग्नवाद' भी साहित्य में स्वीकृत एक विचारधारा है। नग्न-चित्रण अथवा अश्लील चित्रण को नग्नवाद की संज्ञा दी जा सकती है। नग्नवाद का कवि, नैतिकता, मर्यादा, सदाचार, आदर्शवाद, सुधारवाद आदि की किंचित् मात्र परवा न कर नग्न-नारी-सौन्दर्य का चित्रण करना अपने काव्य का परमोद्देश्य समझता है। वह यौन तृष्णा की अतृप्त वासना से कामुकता का भीषण प्रदर्शन करने में थोड़ा सा भी संकोच नहीं करता है। वह तो एक उन्मादित चेतना शून्य व्यक्ति की भाँति बिना सोचे समझे अनियंत्रित रूप से अनर्गल प्रलाप करता हुआ चला जाता है। उसे यह ध्यान नहीं कि उसकी जुगुप्सित, नग्न एवं विकृत रचनाएँ समाज के लिए कितनी घातक सिद्ध होंगी। वासना के उफान में नग्नवादी कवि स्वयं अपना पतन करता है और साथ ही समाज के अन्य व्यक्तियों-विशेषतः नवयुवकों—नवयुवतियों के लिए पतन का गड्ढा खोदता है। उसके विचार एक कामी, भ्रष्ट, अविवेकी, तथा दुराचारी व्यक्ति के विचार होते हैं। अतः नग्ननारी-सौन्दर्य पूर्ण, अश्लीलता पूर्ण, यौन-प्रवृतियों के वासना पूर्ण साहित्य को हम 'नग्नवाद' के अन्तर्गत रख सकते हैं।

अब प्रश्न उठता है क्या हम ऐसे साहित्य को जो अति निम्नकोटि का हो, जो समाज के लिए घातक हो, जिसमें पाशविक कामुक वृत्तियों का चित्रण हो, साहित्य के अन्तर्गत रख सकते हैं ? क्या अन्य साहित्यक वादों की भाँति इसे भी 'वाद' शब्द से विभूषित करना उचित है ? यौन-आकर्षण से सिक्त, ऐहिक, अश्लील कविता निश्चय ही समाज का अहित करेगी। इसके अतिरिक्त नग्नता में दूसरे शब्दों में वीभत्सता में सौन्दर्य कहाँ ! साहित्य का आदर्श सत्य शिव और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करना है। नग्नवादी साहित्य सौन्दर्य और शिव की अवहेलना करता है। अतएव ऐसा साहित्य समाज़ के लिए नितान्त बर्जित तथा अग्राह्य है।

राष्ट्रीय चरित्र के विनाश का मूल कारण नग्नवादी साहित्य ही है। किसी कवि की निम्नलिखित धारणा वस्तुतः सत्य ही है :—

'निन्दनीय है मित्र, नग्नतावाद।
यहीं सब तो कर रहे, आज राष्ट्र अवसाद।'

हमारा भारतीय साहित्य अपने विकास के प्रारम्भिक काल से ही आचारवाद का समर्थक है। वेदों में आचार सम्बन्धी अनेक मन्त्र हैं। भारतीय दार्शनिकों द्वारा आश्रम-व्यवस्था तथा वर्ण व्यवस्था आदि का निर्धारण वैयक्तिक और सामाजिक आचार एवं चरित्र निर्माण हेतु ही किया गया था। स्मृतियों, रामायण, महाभारत आदि में आचार शास्त्र का पूर्ण विवेचन है। पुराण भी आचारवाद के पूर्ण समर्थक हैं। इस प्रकार भारतीय साहित्य प्रारम्भ से ही आचारवाद का पूर्ण प्रतिपादन करता है। वस्तुतः आचार पर ही मनुष्य का मनुष्यत्व प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में आचार परम्परा का सदा ही पूर्ण निर्वाह हुआ है। अतएव इस दृष्टिकोण से नग्नवाद का भारतीय साहित्य में कोई स्थान नहीं है। भारतीय आचारवाद तो परस्त्री के मुख देखने में पाप बताता है। नग्नवाद 'यदि सुन्दरी देखो तो टूट पड़ो' का समर्थन करता है। इस प्रकार नग्नवाद भारतीय आचार-परम्परा के नितान्त प्रतिकूल है। उसे भारत के आदर्श पूर्ण, नीतिपूर्ण, मर्यादापूर्ण तथा आचार पूर्ण साहित्य में स्थान देना उचित नहीं है। भारतीय साहित्य में पर नारी की ओर दृष्टिपात करना वर्जित है। नैषधीय-चरित्र के छटवें सर्ग में श्लोक है—

'निमीलन स्पष्टविलोकनाभ्यां कदर्थितस्ताः कलयन्कटाक्षैः।
स रागदर्शीव भृशं ललज्जे स्वतः सतां ह्रीः परतोऽतिगुर्वी॥

नल अदृश्य रूप में दमयन्ती के अन्तःपुर में पहुँच जाते हैं। वहाँ अनेक रमणियाँ मुख खोले घूम रही हैं। नल उन्हें यदि खुली आँखों से देखते हैं, तो पर-नारी दर्शन का पाप उन्हें कदर्थित करता है। यदि आँखें बन्द करते हैं तो स्पर्श का भय रहता है। इसलिए वह अर्धमुकुलित नेत्रों से देखते हैं। ऐसा करते हुए भी उन्हें लज्जा आती है। सज्जनों को अपने आप ही अपराध के विचार से अधिक लज्जा होती है। अतः हमारे भारतीय साहित्य में जहाँ नारी की ओर खुले अथवा अधखुले नेत्रों से देखना भी वर्जित है, नग्न-नारी-सौन्दर्य-चित्रण को कैसे

सहन किया जा सकता है। नारी में अलौकिक देवत्व निहित है। अपने निष्काम एवं आदर्श मातृत्व से वह सदैव लोक-पूज्या रही है। पत्नी रूप में भी उसकी सुशीतल और शान्तिमयी छाया पुरुष के लिए एक अमोघ वरदान है। वह केवल पुरुष की तुष्टि का साधन नहीं, वरन् उसकी मङ्गलाकाङ्क्षिणी सहचरी है। उसके पातिव्रत धर्म में मानव और विश्व की चिरशान्ति प्रतिष्ठित है। यशोधरा के शब्दों में एकान्तनिष्ठ, तपस्विनी, पतिव्रता नारी की मङ्गलाकाँक्षा देखिए—

'जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी नहीं इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से ?
आज अधिक वे भाते'
सखि, वे मुझसे कहकर जाते ॥'

—मैथिलीशरण—यशोधरा

जहाँ भारतीय नारी का ऐसा निर्मल एवं उज्वल चरित्र हो तथा लज्जा स्वाभाविक भूषण हो, जहाँ पातिव्रत धर्म सर्वस्व हो, वहाँ नारी का लज्जा-अनावरण नारी अपमान नहीं अपितु भारतीय संस्कृति का अपमान होगा। अतएव नग्नवाद को भारतीय साहित्य में कोई स्थान नहीं। कालिदास को नग्नवाद के एक क्षणिक स्पर्श से कुष्ठ रोग ने ग्रस लिया था। कवि नाथूराम शंकर को अपनी समस्त नग्न और अश्लील रचनाएँ परलोक के स्मरण मात्र से अग्नि को समर्पित करनी पड़ी थीं। अतः नग्नवादी आदर्शहीन निम्नकोटि का साहित्य है। साहित्य में इसे कोई महत्व प्रदान करना साहित्य को कलंकित एवं कलुषित करना है।

नग्नवाद के समर्थकों का कथन है कि साहित्य में सभी विषय ग्राह्य हैं। साहित्य किसी नियन्त्रण अथवा बन्धन को स्वीकार नहीं करता है :—

'रम्यं जुगुप्सित मुदारमथापि नीच—
उग्रं प्रसादि गहन विकृतं च वस्तु ।
यद्वाप्यवस्तु कवि भावक भाव्यमान
तन्नास्ति यन्नरस भावमुपेति लोके ।'

अर्थात् संसार में कोई भी विषय हो, रम्य हो, जुगुप्सित हो, उदार हो, नीच हो, उग्र हो, प्रसाद पूर्ण हो, गंम्भीर हो, विकृत हो अथवा अवस्तु हो, पर

ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो कवि और भावुक की प्रतिमा का संसर्ग पाकर एक विशेष प्रभा से प्रकाशित न हो जाए। अतएव साहित्य में नग्न तथा अश्लील रचनाएँ भी अपना अलौकिक सौन्दर्य रखती हैं। यदि कलाकार नग्न रचनाओं में अनुपम काव्य सौन्दर्य का समावेश कर सकता है, तो ऐसे साहित्य को अवश्य स्थान मिलना चाहिए। डाक्टर देवराज उपाध्याय का कथन है कि—'जो लोग साहित्य में अश्लीलता का प्रश्न उठाते हैं, उनके मन में शायद यह रहता है कि अमुक विषय का वर्णन अश्लील है। पर मेरे जानते इस प्रश्न को वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से नहीं देखकर पाठक की ओर उस पर पड़े प्रभाव की दृष्टि से देखना चाहिए। लेखक बड़े आदर्शों की बातें कर सकता है, पर फिर भी उसके वर्णन की रीति ऐसी मजेदार हो सकती है कि पाठक पर अवांछनीय प्रभाव पड़े। × × × देव मन्दिरों को देखिए जहाँ पर शिवजी की मूर्ति एक अङ्ग विशेष रूप में स्थापित रहती है पर वहाँ का वातावरण ऐसा रहता है कि दर्शकों की उदात्त वृत्तियों को ही जगाने का अवसर रहता है, अनुदात्त को नहीं। × × × अतः मेरा स्पष्ट मत है कि साहित्य के लिए कोई चीज बर्जित नहीं, तो नग्नता क्यों होने लगी।'

अन्य महानुभावों का कथन है कि नग्न-चित्रण साहित्य में अनादि काल से होता आया है। साहित्य में ही नहीं मूर्तिकला और चित्रकला में नग्न मूर्तियों और नग्न चित्रों की प्रचुरता है। एक सज्जन तो यहाँ तक कहते हैं कि 'जिस प्रकार अपनी पुत्री का विवाह करते समय कोई कलुषित भावना हमारे मन में नहीं उठती कि उसे किसी अपरिचित की शय्या पर रति-क्रीड़ा के लिए सौंप रहे हैं, उसी तरह 'नग्न चित्रण' से हमें आतङ्कित नहीं होना चाहिए नग्नवाद के समर्थकों के मत पर विचार करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नग्न चित्रण आधुनिक हिन्दी साहित्य में सहसा नवीनतम वस्तु नहीं हैं। संसार के सभी देशों, सभी जातियों में साहित्यकला, चित्रकला, मूर्तिकला आदि के माध्यम से नग्नता की अभिव्यक्ति की गयी है। प्राचीन यूनानी देवताओं की प्रायः अधिकांश मूर्तियाँ नग्न हैं। हमारे भारत में भी जैनों में दिगम्बर (नग्न) साधुओं को विशेष रूप से समादृत किया जाता है। यही नहीं नग्न साधुओं (नागाओं) का एक विशेष साधु सम्प्रदाय होता है। लोगों का कथन है कि

नग्नता में सौन्दर्य पवित्रता, सरलता आदि स्वाभाविक गुण होते हैं। शिशु की नग्नता में वासना की दुर्गन्ध नहीं होती है। यूरोपीय साहित्य में भी एक विशेष युग में नग्नता को पवित्रता, सरलता, निर्दोषिता आदि का प्रतीक समझा गया। वर्डस्वर्थ ने मिल्टन को इसीलिए 'Pure as the naped heavens' कह कर पुकारा। अतएव नग्नता में कामुकता और बासना की छाया देखना हमारी विचार-शैली का दोष है।

कतिपय विद्वान कामवासना को क्षुधा एवं पिपासा की भाँति प्राणीमात्र की सहज वृत्ति मानकर नग्नवाद की स्वाभाविकता का प्रतिपादन करते हैं। यह मत आस्ट्रियन विद्वान दार्शनिक फ्रायड के सिद्धान्तों पर अवस्थित दिखाई देता है। फ्राइड के मतानुसार यौन-प्रवृत्ति मानव-मन की मूल परिचालिका है। इस सैक्स-भावना का विकास अति सुन्दर ढंग से होता है। विरुद्ध लिङ्गधारी जीवों के स्वाभाविक आकर्षण का विश्लेषण देखिए :—

'The son when quite a little child, already pegins do to develop a peculiar tenderness towards his mother, whom he looks upon as his own property, regarding his father in the light of a rival who disputes this sole possession of his, similarly the little daughter sees in her mother some one who disturbs her tender relation to her father and occupies a place which she feels she hlerself could very well fill.'

अर्थात् पुत्र शिशु अवस्था में एक विशेष कोमलता के साथ माता को अपनी सम्पत्ति समझने लगता है और पिता को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझता है। उसी प्रकार पुत्री माता को प्रतिद्वन्द्वी समझकर पिता को अधिक प्रिय होती है। इस प्रकार फ्राइड की दृष्टि में सारी सृष्टि में यौन-प्रवृत्ति की ही व्यापकता है।

फ्राइड का कथन है कि मानव में यौनतृष्णा की भावना अनादि काल से ही है। प्रारम्भ में मानव इस सहज वृत्ति को स्वतन्त्र रूप से शान्त करता था। तदनन्तर जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया, यौन-प्रवृत्ति के खुले प्रदर्शन को सामाजिक दृष्टि से निन्दनीय एवं अनैतिक समझा जाने लगा। फलतः मानव की

इस स्वाभाविक वृत्ति के मनोवेगों का दमन होने लगा। ये मनोवेग सर्वथा विलीन नहीं होते अपितु सचेत मन के अवचेतन भाग में स्वभावतः संचित होने लगते हैं। स्वप्न तथा जागरण-अवस्था में दमित यौन वासनाओं में विस्फोट होने लगता है। अतएव प्रत्येक देश अथवा जाति के साहित्य में नग्न चित्रण सर्वथा ही रहा है। फ्राइड की दृष्टि में समस्त कलाएँ अवचेतन के विस्फोट मात्र हैं।

फ्राइड के उपर्युक्त कथन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नग्नवाद की एक मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि है। आधुनिक मनोविज्ञान-शास्त्रियों ने मानव मन को चेतन और अवचेतन दो भाँगों में विभक्त कर दिया है। उनकी दृष्टि में चेतन की अपेक्षा अवचेतन अधिक महत्वपूर्ण है। चेतन मन के मनोवेग सामाजिक औचित्य-प्रतिबन्धों के कारण दमित होकर मन के अवचेतन भाग में पड़ जाते है। ये दमित वासनाएँ अवसरानुकूल कला के रूप में प्रस्फुटित होती हैं। अतएव ये दमित भावनाएँ नग्नवाद साहित्य की प्रेरक शक्ति कही जा सकती हैं।

जीव-विज्ञान-विशारदों का विचार है कि प्रकृति का एकमात्र सत्य सृजन है। पुरुष और नारी इस सृजन के उपादान हैं। पुरुष-कीटाणु प्रेरक (Ketabolic) और स्त्री-कीटाणु ग्राहक (Anabolic) होते हैं। दोनों प्रकार के कीटाणुओं का मिलन ही सृजन का साकार रूप है। वस्तुतः पुरुष और स्त्री के कीटाणु पूरक, पूर्य की अवस्था में हैं। उनमें संयोग की स्वाभाविक प्रवृत्ति विद्यमान है। पुरुष और स्त्री के रहस्यमय प्रेम की कहानी ही इन कीटाणुओं का पारस्परिक आकर्षण है। अतएव कामवासना स्त्री-पुरुष की जीव-वैज्ञानिक आवश्यकता है। इस दृष्टिकोण से साहित्य में नग्नवादी साहित्य का समावेश स्त्री-पुरुष की एक आवश्यकता की पूर्ति करता है।

अन्य पाश्चात्य मनोविज्ञान विशारदों ने भी यौन भावना को क्षुधा की वृत्ति के समान जन्म-जात माना है। डाक्टर मैकडूगल के कथनानुसार बालक में यह भाव लगभग ८, ९ वर्ष की आयु में अंकुरित हो जाता है। डाक्टर हैवलोक ऐलिक के मतानुसार भी यौनि भावना की समस्या एक महत्वपूर्ण समस्या है। जेम्ल ने भी कामुक वृत्ति को समस्त जीवों में पूर्ण व्यापक माना है। बिल ड्यूरेन्ट नर-नारी के पारस्परिक आकर्षण को अन्य भावों की तुलना में अधिक व्यापक मानते हैं। इन सब मतों का निष्कर्ष यह है कि सारी सृष्टि

नर-नारी की रंगस्थली है । नारी-नर की और नर-नारी के आकर्षण के आधार मात्र हैं । नारी, नर के अभाव में अपूर्ण है और नर-नारी की अप्राप्ति में अपूर्ण । दोनों पूर्णता की ओर प्रयत्नशील हैं । शिशु उसी पूर्णता का प्रतीक है । सृजनेच्छा सर्वत्र विद्यमान है । अतः सांसरिक जीवन नर-नारी के आकर्षण-विकर्षण तथा संयोग-वियोग आदि से पूर्ण-रूपेण व्याप्त है । काम-वासना अखिल जीवधारियों की मूलगत वृत्ति है ।

हमारे भारतीय विद्वानों तथा दार्शनिकों आदि ने भी कामवृत्ति का पूर्ण विवेचन किया है । उन्होंने काम और कामुकता में अन्तर माना है । कामदेव को अनंग कहकर उन्होंने काम की जगत्-व्यापीय सत्ता को स्वीकार किया है । मन्मथ, काम का पयार्य है । मन को मथ डालने की एवं विकृत कर देने की अभेद्य शक्ति के कारण ही काम का मन्मथ नाम सार्थक है । जनश्रुति है— इस विषय का सर्व-प्रथम विवेचन शिवजी के अनुचर नन्दिकैश्वर द्वारा किया गया । तदनन्तर उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ने इस विषय पर साङ्गोपाङ्ग रूप से प्रकाश डाला । इसके पश्चात् वाभ्रव्य, चारायण, सुवर्णनाभ, घोटकमुख, गानदीप, गोणिकापुत्र दत्तक और सुकुमार इत्यादि विद्वानों ने काम के एक-एक अंग पर पूर्ण विचार किया । वात्सायन ने तो कामशास्त्र के एक अलौकिक ग्रन्थ का प्रणयन किया । उहोंने काम की व्याख्या अनुपम ढंग से की ।

'काम ही प्रेम है, काम ही सुख है । × × × पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के योग का नाम काम है ।'

वात्सायन ने काम की प्रवृत्ति को जन्म जात माना । उन्होंने काम शान्ति को जीवन का एक अनिवार्य तत्व माना । क्षुधा-निवृत्ति की भाँति काम-निवृत्ति को भी उन्होंने आवश्यक समझा । किन्तु उन्होंने कामतृप्ति की सीमा पत्नी तक ही रक्खी । इसीलिए उन्होंने ब्रह्मचर्य-व्रत को कामसिद्धि का सर्वोत्तम साधन माना । यही कारण है कि 'काम' को मानव-जीवन का उद्देश्य समझा गया । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अनुसार 'काम' को मोक्ष की प्रथम सीढ़ी अथवा पूर्वचरण समझा गया । साधारणतया नर-नारी के स्वाभाविक बन्धन को काम की संज्ञा दी गयी । रति काम का साधन ठहराया गया । काव्य में रति ने शृङ्गार-रस के स्थायीभाव का रूप धारण कर लिया । वस्तुतः नर-नारी के पारस्परिक प्रेम की भावना का

नाम रति है। शृङ्गार-रस को रस सम्राट सम्बोधित किया गया। नर-नारी अथवा नायक-नायिका शृङ्गार-रस के आलम्बन-आश्रय ठहराये गये। अतएव हमारे भारतीय साहित्य में आदिकाल से नर-नारी का पारस्परिक प्रेम का चित्रण प्रचुरता से मिलता है। संस्कृत के लगभग सभी ग्रन्थों में शृङ्गार-रस का बोलबाला है। कहीं-कहीं तो शृङ्गार-चित्रण मर्यादा की सीमा का अतिक्रमण कर गया है। ऐसे स्थलों पर नग्नवाद की हमें पूर्ण झाँकी होती है। महाकवि कालिदास भी इस दोष से अछूते न रह सके। कालिदास के कुमार सम्भव, अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, श्री हर्ष के नैषध दण्डी के दशकुमार चरित, बाणभट्ट की कादम्बरी, हाल की गाथा सप्तशती, जयदेव के गीत-गोविन्द, भर्तृहरि के शृङ्गारशतक, पण्डितराज जगन्नाथ के भामिनी विलास आदि संस्कृत ग्रन्थों में यत्र-तत्र अश्लीलता पूर्ण रूपेण लक्षित होती है। स्वच्छन्द प्रेम चित्रण नग्नवाद के अन्तर्गत ही आ सकता है।

संस्कृत हिन्दी की जननी है। संस्कृत की सभी परम्पराएँ हिन्दी को उत्तराधिकार स्वरूप में प्राप्त हुई हैं। अतः संस्कृत के कवियों का परवर्ती हिन्दी कवियों ने पूर्ण रूपेण अनुसरण किया। बिहारी की शृङ्गार-भावना संस्कृत कवि जयदेव की प्रेम-भावना का ही प्रतिविम्ब मात्र है। उनके अश्लील-चित्रण में जयदेव की मूल प्रवृत्ति सुस्पष्ट लक्षित होती है। जयदेव "यदि हरिस्मरणे सरसं मानो विलास-कलासु कुतूहलम्' कहकर अपने हार्दिक उदगार व्यक्त करते हैं, तो बिहारी "तन्त्रीनाद कवित्तरस सरसं राग रति रंग" कहकर पूर्ण रति को जीवन का परमलक्ष्य मानते हैं। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश की छाया भी हिन्दी काव्य पर पूर्ण रूपेण पड़ी है। यद्यपि हिन्दी काव्य का प्राथमिक विकास भक्ति प्रेरित था, तद्यपि वाह्यरूप में शृङ्गारपूर्ण भावनाएँ पूर्णरूप से परिलक्षित होती हैं। मैथिल कोकिल विद्यापति के काव्य में कृष्ण-राधा ने साधारण नायक-नायिका का रूपधारण कर लिया है। उसमें कामुकता एवं अश्लीलता की सुस्पष्ट झलक है। तदनन्तर नखशिख-वर्णन में कवि औचित्य का अतिक्रमण कर गये। संस्कृत के नायिकाभेद ने हिन्दी कवियों की विचार-धारा को विकृत कर दिया। फलतः रीति-काल में शृङ्गार-रस का नग्न-चित्रण पूर्णरूप से दिखाई देता है। भक्ति-काल के सूर आदि कवियों में भी विद्यापति की भाँति

कहीं-कहीं शृङ्गार ने अश्लीलत्व का रूप धारण कर लिया है—

गगन गरजि घहराइ, जुरी घटा कारी।
पवन झकझोर चपला चमकि चहु ओर।
सुवन तन चितै, नन्द डरत भारी।
कहौ वृषभानु की, कुँवरि सों बोलिकै।
राधिका कान्ह घर लिये जारी,
दोउ घर जाहु संग, नभ भयो स्याम रंग
कुँवर गह्यो वृषभान बारी।
गये वन-घन ओर, नवल नन्द किसोर
नवल राधा नये कुंजभारी,
अंग पुलकित भये, मदन तिन-तन जये।
सूर प्रभु स्याम बिहारी।

रीतिकाल में अश्लीलता नग्न रूप में दिखाई देती है। कारण विलासी मुसलमान बादशाहों के दरबार में साकी, शराब, जाम आदि का समावेश हुआ। उन्होंने शृङ्गार-पूर्ण रचनाओं का संरक्षण किया। फलतः परम-पुरुष कृष्ण और मायादेवी राधिका, आगे चलकर कामुक, विलासी, एवं उन्मादित साधारण नायक-नायिका के रूप में ग्रहण किये जाने लगे। हिन्दी कविता 'स्वान्तः सुखाय' न होकर 'स्वामिनः सुखाय' होने लगी। कवि छिप-छिपकर नायक-नायिकाओं का गुप्त मिलन कराने लगे।

नन्दलाल गयो तित ही चलि कै, जित खेलति बाल अलीगन में।
तहाँ आपु हीं मूँदें सलोनी के लोचन, चोर मिहीचनि खेलन में।
दुरि वे को गईं सिगरी सखियाँ, मतिराम कहै इतने छिन में।
मुसकाय कै राधिका कंठ लगाय, छिप्यौ कहूँ जाय निकुंजन में।
—मतिराम कृत रसराज

यही नहीं उस काल में नारी केवल भोग का साधन समझी गयी। कवियों ने उसे निर्लज्ज कामातुर नारी के रूप में देखा। प्रवीणराय के उद्धरण द्रष्टव्य हैं:—

१—सैंन कियो उर से उर लाय के पानि ;
दू हूँ कुच सम्पुट कीने ।
२—बैठि परयंक पै निसंक ह्वे के अंक भरि ।
करोधी अधरपान मैंने मत मिलायौ ।

फारसी साहित्य का सर्व-प्रथम बादशाहों के दरबार में पूर्ण प्रभाव पड़ा । तदनन्तर साधारण जनता भी शृङ्गार-रस में अवगाहित हो अपना विवेक खो बैठी । फलतः समाज के नैतिक बन्धक शिथिल हो गये । संकोच, शील, दमन, गोपन आदि सभी विलीन हो गये । जनसाधारण की मनोवृत्ति विलास-पूर्ण हो गयी ।

'ऊधम ऐसो मचो ब्रज में सबै रंग तरंग उमंगनि सींचैं ।
त्यों पद्माकर छज्जनि छातनि छबै छिति छाजतीं केसरि कीचैं ।
दै पिचकी भजी भीजी तहाँ परे पीछे गोपाल गुलाल उलींचैं ।
एक ही संग इहयाँ रपटे सखी ये भए ऊपर हौं भई नीचे ॥'

—पद्माकर-पंचामृत

उरोज-स्पर्श नग्न-चित्रण ही कहा जाएगा ।

'लरिका लैवे के मिसुन लंगर मो ढिग आई ।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाइ ।'

× × × ×

'बैठी एक सेज मैं सलौनी मृगनैनी दोऊ,
आय तहाँ पीतम सुधा समूह बरसै ।
कवि 'मतिराम' ढिग बैठे मन-भावन जू,
दुहूँ न के हीय अरिविन्द मोद सरसै ॥
आरसी दै एक सों कह्यौ यों निज मुख देखौ ।
जामें विधु-वारिज-विलास वर दरसै ।
दरप सों भरी वह दरपन देख्यौ जो लौं ।
तौ लौं प्रानप्यारी के उरोज हरि परिसै ।''

—मतिरामकृत-रसराज

रीति-कालीन कवियों ने शृङ्गार-रस का साङ्गों-पाङ्ग चित्रण किया । वह

युग-भोग और विलास का युग था। जन-साधारण की मनोवृत्ति विलास-पूर्ण थी। अतएव रीति-काल के कलाकारों ने औचित्य, अनौचित्य का किञ्चत्-मात्र भी ध्यान न कर शृङ्गार-रस में पूर्ण-रूप से विमुग्ध होकर नग्नवाद का चित्रण किया। उन्होंने अनियंत्रित रूप से शृङ्गार के उन्मादक मधुकुम्भ का रसपान कराया। युवतियों के माँसल शृङ्गार की अनूठी अभिव्यञ्जना कर जन-जन में कामुकता और विलासता के भाव अंकुरित किये। फलतः उस युग पर काम वासना का रंग छा गया। युवक युवतियों की सौन्दर्य-निधि को देखकर सर्वस्व-समर्पण करने के लिए तैयार हो गये।

'कुचन बाँधि कर भुज उलटि खए सीस पट डारि।
का को मन बाँधे न यह जूरो बाँधनि हारि।"

—बिहारी

उरोज, नितम्ब आदि को देलकर लोग अपनी सुध-बुध खोने लगे—

'स्तन, मन, नैन, नितम्ब को बड़ो इजाफा कीन।'

—बिहारी।

अन्त में निलज्जता सीमा का अतिक्रमण कर गयी। पुरुष पुरुषत्व के विरुद्ध कार्य करने लगे—

परयौ जोरू बिपरीत रति, रूपी सुरत रनधीर।
करति कुलाहलु किंकिनी, गह्यौ, मौन मंजीर।
विनती रति विपरीत की करी परसि पिय पाइ।
हँसि अन बोलें ही दियौ उत्तरु दियौ बताइ।।

—बिहारी

× × × ×

'पलंग पै उमंग, अंग-अंग भरी।
रंग-रंग वसन सँवारि पैन्हैई सुच पै।
मोतिन के छरे परे कानन में सानदार।
हीरन के हार बैना बेदनी ससच पै।
ग्वाल कवि कहैं तहाँ राजत रसिक लाल,
ख्याल में विसाल मन आयौ अति उचपै।

नैन खगे प्यारी ओर ओठ लगे प्याले कोर,
जीम लग्यो रति जोर कर लग्यो कुच पै।'

—ग्वाल-कवि

× × × ×

'सुरतान्त वर्णन' में विपरीत रति का नग्न-चित्रण देखिए :—

'करि रतिरीत विपरीत में रचाई आज अहा,
अहा कैसो लच्यौ प्यारी को सुलंक है।
मसक भरत-भरत ससकी करत-करत,
रस की नदी में लीन ह्वै गई निसंक है।।
ग्वाल कवि छाती पर छपकि छरी सी गई।
कैं थर परी सी विसुधि भयो अंक है।
मेरौ उर मखमल मृदुल विछौना पाय,
सोयौ मनौ सरद की पून्यौ को मयंक है।।'

—ग्वाल कवि

रीति-काल के कवियों की दृष्टि नायिका के सभी अङ्गों पर पड़ी है। कहीं कवि उरोजों को देखकर सांसें भरने लगता है तो कहीं ठोड़ी के गड्ढे में गिर जाता है। कहीं केशों के जूड़े में कवि का मन बँध जाता है। नायिका की विविध क्रियाओं के चित्रण में कवियों ने अनूठी कल्पनाओं की उड़ान भरी है। वस्तुतः नायिकाओं के क्रिया-कलायों के वर्णन ने अद्भूत चमत्कार प्रदर्शित किया है। नग्नवाद की यह परम्परा दीर्घ-काल तक चली। भारतेन्दु जी ने भी कुछ अंशों में इस परिपाटी का निर्वाह किया।

आधुनिक युग में हिन्दी काव्य की विचार-धारा ही परिवर्तित हो गयी। शताब्दियों से परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ी हुई भारतीय-जनता ने अपने अधः पतन का अनुभव किया। गौरव-शालिन भारत वसुन्धरा के अतीत के गौरव का स्मरण कर भारतीय हृदय फूट-फूट कर रोने लगा। देश-वासियों को देश के आर्थिक शोषण का ज्ञान हुआ। हिन्दी कवि भी रीति-कालीन मनोवृत्ति को पूर्ण-रूपेण तिलाञ्जलि देकर राष्ट्रीयता तथा सुधारवाद के स्वर अलापने लगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस युग के सृष्टा थे। उन्होंने देश-वासियों की विचार-धारा

को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा भारतीय समाज की विचार-धारा पूर्णतः परिष्कृत एवं परिमार्जित हो गयी। इतने समयांश में नग्न-धारा गुप्त सी हो गयी। छायावादी कविताओं के माध्यम द्वारा कुछ कवियों ने अपनी कुत्सित भावनाओं की अभिव्यक्ति की किन्तु प्रतीकों के आवरण तथा अव्यक्त-शैली की जटिलता के कारण ऐसे रचनाओं को प्रभाव रचयिताओं के अन्तपर्टल तक ही सीमित रहा। तदनन्तर प्रगतिवादी युग में यथार्थ-चित्रण को आश्रय मिला। चिरकाल से कुत्सित भाव विस्फोट की भाँति फिर व्यक्त होने लगे। वस्तुतः नग्न-नग्नवाद की झाँकी हमें इसी युग में होती है। मनोविज्ञान के प्रकाण्ड-पण्डितो का यह कथन कि, "साहित्य अतृप्त वासनाओं की पूर्ति का साधन है।" इस युग में अक्षरशः चरितार्थ होता है। आज यथार्थ-वाद की आढ़ में ऐसो अनेक रचनाएँ हो रहीं है जो अश्लीलता की सीमा का भी अतिक्रमण कर चुकी हैं। बड़े-बड़े कवि भी इस रोग के शिकार हो चुके है। निराली जी की एक कृति है—

'बाह्मन का लड़का मैं।
प्यार उसे करता हूँ।
जात की कहारिन वह।
मेरे घर की है पनिहारिन वह।
आती है होते तड़का।
उसके पीछे मैं मरता हूँ।
कोमल-सी काली।
वह, चाल नहीं उसकी मत वाली।
ब्याह नहीं हुआ, तभी भड़का।
दिल मेरा, मैं, आहें भरता हूँ।

इसी प्रकार पन्त जी की रचनाओं में यत्र-तत्र भी अश्लीलता के नग्न दर्शन होते हैं। पन्त जी किसी पनि-हारिन को पनघट पर गागर खींचते समय चोली के उभार के साथ युवती के दोनों उरोज रूपी-रसकलशों की कसमस क्रीड़ा को देखकर सहसा पुकार उठते हैं—

'खींचती उबहनी वह वर वस।
चोली से उभर-उधर कसमस।
खिचते सङ्ग युग रस-भरे कलश।'

स्वीकार करना पड़ेगा कि पन्त जी की यह यथार्थवाद की कविता अश्लीलता में रीतिकालीन कविताओं से कम नहीं है। 'पल्लव' में एक स्थल पर पन्तजी पुनः वैसी ही नग्न झाँकी कराते हैं—

'तरुणी प्रेम के भुज पाश में
आबद्ध थी आवेशशाली
नेत्र चुम्बित, अधर चुम्बित, भाल चुम्बित
युग कपोलों पर प्रिया के
प्रेम रस की मधुर वर्षा सी हुई।''

कहीं-कहीं पर नारी का चित्रण काम सूत्र के आधार पर किया गया है। नरेन्द्र शर्मा की 'फागुन की आधी रात' शीर्षक कविता देखिए—

''है रम्भा रही बछड़े से बिछुड़ी एक गाय,
थन भारी हैं दुखते भी हैं।
आता गजनेरी साँड, भटकता सड़कों पर चलता मठार,
क्या वही दर्द उसके भी है।
आरही किसी घर के झूठे वर्तन मलकर,
बद चलन कहारी थकी हुई।''

थकावट वर्तन मलने से या और किसी कारण से—यह शर्मा जी ने गुप्त रक्खा है फिर भी नग्नवाद साकार रूप में सुस्पष्ट दिखाई दे रहा है।

आरसी प्रसादसिंह, अंचल आदि तो नग्नवाद के पूर्ण समर्थक हैं। वे, प्रेम विलास तथा वासना के उत्तेजनात्मक, उन्मादक एवं नग्न गीत गाने में ही काव्य की सार्थकता समझते हैं। यौन वृत्ति पर अंचल को संयम की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तक कि उनकी वासना पाशविकता की सीमा से पार हो जाती है। 'मधूलिका' में अंचल के उद्गार देखिए :—

'फूल उसास प्रदोलित, वक्षःस्थल जब उठ उठ जाता।
पावक सी इस रूप घटा को, कौन विलोक अघाता।

गमक रही मदभरी मंजरी-सी-मधुमूर्ति नवेली ।
गोरे गोरे अंग में हाला, हाला हल सी अलिवेली ।।
कहाँ मिलेगा फिर यह बाँका-प्यारा-यौवन ?

शृङ्गार चित्रण ने व्यभिचार चित्रण का रूप धारण कर लिया है—

'आज सुहाग हरूँ मैं किसका, लूटूँ किसका यौवन ?
किस परदेशी को बंदी कर, सफल करूँ यह वेदन ?'

× × ×

तुम क्या जानो इस कम्पन में कितती मादकता है ?
कितना है उन्माद अरे कितनी घातक कविता है ?

यही नही अपने कुपथ पर डटे रहने के लिए अंचल का आग्रह देखिए :—

'सभी यहाँ से कफन लपेटे जाते किन्तु नग्न आते।
वहाँ सुना सब यौवन अनुभव रंग रूप सुख छिन जाते ।'

भगवतीचरण वर्मा की निम्नलिखित रचना नग्नवाद की पोषक ही कही जाएगी ।

'हम दीवानों की क्या हस्ती, कल आज यहाँ, कल वहाँ चले ।
मस्ती का आलम साथ चला, हम धूल उड़ाते जिधर चले ।'

इस प्रकार हम देखते हैं नग्नवाद नग्न नारी-सौन्दर्य-चित्रण का पोषक है, यौन वृत्ति पर इसमें कोई नियन्त्रण एवं संयम नहीं। काम वासना का कुत्सित, भीषण एवं नग्न प्रदर्शन, नग्नवाद का उद्देश्य है। मर्यादा, लज्जा, शीलता, सच्चरित्रता, नीति आचार, धर्म आदि को इसमें कोई स्थान नहीं है। कवि का उद्देश्य स्वच्छन्द रूप से कामवृति की तृप्ति करना है। उद्‌गारों में वासना को उभारने, काम को उत्तेजित करने के लिए तीव्र एवं प्रवल उक्तियाँ रहती हैं। नग्नवाद साहित्य के आदर्श वाक्य 'सत्यं, शिवं सुण्दरम्' का घोर विरोधी है। हाँ, कुछ, अंशों में वस्तुवाद का आवरण लेकर सत्य की प्रतिष्ठा करने का कोरा प्रयास करता है ।

उपर्युक्त विवेचन से पूर्ण स्पष्ट है कि नग्नवाद समाज के लिए नितान्त अहितकर है । आस्ट्रियन मनोविज्ञान-पण्डित—फ्रायड, युंग, आँडलर आदि की

तथाकथित खोजों के अनुसार नग्नवादी साहित्य का मूलाधार मानव-मन की यौन-प्रवृत्ति ही सिद्ध होती है। सचेत मन के अवचेतन भाग में दमित मनोवेगों की विस्फुटित अभिव्यक्ति नग्नवाद है। यही कारण है कि विश्वसाहित्य में शृङ्गार रस का एक छत्र राज्य हैं। नग्न भावनाओं की अभिव्यक्ति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मूलतः यही है। नग्नवादी साहित्य की रचनाओं का आधार वैज्ञानिक, यह ध्रुव एवं निर्विवाद सत्य हैं कि इस प्रवृत्ति का कल्याण नहीं है। ऐसी रचनाएँ समाज का पतन कर सकती हैं, उत्थान नहीं।

सूफीवाद

सूफीवाद की व्याख्या—

सूफीवाद मुसलमानों का एक धार्मिक तत्वज्ञान है । भिन्न-भिन्न विद्वानों ने इसकी भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। तसव्वुफ सूफीवाद का समानार्थी अथवा पर्यायवाची शब्द है । अबूबकर शिवली[1] के कथनानुसार उस पूर्ण विरक्ति का नाम तसव्वुफ है जो लोक परलोक में ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य से अनुराग न रक्खे । अल गजाली[2] के विचारानुसार ईश-ध्यान में निरन्तर तल्लीन रहना तथा मानवसमाज के साथ शान्त जीवन यापन करना सूफीधर्म का पालन करना है । । अबुल हसन अलनूरी[3] के अनुसार सूफी धर्म अखिल विश्व के प्रति घृणा और विश्वपति के प्रति प्रेम की गम्भीर धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति है। जुनेद[4] के मतानुसार ईशत्व की चेतना तथा स्वास्तित्व की समाप्ति ही तसव्वुफ है। अबू सईद के अनुसार ईश्वरीय विधि तथा निषेध में सन्तोष और दैवीय घटनाओं के समय सर्वस्व समपर्ण की भावना का परिचय देना ही सूफी धर्म है। एक अन्य विद्वान के अनुसार अमूर्त साधना ही सूफीमत है।

सूफीधर्म की उपर्युक्त व्याख्याओं एवं परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता हैं कि सूफीमत एक प्रकार का रहस्यवाद है जो इस्लाम सम्प्रदाय से सम्बन्ध

---

1. Abu Bakr Shibli has said; "Tasawwuf is renunciation. ie, guarding oneself against seeing 'outer than God' in both the worlds" (Islamic Sufism)

2. "To be a sufi," he said, "means to abide continuously in God and to live at peace with men······" (AL—Ghazzali the mystic)

3. "………Sufism was the expression of a profund religious feeling—hatred of the world and love of the lord" (A Literary history of the Arabs)

4. "Tasawwuf" said gunayd "is this : That God should make the die from Thysely and should' nake Thae live in him" (A Literary History of Arabs)

रखता है। सारी सृष्टि असंख्य आश्चर्यों से पूर्ण है। इन आश्चर्यों की अपर संज्ञा रहस्य ही है। मानव, मनु की सन्तान होने के कारण, सृष्टि के आदि से ही विचारशील एवं विवेकशील रहा हैं। अतः रहस्योद्घाटन मानव स्वभाव की स्वाभाविक जिज्ञासा है। रहस्योद्घाटन में मानव कहाँ तक सफल हुआ है, यह स्वयं मानव नहीं बता सकता है। यह प्रश्न उतना ही जटिल है जितना जटिल रहस्योद्घाटन। फिर भी मानव ने, विश्व के साधारण मानव ने इन रहस्यों के पीछे एक अव्यक्त शक्ति कल्पना की है। उस शक्ति का नाम ईश्वर है। अखिल विश्व में वही केवल सत्य है। विश्व के नाना पदार्थों में वही व्याप्त है। सारे प्राणियों का मूल स्त्रोत वही है। जगदाधार वही हैं। वह रूप, रेखा, तथा जाति से परे है। उसकी दृष्टि में बिना किसी धार्मिक भेदभाव के सारे मानव एक हैं। अतः बिना किसी धार्मिक भेदभाव के विश्व के सारे मानवों का ईश्वर एक है। हिन्दू, मुसलमान और ईसाई में कोई भेद नहीं है। इस प्रकार हिन्दू, मूसलमान और ईसाइयों के रहस्यवाद का प्रधान लक्ष्य एक है।

साधारणतः डाक्टर रामकुमार वर्मा के शब्दों में "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ अन्तर नहीं रहता है।"

सूफी रहस्यवाद का लक्ष्य भी जीवात्मा और परमात्मा अथवा ब्रह्म के महा मिलन का प्रयत्न है। सूफी मधुर प्रेम का याचक है। उसे न कुफ़्र से सम्बन्ध है और न ईमान से। उसकी दृष्टि में दोनों आडम्बर हैं। उसकी दृष्टि में ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं। वह तो भिन्नता में अभिन्नता देखना चाहता है। उसके निकट प्रेम ही साध्य तथा प्रेम ही साधक है। सूफीमत के विषय में एक सूफी कवि के उदगार कितने सुन्दर हैं ?

'मर्द आशिक़ रा न बाशद इल्लते,
आशिक़ां रा न देहे मिल्लते।
मजहबे इश्क़ अज हमा दीनहा जुदास्त,
आशिक़ रा मजहब व मिल्लत ख़ुदास्त।'

—ईरान के सूफी कवि

अर्थात् प्रेमी का सम्बन्ध सांसारिक बाधाओं से परे है। उसका न कोई धर्म है और न दीन। उसका सम्बन्ध केवल ईश्वर प्रेम से है।

सूफीवाद का का आविर्भाव :—

सूफी रहस्यवाद के विस्तृत विवेचन से पूर्व 'सूफी' शब्द के मूलस्रोत तथा उद्गम् पर विचार करना अधिक उपयुक्त होगा। 'सूफी' शब्द के स्रोत के विषय में विविध धारणाएँ हैं। अबू नस्र-अल सर्राज ने 'सूफी' शब्द का उद्गम् 'सूफ' शब्द बताया है जिसका अर्थ है ऊन। मुहम्मद साहब के पश्चात् जो फकीर ऊनी वस्त्र धारण करते थे, वे सूफी कहलाये। ये लोग ऊनी कम्बल धारण कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार एवं प्रसार करते थे, इसलिए, वे सूफी कहलाने। कुछ विद्वानों का मत है कि मुहम्मद साहब द्वारा मदीना में निर्मित मसजिद के बाहर 'सुफ्फ' (चबूतरे) पर जिन निराश्रित व्यक्तियों ने शरण पायी थी तथा जो अति दीन, सदाचारी दरवेश पवित्र जीवन व्यतीत करते हुए ईश्वर-आराधना में तल्लीन रहते थे सूफी कहलाये। कतिपय विद्वान इस शब्द की व्युत्पत्ति 'सफा' शब्द से मानते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है 'स्वच्छ'। अर्थात् जो लोग पवित्र और स्वच्छता का जीवन व्यतीत करते थे, सूफी कहलाये। कुछ लोगों का कथन है कि 'सूफी' शब्द का मूल स्रोत 'सफ्' (पंक्ति) है। उनका विश्वास है कि अन्तिम निर्णय के दिन खुदा उन व्यक्तियों को पृथक पंक्ति में खड़ा कर देगा जो पवित्र, उदार, महाशय तथा ईश्वर के परमभक्त हैं। कतिपय महानुभाव इस शब्द की व्युत्पत्ति 'सोफिया' शब्द से निकालते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ हैं ज्ञान। कुछ व्यक्ति अरब की 'सफ्फ' नामक जाति से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि 'सूफी' शब्द के उद्गम के विषय में कोई निश्चित एवं प्रमाणित धारणा नहीं है।

वस्तुतः 'सूफी' शब्द कोई अति प्राचीन शब्द भी नहीं है क्योंकि हिजरी सन् ३९२ में संग्रहीत सितह में सूफी का समानार्थी अरबी शब्द तसव्वुफ नहीं मिलता है, विभिन्न विद्वानों के अनुसार 'सूफी' शब्द का प्रयोग एवं प्रचलन ईसा की आठवीं-नवीं शताब्दी में मिलता है। अतएव निश्चित है कि इस शब्द का व्यावहारिक प्रयोग मुहम्मद साहब के देहावसान (सन् ६३२ ई०) के दो तीन शताब्दियों के पश्चात् हुआ है। यह सत्य एवं स्पष्ट है कि इस शब्द का व्यवहार

सर्व प्रथम ईरानी रहस्यवादियों के लिए हुआ। तदनन्तर सभी मुसलमान रहस्य-वादियों के लिए होने लगा।

सूफी विचारधारा के आविर्भाव का प्रश्न भी अति विचारणीय है। सन् ६०६ ई० में इस्लाम पैगम्बर मुहम्मद साहब को हेरा की गुफायें ध्यान की निमग्नावस्था में ईश्वरीय प्रेरणा मिली। फलतः उनके मुखारविन्द से स्वतः ही वाणी निसृत हुई। कुरान उसी का प्रतिफल है। तदनन्तर उन्होंने अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित कर दिया। मुहम्मद साहब की यह चिन्तना ही सूफीमत की चिन्तना का अवलम्बन बना। श्री चन्द्रवली पाण्डेय ने 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' में लिखा है कि 'कुछ सूफियों का कथन है कि सूफीमत का आदम में बीज बपन हुआ, नूह में अंकुर जमा, इब्राहीम में कली खिली, मूसा में विकास हुआ एवं मसीह में परिपाक और मुहम्मद में फलागम हुआ।'

मुहम्मद साहब का इस्लाम धर्म, बहुदेवतावाद, मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि की प्रतिक्रिया के रूप में खड़ा हुआ था। ईश्वरीय आस्था, प्रार्थना, उपवास (रोजा), दान (जकात) तथा मक्का की यात्रा इस्लाम धर्म के आवश्यक अंग माने गये। इन पाँचों अंगों में से सूफियों ने केवल तीन अंगों-ईश्वरीय-आस्था, उपवास और दान को अपनाया। मक्का की यात्रा की अपेक्षा, उन्होंने मानस यात्रा को विशेष महत्व दिया। उन्होंने ईश्वर को एक शासक के रूप में न देखकर प्रेमी के रूप में देखा। इस प्रकार सूफी विचारधारा का मूल उद्गम कुरान ही है, और सूफी धर्म को इस्लाम के धार्मिक तत्वज्ञान की संज्ञा ही दी जा सकती है। कुछ विद्वानों के अनुसार सूफी विचारधारा, इस्लाम धर्म की परम्परा, बुद्धि और रहस्य-प्रकाशन नामक त्रय धाराओं से पूर्ण प्रभावित है।

मुहम्मद साहब के पश्चात् चार खलीफा हुए-- अबूबकर, उमर, उस्मान और अली। इन चारों में अली सबसे अधिक सदाचारी, संयमी, विचारशील और कर्मनिष्ठ हुए। सूफियों ने यद्यपि चारों खलीफाओं में पूर्ण आस्था एवं श्रद्धा रक्खी किन्तु अली को उन्होंने विशेष श्रद्धा प्रदान की। उनको ईश्वर नियुक्त उत्तराधिकारी समझा। विरोधियों ने अली और उनके पुत्र हसन और हुसेन का निर्दयता से बध कर दिया। तदनन्तर इस्लाम धर्म के ईश्वरीय विश्वास अधिक दृढ़ हो गये। परन्तु कुरान पर आधारित अनेक सम्प्रदाय खड़े हो गये।

कुरान के अनुयायियों में पृथक एक स्वतन्त्र विचारधारा भी उठ खड़ी हुई। मुतजिली इसके जन्मदाता थे। इस धारा के ठीक विपरीत क्रियात्मकता तथा कर्मनिष्ठता में विश्वास रखने वाली एक अन्य धारा का जन्म हुआ जिसे सूफी विचारधारा कह सकते हैं। सूफी कर्मनिष्ठ संयमी, सरल तथा सदाचारी व्यक्ति थे। वे ऊनी वस्त्र धारण करते थे। विद्वानों का विश्वास है कि सूफियों को आचार-नीति की शिक्षा ईसाई संतों से मिली। सूफियों ने प्रेम को अपनी उपासना का आधार माना। उन्होंने कुरान में निहित धर्माचरण और ध्यान को विशेष महत्व दिया। कुछ विद्वानों का मत है सूफीवाद का आविर्भाव, मानीमत, न्योप्लेटोनिज्म (Neoplatonism), जोरोस्ट्रियनिज्म, बुद्धमत और भारतीय वेदान्तवाद के अद्भुत समन्वय से हुआ है। अधिकांश मुसलिम विद्वान इस विचार से सहमत नहीं है। वस्तुतः सूफीमत का अद्वैत एवं फना का सिद्धान्त शुद्ध भारतीय अद्वैतवादी सिद्धान्त है। एक अन्य विद्वान के कथनानुसार मुस्लिम तत्वज्ञान पूर्वी और पश्चिमी विचारों का सम्मिश्रण है जिसमें मुस्लिम सिद्धान्तों का अधिक प्रभाव है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि सूफीमत पर ईसाई धर्म, नास्तिकमत, न्योप्लेटोनिज्म, बुद्धमत तथा भारतीय अद्वैतवाद का पूर्ण प्रभाव है और सूफीमत का आविर्भाव इन पाँचों मतों के समन्वय से ही हुआ है।

सूफीवाद का विकास—

सूफीवाद की सर्वप्रथम झाँकी हमें अरब में मुहम्मद साहब के विरक्त अनुयायियों में हुई। तदनन्तर यह विचारधारा धीरे-धीरे सीरिया, मेसोपोटामिया, फारस आदि एशिया के देशों में फैल गयी। मिश्र और यूनान तक इससे पूर्ण प्रभावित हुए। फारस में सूफी अधिक फूले फले। घुल नून मिश्री, विस्काम के बायजीद, इब्नुलअरबी, जुनेन्द्र, अल गजाली, फरीदउद्दीन अत्तार, जिली और जलालउद्दीन रूमी आदि का फारस में सूफी प्रचार विशेष उल्लेखनीय है। फलतः सूफी-विचारधारा पूर्णरूप से व्याप्त हो गयी। ग्यारहवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक इन कवियों का प्रभाव देश-विदेश के कवियों पर भी पड़ा। जर्मन के रहस्यवादी कवि ऐकहर्ट, टौलर और सूसो पर सूफीमत की स्पष्ट छाप है। महाकवि दाँते के काव्य में भी इस व्यापक प्रभाव की पूर्ण झाँकी होती है। साधारणतया सूफीमत का विकास सभी देशों में हुआ किन्तु फारस में इसका

माधुर्य पराकाष्ठा पर पहुँच गया। भारत में मुसलमानों के आक्रमण के प्रारम्भ से सूफी सन्तों का प्रवेश हुआ। बारहवीं शताब्दी में भारत में सूफीमत के प्रचार एवं संस्थापन का इतिहास में उल्लेख है। भारत के विभिन्न धर्मों का सूफीमत पर भी पूर्ण प्रभाव पड़ा। सूफियों ने माला का प्रयोग बौद्धों से सीखा। जैन धम से अहिंसा के सिद्धान्त अपनाये। नाथ सम्प्रदाय से आसन और प्राणायाम सीखे। अनेक सूफी सन्तों ने भारतवर्ष का पर्यटन भी किया। फरीदउद्दीन अत्तार, तथा सादी आदि ने भारत से अनेक शिक्षाएँ प्राप्त कीं। धीरे-धीरे जब यहाँ मुसलमान बस गये तो सूफी सन्त भी बस गये। अबुलफजल ने आइने अकबरी में चौदह सूफी सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। वे निम्नलिखित हैं—

चिश्ती, सुहरावर्दी, हबीजी, तफूरी, कर्खी, सकती, जुनेदी, कांजरूनी, तूसी, फिरदौसी, जेदी, इयादी, अधमी, और हुबेरी।

तदनन्तर इनकी अनेक उपशाखाएँ फैलीं। इन सम्प्रदायों में चिश्ती, सुहरा-वर्दी, कादरी और नक्शबदी अति प्रसिद्ध हैं। ख्वाजा हसन निजामी के अनुसार सुहरावर्दी सूफी सर्वप्रथम भारत आये। उन्होंने सिन्ध को अपना प्रचारक्षेत्र बनाया। सैयद मुहम्मद हाफिज की खोज के अनुसार सर्वप्रथम चिश्ती भारत में आये। इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक ख्वाजा अब्बूअब्दुला चिश्ती थे। शहाबुद्दीन गोरी की सेना के साथ भारत में सर्वप्रथम प्रचार करने वाले सूफी सन्त मुइनउद्दीन चिश्ती सन् ११९३ ई० में आये। यह सूफी सन्तों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। अजमेर में इनकी दरगाह बनी है जिस पर प्रतिवर्ष मेला होता है। कादरी सम्प्रदाय के मूलप्रचारक शेख अब्दुलकादिर जीलानी कहे जाते हैं। यह बगदाद के निवासी थे। भारत में इस शाखा का प्रचार एवं प्रसार सैयद बन्दगी मुहम्मद गौरी द्वारा सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ। नक्शबंदियाँ सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक ख्वाजा वहाउद्दीन नक्शबंद थे। मुहम्मद बाकी बिल्लाह 'बेरंग' द्वारा इस शाखा का प्रचार भारत में हुआ। अहमद फारूखी 'सरहिन्दी' भी इसी शाखा के प्रसिद्ध सूफी सन्त थे।

इस प्रकार भारत में सूफीमत की विभिन्न शाखाएँ फूली फलीं। गुरुओं की कतिपय निजी विशेषताओं को छोड़कर इन सम्प्रदायों में कोई पारस्परिक मतभेद नहीं है। इन सम्प्रदायों का मूख्य उद्देश्य अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना था।

इस कार्य में सूफी साधकों को पूर्ण सफलता मिली । कारण-इन लोगों में इस्लामी कट्टरपन नहीं था । इन्होंने हिन्दुओं की अनेक बातों को अपनाया । हृदय की पवित्रता, आचरण की पवित्रता, ईश्वर के प्रति पूर्ण श्रद्धा, भ्रातृ-प्रेम विश्व की ओर यह लोगों का ध्यान आकर्षित करते थे । इनके उपदेश अति सरस और मनमोहक थे । यही कारण है कि आज भारत के दो- तिहाई मुसलमान किसी न किसी सूफी सम्प्रदाय से सम्बन्धित है ।

सूफीवाद की विवेचना—

भारत में सूफीमत के व्यापक प्रसार एवं प्रचार का मूल कारण सूफियों की ईश्वरीय आस्था तथा साधना पद्धति थी । सूफी संत सांसारिक पदार्थों से विरक्ति तथा ईश्वर से अनुरक्ति रखते थे । उन्होंने ईश्वर की प्राप्ति के लिए शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारिफत नाम की चार स्थितियाँ बतायी । प्रथम स्थिति में विस्मय, द्वितीय में विवेक, तृतीय में आभास और चतुर्थ में ईश्वर के सत्यरूप का साक्षात्कार होता है । सूफी की दैवीसत्ता में पूर्ण आस्था होती है । वह आस्था सीमित एवं संकीर्ण नहीं होती । उसमें सार्वभौमिकता एवं ससीमता विद्यमान रहती है । इसीलिए सूफी विश्वबन्धुत्व की भावना से पूर्ण होते हैं । सूफी के लिए गुरु का बड़ा स्थान है । उनका विश्वास है कि इस अन्धकार पूर्ण संसार में मङ्गलाकांक्षी तथा पथ प्रदर्शक है तो वह गुरु ही है । इस्लाम धर्म में पाँच कर्तव्य माने गये हैं—तौहीद (ईश्वर में पूर्ण विश्वास), सलात (प्रार्थना), रोजा (व्रत), जकात (दान) और हज (मक्का की यात्रा) इस्लाम के मूलाधार यही सिद्धान्त हैं । तौहीद सर इस्लाम धर्म की आधारशिला का निर्माण हुआ है । ईश्वर विधाता, नियन्ता तथा हितु है । सूफी इस तौहीद का सम्बल लेकर अपने पथ पर अग्रसर हुए । इसके अतिरिक्त सूफियों ने कतिपय अँशों में रोजा और जकात को भी अपनाया । सलात और हज को उन्होंने अपनी लक्ष्य-सिद्धि में अवरोध समझा । वह तो प्रेम के भूखे थे । अतः प्रेम को उन्हीने साधक तथा साध्य समझा ।

भारतीय सूफीमत अन्य देशों के सूफीमत से अपनी पृथक् विशेताएँ रखता है । यहाँ के सूफियों ने सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय से हठयोग की पूर्ण शिक्षा ली । इसीलिए उनके काव्य में स्थान-स्थान पर गोरखनाथ, गोपीचन्द तथा भर्तृहरि की

ओर संकेत करते हुए योग-साधना को श्रेष्ठ बताया है ।

'जो भल होत राज औ' भोगू । गोपीचंद नहिं साधत जोगू ।'

—जायसी-पद्मावत

नूर मुहम्मद ने अनहदनाद को सुनने का एकमात्र अधिकार सिद्ध पुरुष को बताया है ।

'नाद अनाहद अंनेद, सुनै अनाहद कौन ।
सिद्ध होइ अपने गन, सुनै अनाहद तौन ।'

—नूरमुहम्मद इन्द्रावती ।

[सूफियों ने भारतीय अद्वैतवाद को ग्रहण किया । इसीलिए सूफीमत में अद्वैतवाद की पूर्ण मान्यता है] इस्लाम धर्म एकेश्वर वाद का पोषक रहा है । वह ईश्वर की सर्वोपरि सत्ता को स्वीकार करता है । इस्लाम धर्म की आस्था के अनुसार ईश्वर, विश्वपति है । जीव, प्रकृति का सृष्टा, पालक तथा संहारक वही ईश्वर है । अनेक देव उसके संकेत मात्र पर विश्व का सुचारु रूप से संचालन करते हैं तथा सदा आज्ञा पालन हेतु कटिबद्ध रहते हैं । आक़बरू (प्रलय) के पश्चात् पाप-पुण्य का निर्णायक वही ईश्वर होगा और मुहम्मद साहब मध्यस्थ का कार्य करेंगे । कहने का तात्पर्य यह है कि इस्लाम अनुयायियों के विचारानुसार ईश्वर, जीव एवं जगत की पृथक-पृथक सत्ता है । अद्वैतवाद इससे भिन्न है । उसके अनुसार ब्रह्म की वास्तविक सत्ता है । शेष चराचर जगत उसी से उत्पन्न हुआ है जो अन्त में उसी में मिल जाएगा । जिस प्रकार जल तथा जल बिन्दु में कोई अन्तर नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म से निसृत सृष्टि तथा उसके मूल स्रोत में कोई अन्तर नहीं है सूफी सन्तों ने उपास्य के रूप केवल निराकार ब्रह्म को अपनाया है । इसीलिए नूर मुहम्मद ने लिखा है कि :—

'सिर्जनहार एक है, काहू जना न सोइ ।
आपन काहू सो जना, वह समान नहिं कोइ ।'

सूफी कवियों की उपासना नितान्त निराकार है । उनका ईश्वर रूप रेख-हीन तथा निर्मल है ।

'है नाहिं कोइ ताकर रूपा । ना ओहि सन् कोइ आहि अनूपा ।।
ना ओहि ठाउँ, न ओहि बिन टाऊँ । रूप रेख बिन निरमल नाऊँ ।।'

—इंद्रावती

उसमान ने भी उसे अनेक प्रकार के रूपों का स्रष्टा बताया है किन्तु वह स्वयं अजन्मा है।

कीन्हेसि रूप बरन जहँ ताई। आपु अवरन अरूप गुँसाई॥

—चित्रावली

कादरी सम्प्रदाय के अन्तिम सूफी कवि शाह बरकतुल्ला पर भी अद्वैतवाद का पूर्ण प्रभाव है। उनकी दृष्टि में भी ब्रह्म और जीव में कोई अन्तर नहीं हैं।

'बीज विरछ नहिं दोय हैं, रुई चार नहिं दोय।
दधि तरंग नहिं दोय हैं, बूझौ ज्ञानी लोय॥'

—प्रेमप्रकाश

सूफियों की दृष्टि में सृष्टि ईश्वर से पृथक् है परन्तु है उसी का प्रदर्शन। कादरी सम्प्रदाय के सूफी कवि शाह वरकतुल्ला ने ईश्वर को स्याही के रूप में तथा प्राणियों को लघु गुरु अक्षरों के रूप में सुन्दर रूप से चित्रित किया है—

'हम अच्छर करतार मसि, लघु गुरु वरन बसीत।
कोइ प्रेमी नेमि कोइ, राजा रंक अतीत।'

सूफियों की दृष्टि में अखिल विश्व एक दर्पण है जिसमें अव्यक्त शक्ति पूर्णरूपेण प्रतिबिम्बित हो रही है—

'सर्वं जगत दरपन के लेखा। आपुहिं दरपन आपहिं देखा॥'

—जायसी-अखरावट

उसमान ने सारे संसार में व्यक्त तथा अव्यक्त रूप में उसी सत्ता के दर्शन किये हैं।

'परगट गुपुत विधाता सोई। दूसर और जगत नहिं कोई।'

—उस्मान 'अनुराग बाँसुरी'

नूर मुहम्मद भी इसी विचार से सहमत हैं कि विश्व में उसी परमसत्ता का विम्वाभास है—

'देखि परै ओहि दरपन माहीं'—

—नूर मुहम्मद 'चित्रावली'

जीव के विषय में सूफीमत भारतीय अद्वैतवाद पर आधारित है। अद्वैतवाद

का सिद्धान्त है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ब्रह्मजीवेवनापरः' । जायसी जी का भी वही मत है—

'आप अंश कीन्ह दुह ठाऊँ । एक क धरा मुहम्मद नाऊँ ।'

सूफीमत में गुरु का सर्वोच्च स्थान है । बिना गुरु के गन्तव्य पर पहुँचना नितान्त असम्भव है । जायसी का विश्वास है कि 'बिनु गुरु पंथ न पाइय' अर्थात् बिना गुरु के मार्ग मिलना कठिन है । उसमान ने भी यही कहा है—

'जा कहँ गुरु किरपा करहिं, सो पावै नौ निद्ध ।'

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त सुफीमत की अन्य विशेषता उनकी प्रेम पूर्ण साधना है । उसमान की दृष्टि में प्रेम सृष्टि का आदि तत्व है । ईश्वर सौन्दर्य रूप है । वह निज सौन्दर्य पर आसक्त हुआ और स्वयं से प्रेम करने लगा । यह प्रेम ही सृष्टि के निर्माण का मूलकारण है । प्रेम के दो पक्ष हैं—संयोग और वियोग । सूफियों ने वियोग को ही अपनाया । उनकी दृष्टि में विरह की प्रीड़ा अति मधुर है । उसकी तड़पन, विकलन अति तीव्र तथा सचेतन है । उसमान की दृष्टि में ज्ञान, ध्यान जप, तप, संयम आदि से प्रेम का स्थान उच्च है ।

'ज्ञान ध्यान मद्धिम सबै, जप तप संजम नेम ।
मान सो उत्तम जगत जन, जो प्रति पोरे प्रेम ।'

प्रेम का विरह पक्ष अति सुखद है । दादू भी यही मत रखते हैं—

'विरह जगावै दरद कौं, दरद जगावै जीव ।
जीव जगावै सुरति कौं, पंच पुकारै पीव ।।'

इस प्रकार सूफीमत की अनुपम विशेषता कटु जीवन में माधुर्य मूर्ति ईश्वरीय प्रेमभावना का समावेश करना है ।

सूफी कवि तथा सूफी काव्य

भारत में सूफीमत के प्रचार एव प्रभाव का सबसे अधिक श्रेय सूफी कवियों को ही है । कुतबन, मंझन, जायसी, उसमान, नवी, कासिमशाह, नूरमुहम्मद, तथा काशिमशाह हिन्दी के प्रसिद्ध सूफी कवि हैं । इन्होंने अपने विचारों के प्रकाशन के लिए प्रान्तीय अथवा प्रादेशिक भाषाओं को अपनाया । जिस क्षेत्र में वे रहते थे, उसकी क्षेत्रीय बोली को ही इन्होंने प्राथमिकता दी । उपर्युक्त सभी

कवियों का विचरण-क्षेत्र अवध तथा अवध का समीपीय प्रदेश था। इसीलिए इनकी सभी रचनाएँ अवधी भाषा में है। अवधी का सूफी काव्य प्रेमाख्यानक काव्य के रूप में प्रसिद्ध है। कारण सभी कृतियों की कथावस्तु प्रेम के एक रोमांटिक पक्ष को लेकर अग्रसर हुई हैं। अवधी के अतिरिक्त अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी सूफी काव्य की अलौकिक झाँकी होती है। वरकतउल्ला के 'प्रेम-प्रकाश' में ब्रज की छटा अवलोकनीय है तो बुल्लेशाह आदि ने पंजाबी में मधुर भाव व्यक्त किये हैं। इसी प्रकार सूफी कवियों से प्रभावित कबीर, दादू, दरिया आदि की रचनाओं में सधुक्कड़ी मिश्रित भाषा का सुन्दर प्रयोग हुआ है। वस्तुतः सूफी काव्य हिन्दी साहित्य की एक अलौकिक एवं अनुपम निधि है तथा सूफी कवि हिन्दी के अमर कलाकार हैं।

मुल्लादाऊद—हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम सूफी कवि है। 'चन्दावत' इनकी सुन्दर रचना है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सर्वप्रथम सूफी काव्य ग्रन्थ यही है। इसका रचना-काल सन् १३१८ ई० है। अन्य प्रेमाख्यानक ग्रन्थों की भाँति इस ग्रन्थ में भी एक प्रेम-कथा का उल्लेख है। नूरक और चन्दा इसके नायक, नायिका हैं। सूफी साधना और सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस काव्य में सुन्दर ढंग से हुआ है। तदनन्तर कुतवन उल्लेखनीय सूफी कवि हैं। यह जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के आश्रित थे। चिश्ती सम्प्रदाय के शेखबुरहान के यह शिष्य थे। 'मृगावती' इनकी काव्य-रचना है। सन् १५०१ ई० (हिजरी सन् ९०९) इसका रचना-काल है। यह काव्य अवधी भाषा में चौपाई-दोहों की शैली में लिखा है। इसमें चन्द्रगिरि के राजा गणपतिदेव के पुत्र राजकुमार की प्रेम-कथा है। वह कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की अति सुन्दर पुत्री मृगावती के रूप को देखकर मुग्ध हो जाता है। अनेक संकटों का सामना करता हुआ जब राजकुमार मृगावती के समीप पहुँचता है, तो मृगावती धोखा देकर अन्य स्थान को उड़ जाती है। राजकुमार को उसके वियोग में बड़ा दुःख होता है। वह योगी का रूप धारण कर उसकी खोज में चल देता है। मार्ग में एक राक्षस के पाश से रुक्मिणी नामक एक रमणी का परित्राण करता है। रुक्मिणी से उसका विवाह हो जाता है। अन्त में मृगावती के साथ भी उसका विवाह हो जाता है। इसके पश्चात् वह चन्द्रगिरि को लौट आता है जहाँ चिरकाल तक सुचारु रूप से राज्य

करता है। आखेट करते हुए राजकुमार हाथी से गिरकर मर जाता है। रुक्मिणी और मृगावती भी वियोग में प्रियमिलन की आशा से चिन्ता में जलकर भस्म हो जाती हैं। इस प्रकार इस काव्य में कुतवन ने प्रेम-कथा के द्वारा ईश्वर के प्रति साधक के प्रेम की मधुर व्यंजना की है।

कुतवन के पश्चात् अन्य प्रसिद्ध सूफी कवि मंझन हैं। 'मधुमालती' इनकी रचना है। 'मृगावती' की भाँति यह काव्य भी अवधी भाषा में चौपाई-दोहों की शैली में लिखा गया है। यह रचना खण्डित रूप में ही उपलब्ध है। इसमें कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर तथा महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की प्रेम-कथा का वर्णन है। इस ग्रन्थ में कवि का उद्देश्य सारे दृश्य-जगत् में उसी परमसत्ता के रूप का दर्शन कराना है, जिस प्रिय-मिलन की आशा में जीवात्मा निरन्तर व्याकुल रहती है।

तदनन्तर जायसी प्रेमाश्रयी शाखा के सर्वोच्च कवि हैं। इनकी अनुपम कृति 'पद्मावत' हिन्दी साहित्य का अमूल्य काव्य रत्न है। प्रेमाख्यानक काव्य-ग्रन्थों में इसका नाम सर्वोपरि है। जायसी से पूर्व चन्द्रावत, मृगावती, मधुमालती के अतिरिक्त अन्य प्रेम-कथाएँ भी लिखी गयीं थीं। जायसी कृत 'पद्मावत' में कुछ ग्रन्थों का इस प्रकार उल्लेख है :---

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा ।।
मधू पाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी ।।
राजकुँवर कंचनपुर गएऊ। मिरगा कहँ गोगी भएऊ ।।
साध कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू ।।
प्रेमावति कहँ सुरसर साधा। ऊषा लगि अनिरुध बर बाँधा ।।

—जायसी ग्रन्थावली

इससे स्पष्ट है कि जायसी से पूर्व, स्वप्नावती, मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती, प्रेमावती आदि प्रेम-काव्यों का सृजन हो चुका था। इन रचनाओं में मृगावती और मधुमालती प्राप्त हैं। शेष रचनाओं के विषय में कुछ पता नहीं है। जायसी के उत्तरवर्ती कवि उसमान ने भी स्वरचित 'चित्रावली' काव्य में केवल तीन काव्यों का उल्लेख किया है।

मृगावती मुख रूप बसेरा। राजकुँवर भयो प्रेम अहेरा॥
सिंहल पदुमावति मो रूपा। प्रेम कियो है चितउर भूपा॥
मधुमालति होइ रूप देखावा। प्रेम मनोहर होइ तहँ आवा॥

—उसमान कृत 'चित्रावली'

इससे प्रतीत होता है कि पद्मावती से पूर्व किसी अन्य उच्चकोटि के प्रेमकाव्य का प्रणयन नहीं हुआ था। पद्मावत के रचयिता कविवर मलिक मुहम्मद जायसी का जन्म सन् १४९९ ई० (हिजरी सन् ९०६) में गाजीपुर के एक दरिद्र मुसलमान परिवार में हुआ था। बचपन में चेचक के कारण इनकी एक आँख जाती रही थी। उन्होंने इसका स्वयं उल्लेख किया है। 'एक आँख कवि मुहम्मद गुनी।' कहा जाता है कि शेरशाह बादशाह भी एकबार इनकी कुरूपता को देख कर हँस पड़ा जिस पर इनके उत्तर को सुनकर वह बड़ा लज्जित हुआ। 'मोहि का हँसेसि कि कोहरहिं' अर्थात् मेरे ऊपर हँसता है या बनाने बाले ईश्वर पर।

जायसी सूफी फकीर शेख मुहीद्दीन के शिष्य हुए। ये बाद में जायसी (राय बरेली) जाकर बसे। इसीलिए इनका नाम जायसी पड़ा। इन्होंने स्वयं जायस नगर में जाकर कविता करने का उल्लेख किया है।

'जायस नगर धर्म अस्थानू, तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू।'

—पद्मावत

जायसी सिद्ध फकीर थे। अमेठी-नरेश के इनके आशीर्वाद से ही पुत्र उत्पन्न हुआ था। वह इनके परम भक्त थे। इनकी मृत्यु के उपरान्त राजा ने महल के सामने इनकी कब्र बनवायी थी जो अब तक है। हिन्दू साधुओं तथा योगियों के सत्संग से इन्हें बेदान्त, पौराणिक कथाओं, हठयोग आदि का पूर्ण ज्ञान था। इनकी कविता का रचनाकाल सन् १५२० ई० (हिजरी सन् ९२७) माना जाता है।

जायसी द्वारा लिखी तीन पुस्तकें हैं—आखिरी कलाम, अखराबट और पद्मावत आखिरी कलाम में धार्मिक सिद्धान्त हैं। अखराबट में वर्णमाला के अनुसार सिद्धान्त सूक्तियाँ हैं। पद्मावत में प्रसिद्ध चित्तौड़ की रानी पद्मिनी की कथा का वर्णन चौपाई-दोहों की शैली को लेकर किया गया है। यह प्रेमाख्यान फारसी की मसनवी पद्धति-पर लिखा गया गया है। इसकी कथा खण्डबद्ध है।

आरम्भ में खुदा, रसूल, शाहेवक्त (तत्कालीन सम्राट) और गुरु की क्रमशः बन्दना है। यह प्रेमाख्यान कल्पना और इतिहास का सरस एवं मधुर समन्वय है। इसमें जायसी ने निर्गुणब्रह्म की प्राप्ति का साधन अनन्य प्रेम ही बतलाया है। साथ ही रहस्यवादी झलक दर्शनीय है शृङ्गार, लगन, वियोग, पीड़ा आदि इस काव्य के मधुर एवं आकर्षक चित्र हैं। यह काव्य हिन्दी साहित्य का अमररत्न है। वस्तुतः हिन्दी के रहस्यात्मक काव्यों तथा प्रेमाख्यानक काव्यों में यह ग्रन्थ अनूठा है। प्रेम-काव्यों में इसे प्रतिनिधि काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। वियोगावस्था की मधुर अभिव्यक्ति इस काव्य की विशेषता है। पतिव्रत की ऐसी वियोगजनित पीड़ा का ऐसा उज्ज्वलतम, मर्मस्पर्शी और माधुर्य पूर्ण वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें बारहमासी के रूप में नागमती के वियोग-वर्णन के साथ आत्मा और परमात्मा का वियोग भी अलौकिक रूप से ध्वनित हुआ है। प्राकृतिक वस्तुओं के समन्वय से भावव्यंजन अधिक चमत्कार पूर्ण तथा भावचित्र, अधिक मनोरम और मर्मस्पर्शी बन गये हैं।

'पिउ से कहत संदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तोहिक धुँआ हम लाग।'

भौंरे और कौवे का रंग धूम्र से काला हो जाना कहकर उक्ति वैचित्र्य का कैसा सुन्दर उदाहरण है। प्रिय के न मिलने की आशा में अन्तिम अभिलाषा कैसी मार्मिक है।

'यह तन जारौ छारि कै, कहौ कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग गिरि परै, कन्त धरै जहँ पाव।'

—पद्मावत

पद्मावत एक अनुपम प्रेम कथा है। जायसी ने गोरखपंथी साधुओं की कल्पना के आधार पर पद्मावती को सिहंलद्वीप के राजा, गंधर्वसेन की पुत्री माना है। वह अत्यन्त रूपवती है। उसके रूप की प्रशंसा हीरामन तोते द्वारा चित्तौर का राजा रत्नसेन सुनता है। राजा पद्मावती के रूप वर्णन को सुनकर मूर्छित हो जाता है। राजा योगी का भेष धारण कर सोलह सहस्र कुँवरों के साथ पद्मावती के दर्शनों की खोज में प्रस्थान करता है। सभी कुँवर भी योगियों का भेष धारण किये हुए हैं। अन्त में राजा अनेक कष्ट सहन करते हुए, सात

सागरों (क्षार, क्षीर, दधि, उदधि, सुत, किल किला और मानसरोवर) को पार करते हुए सिंहल द्वीप पहुँचते हैं। बसन्तपञ्चमी के दिन राजा शिवालय में पूजा के लिए आयी हुई पद्मिनी के रूप को देखकर मूर्छित हो जाता है। इधर राजा रत्नसेन की पटरानी नागमती, राजा के वियोग में अति दुःखी होती है। अन्त में शिवजी के वरदान से रत्नसेन का मनोरथ पूर्ण होता हैं, और पद्मावती के साथ उनका विवाह हो जाता है। विवाहानन्तर राजा चित्तौर लौट आता है। कुछ समय पश्चात राजा रत्नसेन का एक राजसभा-पण्डित राघवचेतन रुष्ट होकर दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन से मिल जाता है। वह बादशाह को पद्मिनी के रूप का वर्णन सुनाता है। बादशाह मुग्ध हो उसकी प्राप्ति के लिए चित्तौड़ पर आक्रमण कर देता है। आक्रमण सफल नहीं होता अलाउद्दीन सन्धि का प्रस्ताव करता है। सन्धि होती है किन्तु अलाउद्दीन दर्पण में पद्मिनी के प्रतिविम्ब को देखकर मूर्छित हो जाता है। बादशाह धोखे द्वारा राजा को बन्दी कर पद्मिनी को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है किन्तु पद्मिनी की तीव्र बुद्धि और गोरा, बादल की रण कुशलता से बादशाह अलाउद्दीन को मुँह की खानी पड़ती है। बादशाह से मुक्त होने पर राजा रत्नसेन का कुम्भलमेर के राज देवपाल से द्वन्द्व-युद्ध होता है जिसमें दोनों राजा मारे जाते हैं। दोनों रानियाँ नागमती और पद्मावती सती हो जाती हैं। तदनन्तर अलाउद्दीन चित्तौड़ के गढ़ पर अधिकार कर लेता है।

बाह्यदृष्टि से पद्मावत एक प्रेम कथा है। जायसी ने इसमें कल्पना का पुट देकर उसे आध्यात्मिक रूप प्रदान कर दिया है। इसमें यत्र तत्र आध्यात्मिक संकेत अवलोकनीय हैं। कथा की समाप्ति पर कवि ने अपनी आध्यात्मिक विचार-धारा को स्पष्ट भी कर दिया है—

'तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुद्धि पदमिनी चीन्हा ।।
गुरु सुआ जेइ पंथ दिखावा। विन गुर जगत को निरगुन पावा ।।
नागमती यह दुनियाँ धंधा। बाँचा सोइ न ऐहि चित्त बंधा ।।
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू ।।
प्रेमकथा एहि भाँति विचारहे। लेहु बूझि बूझै जो पारहु ।।

—पद्मावत

स्पष्ट है कि जायसी के मतानुसार चित्तौड़ शरीर, रत्नसेन मन, सिंहल हृदय, पद्मावत बुद्धि, हीरामन तोता गुरु, नागमती सांसारिक प्रपञ्च, राघव शैतान और अलाउद्दीन माया है।

संक्षेप में पद्मावत प्रेमाख्यान ने प्रेम और अध्याम का चारु चित्रण कर हिन्दी साहित्य पर अमर प्रभाव डाला। फलतः जायसी के पश्चात् अनेक प्रेम-काव्य लिखे गये जिनकी परस्परा का निर्वहण हमारे हिन्दी काव्य में उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध चरण तक हुआ है। प्राप्त कृतियों तथा कालक्रम से आधार पर जायसी के पूर्ववती सूफी कवियों की तालिका निम्न प्रकार से बनायी जा सकती है।

कवि	काव्य	काल
उसमान	चित्रावली	सन् १६१३ ई (हिजरी सन् १०२२)
शेख नबी	ज्ञानद्वीप	सन् १६१६ ई (हि० सन १०२८)
काशिम शाह	हंस जवाहिर	सन् १७३१ ई० (हि० ११४०)
नूर मुहम्मद	इन्द्रावती और अनुराग बाँसुरी	सन् १७४४, १७६४ ई० (हि० ११५७)
काजिल शाह	प्रेमरतन	सन् १८४८ ई० (हि० ११७७)

उसमान—यह गाजीपुर के निवासी थे। इनके पिता का नाम शेख हुसैन था। यह चिश्ती सम्प्रदाय के निजामउद्दीन औलिया की की शिष्य परम्परा में थे हाजीबाबा को अपना गुरु होने का इन्होंने उल्लेख किया है। 'चित्रावली' इनका प्रेमाख्यानक काव्य है। जायसी जी का अनुसरण करते हुए इन्होंने सात चौपाई और दोहे वाली शैली को ही अपनाया है। चित्रावली अवधी भाषा का सुन्दर ग्रन्थ है।

चित्रावली में नेपाल के राजा धरनीधर के पुत्र सुजान और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली के प्रेम का वर्णन है। इस ग्रन्थ में मुलतान, सिन्ध, बचूच, करनाटक, उड़ीसा, मनीपुर आदि-आदि स्थानों का भी वर्णन है। इससे प्रतीत होता है कि उसमान का भौगोलिक ज्ञान पूर्ण था। चित्रावली में आध्यात्मिक पक्ष का निर्वाह पूर्ण रूप से हुआ है। उसमान ने सुजान को शिवजी कर्मावतार रूप में चित्रत किया है—

'देख देत हौं आपन अंसा। अब तोरे ह्वै हौं निज वंसा।'

इसी प्रकार चित्रावली को विद्या और कँवलावती को अविद्या का रूप माना है।

शेखनबी—जौनपुर जिलान्तर्गत मऊ शेख जी का निवास स्थान था। इन्होंने अवधी भाषा में ज्ञानद्वीप नामक प्रेम-कथा लिखी। इसमें राजा ज्ञानद्वीप और देवजानी की प्रेम-कथा का सुन्दर वर्णन है।

कासिम शाह—काशिमशाह बारावंकी जिला में दरियावाद के निवासी थे। इन्होंने 'हंसजवाहिर' नामक एक प्रेमाख्यानक काव्य लिखा है। इसमें राजा हंस और रानी जवाहिर की प्रेम कहानी है। इन्होंने अपनी कहानी के पात्र मुसलमान वंश के चुने है। कथा काल्पनिक है। हंस योगी का रूप धारणकर जवाहिर की प्राप्ति में निकलता है और अनेक कष्टों को झेलता हुआ अन्त में जवाहिर को पा जाता है। यह कथा भी अध्यात्मपरक है।

नूर मुहम्मद—यह जौनपुर जिलान्तर्गत सरहद नामक स्थान के निवासी थे। विवाहानन्तर अपने श्वसुर शमशुद्दीन के यहाँ आजमगढ़ चले गये और वहीं रहने लगे। यह फारसी और हिन्दी के अच्छे कवि थे। फारसी में इन्होंने सुन्दर रचनाएँ की। इनका उपनाम 'कामयाव' था। हिन्दी में इनके दो काव्य हैं—'इन्द्रावती' और 'अनुराग बाँसुरी'। इन्द्रावती में कालिजर देश के राजकुँवर और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती के प्रेम का वर्णन है। यह कथा एक ओर साधारण प्रेमकथा है तो दूसरी ओर आध्यात्मपरक विश्लेषण है। इसमें इन्द्रावती ब्रह्म की ज्योति तथा राजकुँवर जीवात्मा है। 'अनुराग बाँसुरी' में नूरमुहम्मद ने तत्वज्ञान का सुन्दर निरूपण किया है। मूरतिपुर (शरीर) में जीव नामक राजा, उसका अन्तःकरण नाम का पुत्र, उसके संकल्प और विकल्प दो संगी तथा बुद्धि, चित्त और अहंकार नामक तीन मित्र और महामोहिनी नाम की स्त्री है। इसी प्रकार दर्शनराम ईश्वर तथा सर्वमंगला उसका ज्ञान है। संक्षेप में अनुराग बाँसुरी नूरमुहम्मद की एक सुन्दर, काल्पनिक एवं कवित्वपूर्ण कृति है।

फाजिल शाह—'प्रेम रतन' इनका प्रेमाख्यान काव्य है। इसमें नूरशाह, और माहे मुनीर की प्रेमकथा है। शाह वरकत-उल्ला ने ब्रजभाषा में 'प्रेम-प्रकाश' नामक एक प्रेमाख्यानक काव्य की रचना की। इसमें जीवात्मा और पर-

मात्मा मिलन का सुन्दर रूपक है ।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त दो सूफी कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं—प्रथम आलम और द्वितीय निशार । 'माधवानल' आलम का प्रेमाख्यानक काव्य है । इसका रचनाकाल सन् १५८३ ई० है । 'यूसुफ जुलेखा' शेख निशार की सुन्दर रचना है । उसका रचनाकाल सन् १७९० ई० है ।

अतः स्पष्ट है कि प्रेमाख्यानक काव्यों के रचयिता सभी मुसलमान कवि थे । वे सूफी कहलाये । वे 'अनलहक' (सो अहं) के मानने वाले थे और सर्वेश्वरवाद के विरोधी थे । उनका विश्वास था कि मुक्ति प्रेम द्वारा मिल सकती है । प्रेम-साधना के लिए गुरु का सहयोग अनिवार्य है । उनकी रचनाएँ अपनी निजी विशेषताएँ रखती हैं । वे फारसी की मसनवी शैली को लेकर हुईं हैं । ईश्वर की बन्दना, पैगम्बर की आराधना, तत्कालीन बादशाह की बन्दना और फिर गुरु की बन्दना करके ये कवि रचना का प्रारम्भ करते थे । सभी कथाएँ हिन्दू जीवन से सम्बन्धित प्रचलित कहानियाँ हैं । इन सभी रचनाओं में अलौकिक प्रेम की मधुर व्यंजना है । जीव और ब्रह्म का अतिशय प्रेम प्रदर्शित किया गया है । सभी रचनायें दोहा चौपाइयों में अवधी भाषा में लिखी गयी हैं । प्रबन्धकाव्य के रूप में आत्मा को पति और परमात्मा को पत्नी मानकर लौकिक और अलौकिक प्रेम का सुन्दर निरूपण किया गया है । इन सभी रचानाओं में किसी विशेष सम्प्रदाय का खण्डन अथवा मण्डन नहीं किया गया है । संक्षेप में अद्वैत का प्रतिपादन सुन्दर ढंग से हुआ है ।

सूफीवाद का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव—

सूफीवाद ने हिन्दी साहित्य पर दो रूपों में प्रभाव डाला है । प्रथम काव्य के रूप में और द्वितीय अध्यात्म के रूप में । अधिकतर सूफी साहित्य अवधी भाषा में है और पद्य रूप में है इसकी शैली चौपाई दोहों की शैली है । प्रथम कुछ चौपाइयों की अर्द्धालियाँ तदनन्तर एक दोहा या बरवै छन्द है । सभी कवियों में चौपाइयों की संख्या समान नहीं है तथापि सभी की शैली समान है । जायसी प्रेममार्गी शाखा के प्रधान कवि हैं । उन्हीं की शैली का अनुसरण करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी ने हिन्दी साहित्य के अमर रत्न 'रामचरितमानस' की रचना की जो विश्वसाहित्य का श्रेष्ठतम काव्य है । अतः यह स्वीकार करना

पड़ेगा कि सूफी कवियों ने हिन्दी साहित्य में एक अविछिन्न शैली की धारा को प्रवाहित कर एक अनुपम काव्य का रसास्वादन कराया।

अध्यात्म रूप में सूफीवाद का हिन्दी साहित्य पर पूर्ण प्रभाव है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए सूफियों ने जिस प्रेम का पाठ पढ़ाया, उसी को सगुणोपासक कवियों ने अपनाया। शब्दों की जिस व्यंजना शक्ति तथा प्रतीकात्मक शैली से सूफी कवियों ने ब्रह्म और जीवात्मा का महामिलन कराया, उसी का अक्षरशः अनुसरण कर कृष्णोपासक सगुण कवि गोपियों और कृष्ण की प्रेमकथा को लेकर आगे बढ़े। वस्तुतः सूफीरहस्यवाद और श्रीमद्‌भागवत के रहस्यवाद में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता है। जिस प्रकार सूफी कवियों के प्रेमी और प्रेयसी ब्रह्म और जीव के प्रतीक है, उसी प्रकार कृष्णोपासक कवियों के गोपी और कृष्ण जीव और ब्रह्म के प्रतीक हैं। इस प्रकार सूफी कवियों के प्रेम की रहस्यात्मकता तथा मधुर व्यंजना कृष्णभक्त कवियों के काव्य में कूट-कूट कर भरी है। मीरा के काव्य में तो सूफी प्रेम भावना का पूर्ण प्रभाव है। उनकी वाणी में सूफी-विरह-वेदना है। उनके पदों में सूफियों के प्रेम की विह्वलता है जिसे हम 'प्रेम की पीर' कह सकते हैं। वह प्रियमिलन के लिए आतुर है।

'कैसे जिऊँ री माई हरि बिन जिऊँ री ?'

—मीरा पदावली

यही नहीं मीरा की साकारोपासना में रहस्यात्मक निराकारोपासना का पूर्ण पुट है।

'काटि कलेजौ मैं धरूँ, रे कौआ तू ले जाय।
ज्याँ देसाँ म्हारो पिव बसै रे, वे देखत तू खाय।'

स्पष्ट है मीरा के विरह में वही कारुणिक पुकार है जो हम जायसी की नागमती के वियोग चित्रण में देखते हैं। सूफी कवियों के साधक की भाँति मीराबाई प्रिय की खोज में योगी का भेष धारण करना चाहती है—

'जोगिण हुई जंगल सब हेरूँ, तेरा नाम न पाया भेस।
तेरी सुरत के कारणे धर लिया भगवा भेस।'

बसरा निवासिनी राबिया (मृत्यु सं० ८०६) भी मीरा के भाँति ईश्वर के प्रति प्रणय की भावना से काल्पनिक पति के विरह को क्षण भर के लिए भी,

सहन नहीं कर सकती थी। यही दशा मीराबाई की है। वह प्रियमिलन की आश में निरन्तर जगती रहती हैं। वियोग में सतत सिसकना मीरा को दग्ध करता रहता है।

'सूनी सेज जहर ज्यूँ लागे, सिसक-सिसक जिय जावे।
नयन निद्रा नहिं आवे।

मीराबाई के काव्य में अनेक पदों में योग साधना द्वारा निर्गुण भक्ति का सूफी कवियों की भाँति पूर्ण संकेत मिलता है। जब मीरा के परिवार के व्यक्ति तथा राणा इत्यादि उनको लोकापवाद के भय से भक्तिमार्ग से रोकते हैं; तो उनके मुख से निसृत शब्द सूफीमत की योग प्रभावित भक्ति का पूर्ण प्रभाव प्रकट करते हैं।

'तेरा कोई नहीं रोकनहार, मगन होय मीरा चली।
लाज सरस कुल की मरजादा सिर से दूरि करी।
मान अपमान दोऊ घर पटके निकसी हूँ ज्ञान गली !
ऊँची अटरिया लाल किवड़िया, निरगुण सेज बिछी।
पचरंगी झालर सुभ सो है, फूलन फूल फली।
बाजूबन्द कडूला सोहै, सेंदुर माँग भरी।
सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा, शोभा अधिक खरी।
सेज सुखमणा मीरा सोहै, सुभ है आज घरी।
तुम जावो राणा घर अपणे, मेरी तेरी नाहिं सरी।

इस पद में ब्रह्मरंध्र को अटरिया, अनुराग के किवाड़, निराकर ब्रह्म की सेज बिछी है। सुषुम्ना (सुखमरण) नाड़ी शय्या है जिस पर मीरा सजकर सुरति में लीन है। इस प्रकार मीरा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सूफी कवियों द्वारा प्रभावित है।

(कबीर, नानक, दादू, मलूकदास, धर्मदास आदि ज्ञान मार्गी कवि हैं। उनमें प्रेम का केवल नीरस पक्ष दिखाई देता है, फिर भी सूफी कवियों की प्रणय-साधना से वह पूर्ण प्रभावित हैं।

नैहरवा हमको नहिं भावै।
सांई की नगरी परम अति सुन्दर, जहँ कोई जाय न आवै।

चाँद सूरज जहँ पवन न पानी, को संदेश पहुँचावै।
दरद यह सांई को सुनावै।

—कबीर

अब मेरे प्रीतम प्रान पियारे।
प्रेम भक्ति निज नाम दीजिए दयाल अनुग्रह धारे॥
सुमिरौं चरन तिहारे प्रीतम, रिदै तिहारी आशा।
संत जनां पै करौं, बेनती, मन दरसन की प्यासा॥

—नानक

अजहुँ न निकसे प्राण कठोर
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर॥
चारि पहर चारौं जुग बीते, रैनि गँवाई भोर।
अवधि गई अजहुँ नहिं आये, कतहुँ रहे चित चोर॥
कबहुँ नैन निरखि नहिं देखे, मारग चितवत तोर।
दादू ऐसे आतुर विरहणि, जैसे चन्द चकोर॥

—दादूदयाल

तेरा में दीदार दीवाना।
घड़ी-घड़ी तुझे देखा चाहूँ, सुन साहिब रहमाना॥
हुआ अलमस्त खबर नहिं तन की, पीया प्रेम पियाला।
ठाड हो तो उँगिर-गिरि परता, तेरे रंग मतवाला॥

—मलूकदास

मोरा पिया बसै कौन देस हो।
अपने पिया को ढूँढ़न हम निकसी,
कोई न कहत सनेरू हो॥
पिय कारन हम भईं है बावरी,
धर्यो जोगिनियाँ कै भेस हो॥

—धर्मदास

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त दूलनदास, पलटूदास आदि पर भी सूफी कवियों का पूर्ण प्रभाव पड़ा। यारी, दरिया, तो सूफी कवि ही गिने जाएंगे।

सूफी कवियों का प्राथमिक उद्देश्य प्रेम का प्रचार था। उनकी दृष्टि में प्रेम ही सर्वस्व था। इसीलिए सूफी मत में हिन्दू और मुसलमानों के ऐक्य की भावना निहित थी। संत कवियों में सूफी कवियों की यह विचार धारा पूर्ण रूप से व्याप्त दिखाई देती है। भारतीय अत्यात्म, अदि से ज्ञान का पोषक होने के कारण विरति पूर्ण रहा है और सूफी अध्यात्म प्रेम पर आधारित रहने के कारण रतिपूर्ण सूफियों का विश्वास है कि सांसारिक वाह्य प्रेम ही आगे चलकर आंतरिक पारलौकिक प्रेम का कारण बन जाता है। उनके कथानुसार इश्के मजाजी इश्के हकीकी में बदल जाता है। सूफियों की रति में मादकता और माधुर्य का अलौकिक समन्वय है। उनकी दृष्टि में हृदय कीं पूर्ण तृप्ति ही जीवन का चरम साफल्य है। अतएव सूफियों के लिए प्रकृति का कण-कण रति का हेतु है। उन्हें सारी सृष्टि प्रियतम कीं झाँकी के लिए लालायित दिखाई देती है। कृष्णपरम्परा के कवियों में भी अन्तर्रूप से यही भावना दिखाई देती है। राधा और गोपियों के विरह में सूफियों के विरह की पीर व्याप्त है। इसीलिए सारा कृष्ण काव्य सूफियों की प्रेम भावना से रञ्जित है।

भक्तिकाल में सूफी विचार धारा अक्षुण रही। रीतिकाल में हिन्दू-मुसलिम विरोध समाप्त होने के कारण लोग सुख में परमात्मा को भूल गये। भोग-विलास की प्रवृत्ति ने राधा और कृष्ण को साधारण नायिका और नायक का रूप दे दिया। साहित्य में कामोद्दीपक रचनाओं का ही सृजन हुआ। इस प्रकार रीतिकाल में सूफी प्रेमोपासना लुप्त प्राय हो गयी।

आधुनिक काल में ईसाई संतों को प्रकृति के असंख्य पदार्थों में परमात्मा की छाया का आभास किया। इस अनुभूति के चित्रण के लिए उन्होंने प्रतीकात्मक शैली को अपनाया। इस शैली का बंगाली भाषा के माध्यम द्वारा हिन्दी भाषा में भी अनुकरण किया गया। हिन्दी साहित्य में यह शैली छायावाद और रहस्यवाद के नाम से अलंकृत की गयी। फलतः हिन्दी साहित्यकार भी सृष्टि के कण-कण में उसी पावन एवं परमसत्ता की दिव्य झाँकी करने लगे। इस पावन झाँकी से चिरकाल से हिन्दी कवि-मानस में सुरक्षित प्रेम के बीज अंकुरित हो गये। प्रेम की बेलि पूर्ववत् लहलहा उठी और अतीत से विस्मृत सूफी प्रियतम फिर हमारा आलम्बन बन गया। चारों ओर प्रेम सागर उमड़ने लगा। तदनन्तर

प्रेम में विरह की अनुभूति हुई। इस तीव्रानुभूति का कवि हृदय पर मर्मस्पर्शी प्रभाव पड़ा। हिन्दी साहित्य में पुनः प्रेम की पयाचिनी प्रवाहित होने लगी। कविवर जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाटी, निराला और महादेवी वर्मा उसी प्रेम भावना के अमर चित्रकार है। प्रसाद में सूफी-विरह-वेदना का सरस पुट है। महादेवी वर्मा में तो यह वेदना साकार हो उठी है। उनकी प्रेम-प्रीड़ा, विरहाकुलता, तन्मयता तथा अखण्ड साधना सूफी विचार-धारा से पूर्ण प्रभावित हैं।

'जो तुम आ जाते एक बार!
कितनी करुणा कितने संदेस
पथ में विछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार-तार
अनुराग भरा उन्माद राग;
आँसू लेते पद पखार।

—यामा

सूफी कवियों की भाँति चिर वेदना ही महादेवी वर्मा की चिर सहचरी है। उनमें करुणा का एक अजस्र निर्भर झरता हुआ दिखाई देता है। वह प्रणयिनी होकर भी विरहिणी तथा विरहिणी होकर भी प्रणयिनी है। विरह और प्रणय का मधुर समन्वय सूफी प्रेम साधना की विशेषता है। यही विशेषता महादेवी वर्मा में पूर्ण रूपेण लक्षित होती है। उनकी दृष्टि में अवसाद, वेदना, टीस अधिक मूल्यवान हैं।

'वे मुस्काते फूल नहीं,
जिनको आता है मुरझाना।
वे तारों के द्वीप नहीं,
जिनको भाता है बुझ जाना।
× × ×
वे सूने से नयन, नहीं
जिनमें बनते आँसू मोती
वह प्राणों की सेज नहीं,
जिसमें वेसुध पीड़ा रोती।

ऐसा तेरा लोक वेदना,
नहीं, नहीं, जिसमें अवसाद
जलना जाना नहीं, नहीं,
जाना क्या होता विषम विषाद ।

—नीहार

सूफी कवि विरह की पीड़ा में आनन्दानुभूति करते थे । उनका विश्वास था कि पीड़ा ही प्रेम प्राप्ति का अमोघ साधन है । इसीलिए समूचा सूफी प्रेमाख्यानक काव्य दुखान्त ही है । महादेवी वर्मा भी विरह की घड़ियों को मिलन की घड़ियों की भाँति ही मधुर समझती हैं—

'विरह की घड़ियाँ हुईं अलि, मधुर, मधु की यामिनी सी ।'

महादेवी जी की धारणा है विरह की आराधना से ही आराध्य से एकाकार हो सकता है ।

'हो गई आराध्यमय मैं विरह की आराधना से ।

और इसीलिए वह सदैव अश्रुओं के वरदान की ही कामना करती हैं—

प्रिय ! जिसने दुख पाला हो ।
जिन प्राणों से लिपटी हो,
पीड़ा सुरभित चंदन सी,
तूफानों की छाया हो
जिसको प्रिय आलिंगन सी
जिसको जीवन की हारें
हों जय के अभिनन्दन सी,
वर दो यह मेरा आँसू
उसके उर की माला हो !

—नीरजा

स्पष्ट है कि महादेवी वर्मा में सूफी साधना साकार रूप में प्रतिष्ठित दिखाई देती है ।

डाक्टर रामकुमार वर्मा और डाक्टर हरिवंशराय बच्चन ने भी यत्रतत्र वेदना के मधुरतम चित्र अंकित किये हैं । बच्चन जी की 'मधुशाला' आदि रच-

नाएँ तो सूफी कवि उमर खैय्याम के भावों का रूपान्तर है। उनमें उमर-खैय्याम के प्राण बोलते हैं।

नरेन्द्र, अंचल आदि आधुनिक कवियों ने भी सूफियों की प्रेम पद्धति को अपनाने का प्रयत्न किया है किन्तु उनकी रचनाओं में अश्लीलता तथा उच्छृंखलता अधिक दिखाई देती है। असम्बन्ध, अर्थहीन शब्दों की खींचतान से कोई उनमें पारलौकिक सत्ता के दर्शन करले, परन्तु वस्तुतः उनमें कोरा नग्नवाद है।

सारांश यह है कि सूफी विचार धारा का हिन्दी साहित्य पर भक्तिकाल से आज पर्यन्त देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार पूर्ण प्रभाव पड़ा है, और सूफी साहित्य हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि है।

राष्ट्रीयतावाद

राष्ट्रीयता का शाब्दिक अर्थ, किसी राष्ट्र की संस्कृति, भाषा तथा स्वाभाविक एवं मौलिक विचार-धारा के अर्थ मे ग्रहण किया जाता है। दूसरे शब्दों में साहित्य, संस्कृति तथा सामाजिक विचार-धारा का समन्वित रूप ही राष्ट्रीयता है। इस दृष्टिकोण से राष्ट्रीय भाषा में, राष्ट्रीय संस्कृति तथा राष्ट्रीय भावों का प्रतिपादन करने वाले साहित्यकार को, राष्ट्रीय कवि अथवा राष्ट्रीय लेखक की उपाधि दी जासकती है। राष्ट्रीयता के इस व्यापक अर्थ से सभी भारतीय संस्कृति के परमोपासक प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्यकार, राष्ट्रीय कवियों की गणना में आजाते हैं। आदि कवि बाल्मीकि के महाकाव्य में भारतीय संस्कृति का दिव्य संदेश है। गोस्वामी तुलसीदास जी अमर काव्य 'रामचरित-मानस' में भारतीय संस्कृति के उच्चतम आदर्शों की अनुपम झाँकी है। सूरदास जी के 'सूरसागर' में नैराश्यसिन्धु में डूबी हिन्दू जाति के परित्राण का अमर आश्वासन है। डाक्टर मैथिलीशरणजी की रचनाओं में भारतीन उत्थान का मूलमन्त्र निहित है, इस प्रकार क्या उपर्युक्त सभी साहित्यकार राष्ट्रीय कवि हैं? ऐसा नहीं। आज राष्ट्रीयता का व्यावहारिक अर्थ कुछ संकीर्ण एवं सीमित है। कारण देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार शब्दों का अर्थ परिवर्तित होता रहता है। आज राष्ट्रीयता का एकमात्र अर्थ देश भक्ति अथवा देश प्रेम है।

देशभक्ति अथवा राष्ट्रीयता की भावना के प्रादुर्भाव के विषय में अन्य विद्वानों का मत है कि स्वतन्त्रता के सुख की कल्पना, पराधीनता के दुख के भय, अपने हित और वीरता के समन्वय से राष्ट्रीयता का जन्म हुआ है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज के हित में उसका कल्याण निहित है। राष्ट्र समाज का व्यापक रूप है अतः राष्ट्र के हित में मनुष्य का भी हित है। वीरता मनुष्य का अलौकिक गुण है। यही पुरुषत्व का प्रतीक एवं प्रमाण है। स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। पराधीनता में स्वप्न में सुख नहीं है। अतएव

स्वतन्त्रता का अनुराग और पराधीनता का विराग राष्ट्रीय भावना का मूलाधार है।

वस्तुतः देशभक्ति की भावना मूलतः समाजगत एवं जातिगत होती है। यह एक मनोभाव है जो हमें स्वदेश की स्वाधीनता तथा स्वसंस्कृति की भावना की ओर प्रेरित करता है। आज देशभक्ति का उद्देश्य मातृभूमि की स्वतन्त्रता और उसकी संस्कृति की सुरक्षा है। अपना शासन, अपनी संस्कृति सभी को प्रिय है। देशभक्त की धारणा है कि 'सुराज्य' 'स्वराज्य' का स्थानापन्न कदापि नहीं हो सकता।

'Good Government is no substitute to self-government'

जातीय-जीवन के तीन पक्ष हैं—सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक। ये तीनों पक्ष अन्तर्सम्बन्धित हैं। स्वतन्त्रता से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि किसी राष्ट्र की स्वतन्त्रता का अपहरण होता है, तो उस राष्ट्र की संस्कृति, राजनीति तथा आर्थिक स्थिति पर उस पराधीनता का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। प्रत्येक राष्ट्र प्रत्येक युग में अपनी निजी विशेषताएँ रखता है। किसी युग में संस्कृति प्रबल होती है तो किसी में राजनीति। संस्कृति और राजनीति का सतत संघर्ष रहा है। धर्म संस्कृति का अपर नाम है। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में यवनशासन था। इसमें सांस्कृतिक अथवा धार्मिक पक्ष प्रबल था। मुसलमानों द्वारा देश को आर्थिक क्षति की अपेक्षा सांस्कृतिक क्षति अधिक हुई। इसलिए हिन्दू संस्कृति पर आघात पहुँचाने वाले मुसलमानों के विरुद्ध जिस भावना को कवियों ने व्यक्त किया, वह राष्ट्रीयता के गुणों से समाविष्ट है। उस समय की राष्ट्रीयता का साधारण अर्थ विधर्मियों के विरुद्ध स्वधर्म समन्वित भावना का व्यक्त करना था। इसीलिए चन्द्र और भूषण कवियों को राष्ट्रीय-कवि की उपधि से विभूषित किया जाता है। इन कवियों ने आक्रान्त भारतीय हृदय को बल एवं साहस प्रदान किया। धर्म पर बलिदान करने वाले वीरों का गुणगान किया। भूषण के काव्य का उद्देश्य, अत्याचारी, कट्टर तथा क्रूर औरंगजेब बादशाह के विरुद्ध भारत को एक संगठित एव शक्तिशाली राष्ट्रीयता के सूत्र में बाँधने का सफल प्रयत्न था। भूषण की रचनाओं में जातीय भावनाओं

का पूर्ण पुट है। उसमें एक विधर्मी के प्रति द्वेष की भावना नहीं अपितु एक कट्टर तथा परधर्म-द्रोही शासन के प्रति विद्रोह की भावना है। वीरों की अर्चना एवं आराधना आदिकाल से ही होती आयी है। साहित्य ने वीरगाथाओं को सदैव प्रतिष्ठा प्रदान की है। हिन्दी साहित्य भी इस स्वाभाविक नियम का अपवाद नहीं है। शिवाजी एक वीर, प्रतापी, पराक्रमी, धर्मरक्षक तथा दीनरक्षक आदर्श पुरुष थे। उनके चरित्र में राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी थी। अतएव ऐसी राष्ट्रीय विभूति का यशगायक एवं गुणगायक राष्ट्रीय कवि ही कहा जाएगा, इस काल की राष्ट्रीय भावनाओं को सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की संज्ञा दी जा सकती है।

युग बदला। मुसलमानी सत्ता का अन्त हुआ। अँगरेज शासक हुए। उन्होंने भारतीय भाषा एवं भारतीय विचार-धारा पर कुठाराघात किया। फलतः भारत को सांस्कृतिक क्षति भी पहुँची। मुसलमानों की अपेक्षा उनके शोषण की विधि अद्भुत थी। उनमें मुसलमानों के कट्टरतावाद का अभाव था। अतएव क्लारोफॉर्म सुँघाये हुए व्यक्ति की भाँति विदेशी संस्कृति एवं विदेशी भाषा के नवाकर्षण में भारतीय अचेत रहे। जब सर्वस्व लुट गया तो उनके नेत्र खुले। सन् १८५७ ई० का महान् विप्लव उस जागरण का प्रतीक था। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में राजनीतिक राष्ट्रीयता अथवा देशभक्ति की भावना का प्रस्फुरण सन् १८५७ ई० से ही होता है। उस युग की देशभक्ति, राजभक्ति के रंग से अतिरंजित थी। देश, जाति तथा संस्कृति के अनन्योपासक महान विभूतियों के मुखारविन्द से भी राजभक्तिपूर्ण उद्गार निर्झरित होते थे। यही कारण है कि अँगरेजी शासन के सुखों एवं सुविधाओं पर रचित अनेक रचनाएँ उस युग के हिन्दी साहित्य में मिलती हैं। अम्बिकादत्त व्यास की निम्नलिखित पंक्तियाँ अँगरेजी शासन के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती हैं—

'गाँव-गाँव विद्यालय करिकै बहुत विवेक बढ़ायौ।
यान चलाय रेल की तोपें मानो नगर उड़ायो॥'

किन्तु ये सब सुविधाएँ वाह्यमात्र थीं। सत्य बात तो यह थी कि अँगरेज धीरे-धीरे भारत की सभी सम्पति को विदेश ले जारहे थे। उनका आर्थिक शोषण कब तक छिपा रह सकता था? इसके अतिरिक्त पूर्व जातीय एवं धार्मिक

भेद-भाव ने काले-गोरे के भेद-भाव का रूप धारण कर लिया था। विदेशी संस्कृति, सभ्यता तथा साहित्य के सम्पर्क में आने से भारतीयों में स्वाधिकार तथा स्वाभिमान आदि की भावनाओं का भी प्रस्फुरण होने लगा था। जब भारतीयों में यह चेतना व्याप्त थी कि वे गुलाम थे। गुलामी उस युग का सबसे बड़ा अभिशाप था। यह जागरण की लहर सर्वत्र व्याप्त थी। राजस्थानी कवि बाँकीदास (संवत् १८२८-१८९०) ने हिन्दू-मुसलिम-संगठन के लिए राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत कैसे सुन्दर उदगार व्यक्त किये—

'आयौ अँगरेज मुलक रे ऊपर··· ··············
राखो रे कींहिक राजपूती, मरदां हिन्दू की मुसलमाण।'

अर्थात् अँगरेज हमारे देश पर चढ़ आया है। इसलिए हे! वीर हिन्दू और मुसलमान संगठित होकर अपनी वीरता का परिचय दो।

तदनन्तर भारतेन्दु युग आया। भारतेन्दु जी तथा उनके समकालीन कवियों ने एक ओर भारत के अतीत की भव्यता की ओर संकेत किया तो दूसरी ओर देश की सांप्रतिक कारुणिक अवस्था का मर्मस्पर्शी चित्रण किया। 'अंधेरनगरी' तथा 'भारत दुर्दशा नाटक' लिखकर भारतेन्दु जी ने देश में एक चेतना का मन्त्र सा फूँक दिया। वस्तुतः राष्ट्रीयता पूर्ण रचनाओं का श्री गणेश भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से ही होता है।भारतेन्दु जी के उदगारों में एक आह्वान था।—राम, कृष्ण और बुद्ध की मातृभूमि में कलह का राज्य—यह एक अति दुख की बात थी—

'जहँ शाक्य भए हरिचंदरु नहुष ययाती;
जहँ राम युधिष्ठिर बासुदेव सर्याती।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती;
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई;
हा हा भारत-दुर्दशा न देखी जाई।'

—भारतेन्दु नाटकावली-भारत दुर्दशा

'प्रेमघन' की रचनाओं से भी देश के उज्ज्व अतीत और वर्तमान अवस्था के वैषम्य पर उनका क्षोभ प्रकट होता है—

'उठो आर्य सन्तान सकल मिलि बस न बिलम्ब लगाओ।
ब्रिटिश राज स्वातन्त्र्य समय तुम व्यर्थ न बैठि गँवाओ।'

राधाकृष्णदास भी भारतेन्दु युग के कवि थे। वह भी प्राचीन वैभव के विनाश पर अति दुःखी हैं। अपने वीर, पराक्रमी पूर्वजों की स्मृति तथा वर्तमान भारत की दुर्गति, उनको लज्जा एवं ग्लानि से अभिभूत कर देती है—

'कहाँ परीक्षित कहँ जनमेजय कहँ विक्रम कहँ भोज;
नंदवंश कहँ चन्द्रगुप्त कहँ हाय कहाँ वह ओज।
काल-विवस जो गए नृपति वे तो क्यों उनके बालक;
भए न उनक के सम का की अज्ञा उपजे कुल-घालक।
हा कबहूँ वह दिन फिर ह्वै है, वह समृद्धि, वह सोभा;
कै अब तरसि-तरसि मसूसि कै दिन जैहें सब छोभा।—

—'विजयिनी बिलाप'

इस प्रकार भारतेन्दु युग की रचनाओं में राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति कूट-कूटकर भरी थी। इस काल के स्तम्भ कवि एक ओर देश के अतीत के गौरव की भव्यता की स्मृति कर स्वाभिमान से फूले नहीं समाते, तो दूसरी ओर वर्तमान की कारुणिक दशा पर अश्रु प्रवाहित करते हैं। वे भारत के कीर्ति चिन्हों का का ध्यान कर लज्जा एवं ग्लानि से नतमस्तक हो जाते है और क्षोभ तथा निराशा से अभिभूत होकर आवेश में ऐसे अमर स्मारकों का नष्ट करना श्रेयष्कर समझते हैं। भारतेन्दु युग के सभी कवियों में यह नैराश्यभावना पूर्ण-रूपेण व्याप्त है—

'काशी प्राग अयोध्या नगरी, दीन रूप सम ठाढ़ी सगरी।
हाय पंचनद हा पानीपत, अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत।
हाय चित्तौर निलज तू भारी, अजहुँ खरो भारतहि मझारी।
जा दिन तुव अधिकार नसायो, सो दिन क्यों नहिं धरनि समायो।'

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

'हाय सोई यह भूमि भए जहँ धर्म धुरंधर;
आजु जहाँ रही छाय, धूरिधानी सी घर-घर।

जाही दिन दुरदसा सबै भारत पै आई।
ताही दिन क्यों नाहिं गयो पाताल समाई।'

—अंबिकादत्त व्यास।

राधा चरण गोस्वामी, बालमुकुन्द गुप्त, प्रताप नारायण मिश्र, आदि कवियों ने भी राष्ट्रीयता पूर्ण उद्गार व्यक्त किये। मातृ-जागरण के लिए उनकी विनय दृष्टव्य है—

'जाग जाग जगदम्ब मात यह नींद कहाँ की;
करु दीनी विसराय वान सुत वत्सल माँ की।
एक पूत की मात नीद भर कबहुँ न सोवत;
तीस कोटि तब दीन हीन सुत तब मुख जोवत।
अपने निरबल निरधन सुतहिं मात रही विसराय कस;
यों मोह छोह सब छाँड़िकै होय रही क्यों नींदबस।'

—बालमुकुन्द गुप्त

इसी प्रकार मिश्र जी में राय्ट्रीय विचारधारा व्याप्त है।

'निज हाथन सर्वसु खोय चुके कहँ लौं दुख पै दुख ही भरिए।
हम आरत भारत वासिन पै अब दीन दयाल दया करिए।'

—प्रताप नारायण मिश्र

× × × × ×

'चहहुँ जो साँचो निज कल्यान,
तौ सब मिलि भारत सन्तान।
जपौ निरन्तर एक जवान,
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान।'

—प्रताप नारायण मिश्र

तदनन्तर द्विवेदी युग में मातृभूति की प्रशंसा और गौरव के गीत गाये गये। श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, इस युग के उल्लेखनीय राष्ट्रीय कवि हैं। इन कवियों ने भारतवसुन्धरा के स्वाभाविक प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण कर देशवासियों में भारतभूमि के प्रति अतुल प्रेम करने की प्रेरणा उत्पन्न की। कविवर श्रीधर-

पाठक जी का 'भारतगीत' वस्तुतः भारत भूमि की नैसर्गिक शोभा का अलौकिक चित्रण है।

'बन्दहु मातृ भारत-धरनि।
सेत हियगिरि सुपय सुरसरि तेज तपमय तरनि।
सरित बन कृषि भरित भुवछवि सरस कवि मनहरनि।'

—श्रीधर पाठक 'मनोविनोद'

रामचरित उपाध्याय ने इसी प्रकार भारत महिमा का सुन्दर चित्रण किया है—

'जय-जय भारत पुण्य निधान।
इस त्रिभुवन में अन्य देश क्या तेरे सम मान।
दुर्गम दुर्ग बने हैं तेरे विंध्य हिमाचल अचल अभी।
अविचल खाई है वारिध की तनिक न होना विकल कभी।'

भारतभूमि का अनुपम सौन्दर्य आदि काल से ही कवि हृदय को आकर्षित एवं मुग्ध करता आया है। प्राचीन संस्कृतादि के कवियों की रचनाओं में धवलकिरीट हिमालय, प्रफुल्ल बनराजि विन्ध्याचल तथा सदानीरा सरिताओं आदि की शोभा का विशद वर्णन है। इस युग के कवियों में भी वही प्रकृति-प्रेम की प्रवृत्ति पूर्ण रूप से व्याप्त है। कविवर रामनरेश त्रिपाठी जी का गौरव-गान द्रष्टव्य है—

'जिसके तीनों ओर महोदधि रत्नाकर है।
उत्तर में हिमराशि रूप सर्वोच्च शिखर है॥
जिसमें प्रकृति-विकास राय ऋतुक्रम उत्तम है।
जीव जन्तु फल फूल शस्य अद्भुत अनुपम है॥
पृथ्वी पर कोई देश भी इसके नही समान है।
इस दिव्य देश में जन्म का हमें बहुत अभिमान है।'

मैथिलीशरण गुप्त तो राष्ट्रीय कवि की उपाधि से ही सम्बोधित किये जाते हैं। इनकी रचनाओं में भारत के अतीत के गौरव, आज की दुर्गति तथा अनागत के आशा चित्रों का मधुर समन्वय है। द्विवेदीयुग के प्रतिनिधि कवि होने के नाते गुप्त जी की रचनाओं में जन-जागरण की भावना कूट-कूट कर भरी है।

इनकी 'भारत भारती' में अतीतानुराग की अलौकिक अभिव्यक्ति है। 'किसान' आदि रचनाओं में कृषकों की कारुणिक दशा के मर्म स्पर्शी चित्र हैं। दीन-दुखी जनता से गुप्त जी की हार्दिक सहानुभूति है। उनके संकटों को देखकर गुप्त जी की आत्मा सिहर उठती है एवं प्राण बोल उठते हैं। किसानों की दुरव्यवस्था उनकी अशिक्षा का सजीव चित्र देखिए :—

'शिक्षा को हम और हमें शिक्षा रोती है।
पूरी बस वह घास खोदने में होती है।
यहाँ कहाँ विज्ञान रसायन भी सोती है।
हुआ हमारे लिए एक दाना मोती है।'

सियाराम शरण गुप्त, में भी राष्ट्रीयतानुराग स्वभावतः दिखाई देता है। उन पर गान्धीवाद का पूर्ण प्रभाव है। उनकी 'नोआखाली' रचना से स्पष्ट है कि उनमें देश-स्पंदन को ध्वनित करने की छमता है। उनकी अन्य स्फुट कविताएँ 'एक हमारा देश' और 'मातृभूमि के प्रति' शीर्षक रचनाओं में अत्यन्त ही हृदय-स्पर्शी सामयिक उद्गार हैं। 'जयहिन्द' रचना में कवि नवयुग के नवप्रभात का आह्वान अति अनुपमता से करता है—

'आज के स्वतन्त्र अरुणोदय में
उद्धृत धरित्री के अभय में
कोटि-कोटि सन्तति का कोटि-कोटि नमस्कार।
आज आत्म-गौरव की हानि नहीं
अन्तस में दासता की ग्लानि नहीं'

वस्तुतः स्वाधीनता महोत्सव के पावन पर्व पर प्रकाशित 'जयहिन्द' कवि की सुन्दर रचना है। इस रचना का श्रीगणेश 'जय-जय भारतवर्ष हमारे, जय जय हिन्द हमारे हिन्द' गीत से होता है। इस प्रकार सियारामशरण गुप्त की रचनाओं में राष्ट्रीयता का पर्याप्त पुट है। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि ने भी भारत-दुर्दशा का सजीव चित्रण किया है। रूपनारायण पाण्डे की रचनाओं में आशा और उत्साह का अपूर्ण मिश्रण है।

संक्षेप में द्विवेदी युग राष्ट्रीय कविताओं का द्वितीय उत्थान कहा जा सकता है। इस युग की रचनाओं में दृढ़ता एवं प्रोत्साहन का प्राचुर्य है। यह युग भार-

तीय स्वतन्त्रता संग्राम का प्रयत्न युग था। जन-जन में भारत को परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त करने की जागरण की भावना उत्पन्न हो गयी थी। राजनीतिक नेता अपने पथ पर अविचलित एवं सजग थे। कवियों ने भी स्वतन्त्रता संग्राम में सक्रिय भाग लिया। उन्होंने नेताओं के जागरण के सन्देश को जन-जन तक पहुँचाया। देशभक्ति को पावन तम धर्म कहकर सर्वोपरि महत्व प्रदान किया। विदेशी शासन में देशभक्ति सबसे बड़ा अपराध था। अँगरेजों ने वाणी पर अनेक प्रतिबन्ध लगा रक्खे थे। विद्रोह पूर्ण ओजमयी रचनाएँ भी सक्रिय आन्दोलन की भाँति दण्डनीय थीं। अतएव अनेक कवियों एवं लेखकों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति का चित्रण कर समय की प्रगति का सांगोपाग रूप में दिग्दर्शन कराया। कवि जिस भावना को व्यक्ति रूप से कहने में विवश थे, उसको उन्होंने अपने पूर्वजों के गौरव के गीत गाकर अव्यक्त रूप से स्पष्ट कर दिया। अतएव द्विवेदी युग में राष्ट्रीय उद्गार चरमसीमा पर पहुँच गये। बाबू जयशंकर प्रसाद के नाटक, प्रेमचन्द जी के उपन्यास, गुप्तजी की 'भारतभारती', निराला जी के 'शिवाजी के पत्र' आदि रचनाएँ राष्ट्री आन्दोलन को व्यापक और सक्रिय रूप देने वाली रचनाएँ ही कही जाएँगी।

आधुनिक युग में राष्ट्रीयता के तृतीय उत्थान का श्री गणेश हुआ। इस युग की रचनाओं में सक्रियता, सजीवता, सत्यप्रियता एवं निर्भीकता आदि गुण विशेष रूप से विद्यमान हैं। देश में सत्याग्रह आन्दोलनों के सूत्रपात से कवियों की विचार-धारा ही परिवर्तित हो गयी अतः इस युग के कवि, कवि न रहकर वीर सैनिक की भाँति स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े। उनकी वाणी ने वीर सत्याग्रहियों को श्रद्धाञ्जलि समर्पित की तथा जन-जन में देशभक्ति और आत्म बलिदान की भावना का प्रस्फुरण किया। कतिपय कवियों ने तो स्पष्ट रूप से क्रान्ति और विप्लव के गीतों का गाना प्रारम्भ कर दिया। सुभद्राकुमारी चौहान, माखन लाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', छैल बिहारी 'कंटक' आदि की रचनाएँ क्रान्तिपूर्ण रचनाओं के अन्तर्गत ही रक्खी जाएँगी। सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी', 'वीरों का कैसा हो बसन्त' आदि कविताओं में राष्ट्रीयता साकार रूप में प्रतिष्ठित दिखाई देती है। उनकी 'स्वागत' कविता में आत्म-विश्वास और धार्मिकता की मधुर व्यञ्जना है—

'ढीठ सिपाही की हथकड़ियाँ दमन-नीति के वे कानून ।
डरा नहीं सकते हैं हमको यदपि बहाते प्रतिदिन खून ।।
हम हिंसा का भाव त्याग कर विजयी वीर अशोक बनें ।
काम करेंगे वही कि जिसमें लोक और परलोक बनें ।।'

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कविताएँ तो अत्यन्त ही ओजपूर्ण हैं । उनमें देश-भक्ति के वीर रस पूर्ण उच्च उद्गार हैं । देशभक्ति की भावना को जागरित करने के लिए उन्होंने सत्याग्रहियों के बंदी जीवन का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है ।—'कैदी का स्वागत' कविता में कैसे हृदयस्पर्शी उद्गार हैं—

'माँ ने किया पुकार बढ़ा तू चढ़ा हुआ कुरबान ।
हमने देखा तुझे टहलते सिकचों के दरम्यान ।
हाथों में थी मूँज कभी बैठा चक्की पर गाते ।
कंबल बिछा ओढ़ केवल दिन बिता दिए मतमाते ।
'बहुत दिनों के बिछुड़े प्यारे अन्तर हिय से सटजा ।
आज रिहाई हुई दौड़ आ मोहन गले लिपट जा ।।'

× × × ×

'ताला कुँजी लालटेन जंगला कैदी ये सब हैं ठीक ।
खींच चुकी है नौकरशाही अपने सर्वनाश की लीक ।।
तेरी चक्की के ये गेहूँ पिसते हैं पिस जाने दो ।
चक्की पिसवाने वालों को मिट्टी में मिल जाने दो ।।'

नवीन जी तो प्रलय में भी राष्ट्रीयता की अनुपम झाँकी करते हैं । उनके 'प्रलय-गायन' में विदेशी शासन के प्रति विद्रोह की भावना का सजीव चित्रण है—

'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाए ।
एक हिलोर इधर से आए,
एक हिलोर उधर से आए ।
प्राणों के लाले पड़ जाएँ,
त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए ।

बरसे आग जलद जल जाएँ,
भस्मसात भूधर हो जाए ।
पाप पुण्य सद्—सद्भावों की,
धूल उठे दाएँ बाएँ ।'

माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' का नाम राष्ट्रीय कवियों में अग्रगण्य है। उनकी 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक कविता में देशभक्त के बलिदान की भावना निहित है।

"चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं, प्रेमी माला में विंध प्यारी को ललचाऊँ ।।
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ।
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ ।।
मुझे तोड़ लेना बन माली उस पथ पर देना तुम फेंक ।
मातृभूमि हित सीस चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक ।।"

'कैदी और कोकिल' कविता में बंदी-जीवन का सहानुभूति पूर्ण चित्रण हमारी राष्ट्रीय भावना को उद्दीप्त करता है—

"क्या देख न सकती जंजीरों का पहना,
हथकड़ियाँ क्यों यह ब्रुटिशराज का गहना।
गिट्टी पर अँगुलियों ने लिक्खे गान,
कोल्हू का चरक चूँ जीवन की तान।
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआ,
खाली करता हूँ ब्रुटिश अकड़ का कूँआ।
दिन में मत करुणा जगे रुलाने वाली,
इसलिए रात में गजब ढा रही आली।
इस शांत समय में अंधकार को भेद,
रही क्यों हो कोकिल ! बोलो तो ।
चुपचाप मधुर विद्रोह बीज इस भाँति,
बो रही क्यों हो कोकिल बोल तो।"

इसी प्रकार कंटक जी का प्रसिद्ध गीत 'जब बज रहा बिगुल सज रहे लोग,

मिटने मन चले जवान चलो' जन-जन में राष्ट्रीयता की भावना अंकुरित करता रहा। देशभक्ति पूर्ण अनेक खादी के गीत, झण्डा के गीत तथा सत्याग्रह के गीत बनाये गये। इन गीतों ने विदेशी-सत्ता की जड़ें खोदीं तथा साधारण जनता में राष्ट्रीयता की चेतना उत्पन्न करदीं। सत्याग्रहों और आन्दोलनों की उमड़ती हुई राष्ट्रीयता की लहर में प्रवाहित होकर अनेक कवियों ने राष्ट्रीयतापूर्ण उद्गार प्रकट करना अपने काव्य का उद्देश्य मान लिया। फलतः स्वतन्त्रता संग्रामों से प्रभावित होकर हिन्दी साहित्य में अनेक राष्ट्रीय कवियों ने जन्म लिया। क्रान्ति की लहर सर्वत्र व्याप्त हो गयी। विप्लवकारी और उत्साह वर्धक साहित्य का निर्माण हुआ। रामधारीसिंह 'दिनकर', श्यामनारायण पाण्डेय, सोहनलाल द्विवेदी, डाक्टर आनन्द, शिवमंगलसिंह 'सुमन' रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' भगवतीचरण, नरेन्द शर्मा, उदयशंकर भट्ट आदि कवियों की लेखनी राष्ट्रीयता की ओर ही उन्मुख हुई। इन कविताओं में देशभक्ति और देशगौरव कूट-कूट कर भरे हैं। रामधारीसिंह 'दिनकर' अपने युग की हुँकार हैं। राष्ट्रीय कवियों में उनका नाम भुलाया नहीं जा सकता। उनकी कविता में सोते हुओं को जगाने के लिए वीररस पूर्ण ललकार है।

> 'सुनूँ क्या सिन्धु में गर्जन तुम्हारा।
> स्वयं युग—धर्म की हुंकार हूँ मैं।।'

दिनकर दीन-दुखी जनता के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी हिमालय के प्रति 'मेरे नगपति मेरे विशाल' अत्यन्त ओजस्वी रचना है। 'दिल्ली' शीर्षक कविता में मजदूरों और कृषकों के प्रति दिनकर का प्रेम उमड़ता हुआ दिखाई देता है—

> 'आहें उठी दीन-कृषकों की मजदूरों की तड़प पुकारें,
> अरी, गरीबों के लोहू पर खड़ी हुई तेरी दीवारें।
> वैभव की दीवानी दिल्ली, कृषकमेघ की रानी दिल्ली।।'

सोहनलाल द्विवेदी जी की रचनाओं में भारत-गौरव का आदर्श एवं उज्ज्वल चित्रण है।

> "वह महिमामय अपना भारत,
> वह गरिमामय सुन्दर स्वदेश।

युग-युग से जिसका उन्नत सिर,
है किए खड़ा हिमगिर नरेश।"

यही नहीं उनकी भारत-भू बन्दना में राष्ट्रीयता की साकार प्रतिमा प्रतिष्ठित है—

"वन्दना के इन स्वरों में,
एक स्वर मेरा मिला लो।
वंदिनी माँ को न भूलो,
राग में जब मस्त भूलो।
अर्चना के रत्नकरण में,
एक करण मेरा मिला लो।
जब हृदय का तार बोले,
शृंखला के बंध खोले।
हो जहाँ बलि शीश अगणित,
एक सिर मेरा मिला लो।"

श्यामनारायण पाण्डे की 'तुमुल', 'हल्दीघाटी' और 'जौहर' में वीररस पूर्ण ओजस्वी रचनाएँ हैं। उनमें जन-जागरण की अलौकिक प्रतिभा है। शिवमंगल सिंह 'सुमन' में प्रगतिवादी साहित्य की अनुपम झाँकी है। उनकी कविताएँ राष्ट्रीयता की चरम-सीमा अर्थात् क्रान्ति की ओर ले जाती हैं। अंचल, भगवती-चरण तथा नरेन्द्र शर्मा आदि की रचनाएँ भी राष्ट्रीयता के मौलिक गुणों से परिपूर्ण हैं। उदयशंकर भट्ट की कविताओं में राष्ट्रीयता की पूर्ण झाँकी होती है। सैनिक की मृत्युशैया पर लिखित स्वतन्त्रानुरागपूर्ण उनकी मधुर व्यंजना दृष्टव्य है—

'गरजे बादल से आजादी,
बिजली में स्वर आजादी का।'

× × ×

'हम आजादी के दीवाने,
परतंत्र रहेंगे कभी नहीं।'

उनका 'तक्षशिला' काव्य भारतीय सभ्यता के उज्ज्वल अतीत का अग्रदूत

है। सुधीन्द्र और शील भी राष्ट्रीय कविताओं के तरुण कलाकार हैं। सुधीन्द्र में राष्ट्रीय चेतना पूर्णरूप से दिखाई देती है—

'जागो गौतम धरणी पर फिर,
कर रहा मनुज है रक्त स्नान।
जागो—जागों हे महावीर,
होता है नरबलि का विधान।
जागो—जागो हे बन्दनीय,
अभिनन्दनीय भारत महान्।'

—सुधीन्द्र

जन-जीवन में राष्ट्रीय भावनाओं का संचार करते हुए, क्रान्ति-ज्वाल प्रज्वलित करते हुए शील भी राष्ट्रीयतापूर्ण प्रलयगीतों में विश्वास रखते हैं।

"कवि प्रलय के गीत गादे।
क्रान्ति के इस अमर युग में,
हृदय की ज्वाला जगादे।

× × × × ×

खो चुके सर्वस्व अपना,
शीश पर दासत्व लेकर,
भूल में वैभव मिला, आश्रित
हुए निज स्वत्व देकर,
रक्त शोषित धमनियों में
आज फिर शोणित वहादे।
कवि प्रलय के गीत गा दे।"

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आधुनिक-काल में राष्ट्रीय रचनाओं का पूर्ण प्राचुर्य है। सम्भवतया ऐसा कोई ही कवि हृदय हो जिसने राष्ट्रीयता की तीव्रानुभूति से प्रभान्वित होकर देश-भक्ति पूर्ण उद्गार प्रकट न किये हों। आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि हिन्दी की अनेक रचनाओं में देश-भक्ति एवं देश-प्रेम का स्वर मुखरित है। निराला जी का 'जागो फिर एक बार' सुधीन्द्र जी के 'जलियाँवाला बाग' और फहर-फहर आ

तरल तिरंगे' गीत राष्ट्रीय उद्‌गार हैं। श्री रामनरेश त्रिपाठी जी के खण्ड-काव्य मिलन, पथिक और स्वप्न में देश-भक्ति और सर्वस्व समर्पण का सजीव चित्रण है। कानपुर के श्यामलाल पार्षद का 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' आज भी जन-जन को कंठाग्र है। प्रसाद जी का 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' तथा पन्तजी का 'ज्योति-भूमि जय भारत देश' राष्ट्रीय संदेश के प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त ठाकुरप्रसाद सिंह 'अग्रदूत' का 'महामानव' राष्ट्र-पिता बापू के जीवन का राष्ट्रीय-इतिहास है। वर्षों की काल-रात्रि के पश्चात् देश में स्वातंत्र्य प्रभात की शुभ एवं शिवमय वेला आई है। अतएव आज गद्य, पद्य, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि के रूप में अनुपम ढंग से राष्ट्रीयता की भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति हो रही है। यदि एक ओर कवियों ने पिछले दशाब्द में राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्ण भैरव-रागों की सृष्टि की है, तो लेखक भी अपनी विचार शैली देश-भक्ति के उसी स्पन्दन का अनुभव करते हुए प्रतीत होते हैं:—

'कानपुर से झाँसी तक जितने वृक्ष राजमार्ग के दोनों ओर पड़ते थे, भारतीयों के कंकालों से भरे हुए थे। विद्रोहियों को प्रत्येक वृक्ष की प्रत्येक डाल पर फाँसी दी गई और उनके शवों को सूखने के लिए छोड़ दिया गया। उन कंकालों की आँखें और जीभ बाहर निकली हुई अपनी व्यथा की कहानी आज दिन तक कह रही है।'

—प्रताप-नारायण श्री वास्तव 'बयालीस'

वृंदावनलाल वर्मा, सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक आदि भी राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत हैं।

खड़ी-बोली के अतिरिक्त अवधी तथा ब्रज-भाषा में भी राष्ट्रीय भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई। स्वर्गीय कविवर सत्यनारायण और श्री वियोगी हरि ब्रज-भाषा के उल्लेखनीय राष्ट्रीय कवि हैं। श्री वियोगी हरि जी की 'वीर सतसई, एक राष्ट्रीय रचना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में हुई। विषयों के अनुसार ऐसी रचनाओं का विभाजन निम्नलिखित प्रकार से हो सकता है—

(१) मातृ-भूमि का गुणगान, (२) अतीत-चिन्तन, (३) वर्तमान दुर्दशा का

सजीव चित्रण, (४) राष्ट्रीय-चेतना, (५) राष्ट्रध्वज वन्दना, (६) विदेशी-सत्ता के प्रति विद्रोह की भावनाएँ (७) गान्धीवाद का प्रतिपादन, (८) समाजवाद के जयगीत ।

सारांश यह है कि राष्ट्रीयता हिन्दी-साहित्य का मौलिक गुण है । वीरता राष्ट्रीयता की सहचरी है भारत एक वीर देश है । यहाँ की पावन वसन्धुरा ने अनेक ऐसे वीर-रत्नों को जन्म दिया जिनका यश-सौरभ आज भी दिग-दिगन्त को सौरभ-पूर्ण बनाये हुए है । अतः राष्ट्रीयता की भावना हमारे लिए कोई नवीन वस्तु नहीं हैं रामायण और महाभारत हमारे राष्ट्रीय काव्य ही हैं । चन्द्रगुप्त-मौर्य के लिए सारे आर्यावत को एक संगठित-शक्ति के रूप में सूत्रित करने का चाणक्य का प्रयत्न राष्ट्रीयता की भावना का परिचायक ही कहा जाएगा । आज भारत स्वतन्त्र होने पर भारतीय हृदयों में एक नया उल्लास, नवीन स्फूर्ति है जो राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख कर रही है । आज की कविता के विषय राष्ट्रीयता तथा वीर-रस हैं । हिन्दी-काव्य में सुन्दर-सुन्दर राष्ट्रीय उद्‌गारों का समावेश इसी प्रेरणा का फल है । आज का हिन्दी कवि पुकार-पुकार कर कह रहा है—

'जो भरा नहीं भावों से,
जिसमें बहती रस-धार नहीं ।
वह हृदय नहीं वह पत्थर है,
जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं ।'

आदर्शवाद

कवि अथवा कलाकार सृष्टि की प्रत्येक क्रिया एवं व्यापार का अवलोकन करता है। उसके नेत्रों के समक्ष एक चित्र उपस्थित होता है। प्रथम झाँकी में वह चित्र आकर्षक एवं पूर्ण प्रतीत होता है। तदनन्तर सतत साहचर्य से उसे उस चित्र में अभाव, असामंजस्य तथा अस्वाभाविकता प्रतीत होने लगती है। अतः कवि अथवा कलाकार उस चित्र में परिवर्तन करना चाहता है। उसे चारु से चारुतर तथा मधुर से मधुरतर देखना चाहता है। कलाकार की कामना की यह चरमसीमा ही साकार रूप में 'आदर्श' का रूप धारण करती है। देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुकूल आदर्श के स्वरूप परिवर्तित होते रहते हैं। अतएव देश-काल क्रमानुसार किसी वस्तु, क्रिया तथा चरित्र की चारुता एवं ग्राह्यता का माप-दण्ड ही आदर्श है। डाक्टर भगीरथ मिश्र के कथनानुसार, "यह धारणा जिससे प्रेरित होकर साहित्यकार ऐसे चरित्र अथवा ऐसी परिस्थितियों का चित्रण करता है, जो मानव-समाज के लिए अनुकरणीय हैं, (यह आवश्यक नहीं कि वैसे चरित्र और परिस्थितियाँ सम्पूर्ण रूप में लोक में देखी और सुनी जाँय) साहित्य में आदर्शवाद कहलाती है।" साधारणतया कतिपय सिद्धान्तों, नियमों तथा माप-दण्डों का वह स्वरूप जिससे किसी क्रिया के व्यापार को कसौटी पर कसा जाए, आदर्शवाद की संज्ञा धारण कर सकता है। वस्तुतः 'जैसा हो रहा है' का 'जैसा होना चाहिए' में विलीनीकरण का मूलाधार ही आदर्शवाद है। अथवा गुणों के ज्योति-स्तम्भ का वह मधुर आलोक जो साहित्यकार को अनुकरणीय चित्र एवं चरित्र चित्रित करने के लिए प्रेरित करता है, आदर्शवाद के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी जी के मतानुसार विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित करने वाली शैली का नाम ही आदर्शवाद है। कविवर प्रसाद जी के शब्दों में 'अभावों की पूर्ति' ही आदर्शवाद है। शिवदान सिंह जी 'पलायनवाद' को आदर्शवाद मानते हैं।'

आदर्शवाद इस संसार से परे की वस्तु है। उसमें कवि की आन्तरिक अभिलाषा सत्य और न्याय की विजय देखने की होती है। आदर्शवादी कवि को अन्धकार पूर्ण वर्तमान में भी उज्ज्वल भविष्य की झाँकी होती है। वह पूर्ण आशावादी होता है। गुलाब के तीखे कांटों में उसे विकसित तथा सुगन्धित पुष्पों की सुगंध आती है। वह दुख को सुख का प्रथम चरण समझता है। वह आशा के एक कण का अवलम्बन लेकर सारे विश्व में सुख एवं शान्ती की स्थापना का स्वप्न देखता है। बसुन्धरा पर स्वर्ग की अवतारणा के स्वप्न देखना ही आदर्शवादी कवि का कार्य है। सुख-सागर की सृष्टि कर देना आदर्शवादी कवि के लिए एक सरलतम् कार्य है। वह समझता है कि लोक-कल्याण के लिए असत्य पर सत्य की विजय दिखाना आत्मावश्यक है। वह जानता है जीवन के कलुषित, पापमय स्वरूप का चित्रण साहित्यिक सत्य को स्थान नहीं दे सकता है। हृदय की आन्तरिक प्रेरणा जिन असत् विचारों से कराह उठती है, वह साहित्य सुन्दर नहीं हो सकता है, इसका आदर्शवादी को पूर्ण ज्ञान होता है। आदर्शवादी कवि के नेत्रों के समक्ष ऐसी अनेक घटनायें घटित होती हैं, जिनमें पापियों अत्याचारियों तथा अन्यायईयों को सफलता मिली है। पुण्यात्मा को दुःख से पीड़ित होना पड़ा हो। किन्तु फिर भी वह विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर, पूर्ण सत्य की रक्षा करने का प्रयत्न करता है। वह संसार में सत्य, नीति, न्याय की ही विजय देखना चाहता है। सुरों और असुरों का द्वन्द्वयुद्ध कराकर सुरों की विजय ही दिखाना चाहता है। संक्षेप में आदर्शवादी कलाकार 'सत्यं, शिवं और सुन्दरं' का उपासक होता है।

साहित्य जीवन की विवेचना है। जीवन आत्म और अनात्म का मधुर संयोग है। जिस प्रकार विभिन्नता एवं विविधता जीवन के स्वाभाविक गुण हैं। उसी प्रकार अनेकरूपता साहित्य का सतत स्वरूप है। जीवन के नाना भावों का समाविष्ट रूप ही साहित्य है। अतएव जीवन के दृष्टिकोण के आदर्श तथा साहित्यादर्श समान ही हैं। संस्कृताचार्यों ने साहित्य पर पूर्ण मनन किया है। उन्होंने साहित्योद्देश्य का विशद विवेचन किया है। आचार्य मम्मट ने काव्य का निम्नलिखित प्रयोजन निर्दिष्ट किया है :—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः पर निर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।'

अर्थात् यश की प्राप्ति, धनलाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि विपत्तियों का विनाश, तुरन्त ही उच्चकोटि के आनन्द का अनुभव और प्यारी स्त्री के समान मनभावन उपदेश देने के लिए काव्यग्रन्थ प्रयोजनीय है।

कविवर भिखारीदास जी ने भी इसी प्रकार साहित्य के प्रयोजन को व्यक्त किया है :—

'एक लहैं तपपुंजन के फल ज्यौं तुलसी और सूर गुसाईं ।
एक लहैं बहु सम्पति केसव भूषन ज्यों वर वीर बड़ाई ।
एकन कों जस ही सों प्रयोजन है रसखान रहीम की नाईं ।
'दास' कवित्तन की चर्चा बुधमंतन को सुख दै सब ठाईं ।।

स्पष्ट है कि कतिपय कवि कविता द्वारा अपनी वाणी को पवित्र मानते हैं। कतिपय उसे अर्थ प्राप्ति का साधन समझते हैं और कुछ कवि, काव्य द्वारा यश करना चाहते हैं। कवि ठाकुर ने भी काव्य के उद्देश्य को इसी प्रकार स्पष्ट किया है :—

'मोतिन कैसी मनोहर माल गुहै, तुक अच्छर जोरि बनावैं ।
प्रेम को पन्थ कथा हरिनाम की बात अनूठी, बनाय सुनावैं ।
ठाकुर सो कवि भावत मोंहि जो राजसभा में बड़प्पन पावैं ।
पंडित और प्रवीनम को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावैं ।।'

इस प्रकार साहित्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। वस्तुतः मानव-जीवन तथा समूची सृष्टि का साङ्गोपाङ्ग चित्रण करना ही साहित्य का कार्य है। अब प्रश्न विचारणीय है कि सत् साहित्य का चरम लक्ष्य क्या माना जाए ? साहित्य काव्य से भिन्न वस्तु नहीं। काव्य का चरमलक्ष्य रस सिद्धि अथवा अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति स्वीकृत किया गया है। ब्रह्मानन्द सहोदर होने से यह आनन्द वर्णनातीत है। इसकी केवल अनुभूति हो सकती। यह अनुभूति परिष्कृत मनोभावों द्वारा ही सम्भव है। अतएव काव्य का उद्देश्य विचार-परिमार्जन एवं भाव परिष्कार ही है। साहित्य काव्य का यही स्वरूप है। विद्वानों ने साहित्य की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। कुछ आचार्यों का

कथन है कि 'हितं सम्पादयति इति साहित्यम्' अर्थात् जो हित का सम्पादन करता है, वह साहित्य है। कुछ विद्वान 'हितं सन्निहितं तत् साहित्यम्' के पक्ष में है। अर्थात् जिसमें हित छिपा है, उसे साहित्य कहते हैं। अन्य विद्वान इस मत के हैं कि 'सहितं रसेन युक्तम्' तस्यभावः साहित्यन। अर्थात् रस से युक्त शब्दार्थ साहित्य है। इनके अतिरिक्त भी साहित्याचार्यों ने साहित्य की भिन्न-भिन्न प्रकार से अनेक व्याख्याएं की हैं। इन सब व्याख्याओं के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि साहित्य का प्रमुख उद्देश्य एवं आदर्श हित का सम्पादन करना है। आधुनिक युग में 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' कला तथा साहित्य-जगत का आदर्शवाक्य माना जाता है। इस महावाक्य की स्वीकृति के पक्ष में साहित्य तथा कलादेवी शारदा की 'हंसवाहिनी, वीणापुस्तक धारिणी' सम्बोधित स्तुति प्रमाण में दी जाती है। इसमें भी सत्य और सौन्दर्य के साथ-साथ हित को भी अनिवार्य गुण माना जाता है। अतएव प्राचीन तथा आधुनिक सभी कालों में साहित्य को हितसाधन तथा जीवन निर्माण का आधार माना गया है। विद्वान एवं बुद्धिमान व्यक्तियों के लिए काव्य शास्त्राध्ययन उपदेश इसलिए दिया गया है—

'काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥'

—भर्तृहरि

अतः यह सुस्पष्ट है कि हित साहित्य का अनिवार्य गुण है। अब प्रश्न होता है हित क्या है? शिवत्व अथवा हित के विषय में लोगों में मत भेद है। यूरोप में इस विषय पर साहित्याचार्यों ने अनेक वाद खड़े कर दिये हैं। कुछ यथार्थवाद के पक्ष में हैं और कुछ आदर्शवाद के। यथार्थवादियों का कथन है कि साहित्य में जीवन और जगत का वास्तविक चित्रण होना चाहिए। आदर्शवादियों का कथन है कि साहित्य में जीवन के आदर्श रूप का ही चित्रण किया जाए। उनके विचार से जीवन के कलुषित एवं गर्हित रूप का चित्रण करना समाज के लिए अति घातक एवं अहितकर है। साहित्य निर्माता को 'शिवत्व' को साहित्य का साधन मानकर यह लिखना चाहिए कि 'जीवन कैसा हो?' अतः सत्साहित्य का चरमलक्ष्य हित करना ही है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने

हितविधायक साहित्य के पक्ष में हैं। ऐसे साहित्य का बुद्धिमानों में भी आदर होता है :—

'जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं,
सो श्रम बादि काल कवि करहीं।
कीरति भनित भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित सोई।'

इस प्रकार 'शिवं' साहित्य का आदर्श है। 'सत्यं' और 'सुन्दरं' शिवं के स्वाभाविक एवं समन्वित गुण हैं। सत्य और साहित्य का सम्बन्ध अति घनिष्ठ है। सत्य, साहित्य के प्राण हैं। यही कारण है कि साहित्यकार सत्य हरिश्चन्द्र की भाँति कभी सत्य के पथ से विचलित होना नहीं जानता है। उसे प्रत्येक क्षण यह भय रहता है कि उसके सत्य में असत्य की दुर्गन्धि न आने पावे। इसीलिए वह कल्पना का आश्रय लेकर स्वाभाविकता उत्पन्न करने का सराहनीय कार्य करता है। सम्भव हो सकता है कि साहित्यकार अथवा कलाकार पर्वत जैसे विशालकाय पुरुष, उड़ाते हुए पर्वत, बोलती हुई सरिताएँ दिखादे किन्तु इसके पीछे भी साहित्यकार की प्रबल अभिलाषा निहित रहती है। वह चाहता है कि पाठकों द्वारा किसी न किसी प्रकार उसका साहित्य एक ग्राह्य रूप बने। अतिशयोक्ति के द्वारा साहित्यकार अपने भाव की पुष्टि करना चाहता है, असत्य का मार्ग ग्रहण करना नहीं चाहता।

सत्य की भाँति सौन्दर्य भी साहित्य का आदर्श है। हमारे भारतीय शास्त्र के अनुसार सौन्दर्य की परिभाषा निम्न प्रकार से है—

'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदवरूपं रमणीयतायाः'

—शिशुपाल वध

अर्थात् जो क्षण-क्षण में नवीनता धारण करे वही सौन्दर्य का रूप है। लोक सौन्दर्य की बिहारी जी ने निम्नलिखित प्रकार से व्याख्या की है —

'समै-समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय॥'

गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

'कहहिं काह कवि नीक जो जेहिभावइ।'

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मन को मुग्ध करने की शक्ति सौन्दर्य है। सुन्दर वस्तु सर्वदा आनन्द प्रदान करती है। सौन्दर्य में माधुर्य का होना आवश्यक है। 'चित्र द्रवीभावमयोऽल्हादो माधुर्यमुच्यते' अर्थात् जो आनन्द चित्त को द्रवीभूत करे वही माधुर्य है। इसलिए कवि का उद्देश्य सुन्दरता का समावेश करना होता है। वह जानता है कि सुन्दर वस्तु सबके हृदय को आकर्षित करेगी एवं प्रिय लगेगी।

पूर्व कथन के अनुसार श्रेष्ठ काव्य वही है जिससे गंगाजी के समान सबका हित हो। जो साहित्य जनहितकारी नही, वह साहित्य की संज्ञा धारण नहीं कर सकता है। किसी कवि का कथन अक्षरशः सत्य है—

'धर्म नीति और सदाचार का मूल्यांकन है जन हित !'

इस दृष्टिकोण को लेकर हमारे भारतीय साहित्य का निर्माण हुआ है। वस्तुतः भारतीय साहित्य का जन्म ही लोक कल्याण की भावना से हुआ है। संस्कृति साहित्य के प्रायः सभी प्राचीन काव्य एक विशेष आदर्शवाद का आधार लेकर लिखे गये हैं। भारतीय नाटकों का 'सुखान्त' एक आवश्यक गुण है। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य ने अनेक ऐसे काव्य रत्न प्रसव किये हैं जिनमें मानव जीवन के सभी आदर्श सुन्दरतम रूप में मिलेंगे। 'राम चरित मानम' में वीरता, धीरता, गम्भीरता, सुशीलता, विनम्रता, उदारता, सहिष्णुता आदि गुणों का समावेश पूर्ण रूप से हुआ है। अतः 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' ही भारतीय साहित्य का आदर्शवाद रहा है। योगिराज कृष्ण ने भी अर्जुन को श्रीमदभागवद्गीता में सत्यं, प्रिय तथा हितकर वचन बोलने का उपदेश दिया था।

'अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियंहितं च यत्।
स्वाध्यायाम्यसनं चैव वाङ्मय तप उच्यते।'

भारतीय साहित्यकारों ने सदा ही उपर्युक्त आदर्श का निर्वाह किया है। कारण-आदर्शवाद अनेक गुणों से पूर्ण है। पूर्णता, सामंजस्य, चयन तथा परिष्कार आदि इसके स्वाभाविक गुण हैं। इसके अतिरिक्त आदर्शवाद समाज के लिए पथ प्रदर्शक का कार्य करता है। ऐसे साहित्य में नीति और मर्यादा को प्रधानता देने के कारण समाज के कल्याण की भावनाएँ निहित होती हैं। इसमें मानव जीवन के पावन, आदर्शमय एवं भव्य रूप की झाँकी होती है। इसमें

आत्मा के विकास के सभी साधनों का उल्लेख होता है। उपदेशक से भी अधिक प्रभाव डालने की शक्ति आदर्शमय साहित्य में होती है। आदर्श साहित्य समाज के हृदय के साथ अपना सामंजस्य स्थापित करता है। इस प्रकार साहित्य में आदर्शवाद का समावेश लोक कल्याण के लिए अति आवश्यक है। भारतीय साहित्य प्रारम्भ से लोक-कल्याण तथा परलोक-कल्याण की प्रतिष्ठा करता आया है। युग के अनुकूल आदर्शों का बाह्य कलेवर परिवर्तित होता आया है किन्तु मूलतः जनहित की भावना से भारतीय साहित्य सदैव ही अनुप्राणित रहा है। भारतीय साहित्य के अन्तप्रदेश में जनहित की भावना कूट-कूट कर भरी है।

हिन्दी साहित्य के आदिकालीन कवियों का ध्यान आदर्शवाद की ओर अधिक नहीं रहा है। प्राचीन हिन्दी के सिद्ध और जैन कवियों की रचनाओं में काव्य का उद्देश्य योग, तन्त्र तथा रहस्यवाद आदि का निरूपण रहा। तदनन्तर सभी प्रकार के ज्ञान तथा व्यवहार आदि का चित्रण काव्य का आदर्श माना गया। कविवर चन्द ने 'पृथ्वीराज रासो' में लिखा है—

'उक्ति धर्म विसालस्य। राजनीति नवं रसं।
षट्भाषा पुराणं च। कुरानं कथितं मया॥"

इसके अतिरिक्त वीरगाथा काल के कवियों का उद्देश्य, वीर पुरुषों तथा विशेषकर राजा महाराजाओं की वीरता, वैभव एवं विलास का अतिशय पूर्ण वर्णन करना रहा। उस युग में वीरता जीवन का सर्वोपरि गुण समझा गया। निम्नलिखित दोहा में वीर भावना का अद्भुत समावेश है—

'भल्ला हुआ जो मारिआ, बहिणी महारा कंतु।
लज्जेजं तु नयंसिअहु, जइ भग्गा घस एंतु॥

—हेमचन्द्र

अर्थात् हे बहिन ! अच्छा हुआ जो मेरा पति युद्ध में मारा गया। यदि वह युद्ध भूमि से भाग आता तो मैं अपनी समान आयु वाली सखियों में लज्जा को प्राप्त होती।

इस काल के प्रायः सभी कवियों ने वीरोचित आदर्शों की स्थापना की।

'नायरा आज न माँड़ पग, काल सुरगीजै जंग।
धारा लागी जै धणी, तौ दीजै घरा रंग ।।'

—सूर्यमल

अर्थात् हे नाइन, आज मेरे पाँवों को मत रँग। कल युद्ध की सूचना है। यदि मेरे स्वामी धारातीर्थ में स्नान करें अर्थात् युद्ध भूमि में स्वर्ग प्राप्त करें तो फिर चिता में जलने से पूर्व सती होते समय खूब रँग देना।

जगनिक की वीरदपूर्ण मेघगर्जन में वीरगाथा कालीन काव्यादर्श अवलोकनीय है :—

'बारह बरिस लैं कूकर जीएँ औ तेरह लैं जिएँ सियार।
बरिस अठारह छत्री जीएँ, आगे जीवन के धिक्कार।'

तदनन्तर भक्तियुग आया। युग-परिवर्तन के साथ-साथ विचार-परिवर्तन भी हुआ। फलतः रक्तपूर्ण तलवार की छाया में पोषित हिन्दी काव्यादर्श भी बदल गये। कबीर आदि कवियों ने मिथ्या आडम्बर तथा अन्धविश्वास जनित मिथ्याचारों का खण्डन कर ज्ञान की चर्चा को काव्य का आदर्श माना। उन्होंने जन-जन को पर ब्रह्म के सत्य स्वरूप की पावन झाँकी करायी। सरल और अहमत्व रहित जीवन को आदर्श जीवन माना। इसके अतिरिक्त प्रेम को प्रधानता दी। उनकी वाणी का उद्घोष देखिए :—

'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पण्डित हुआ न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े, सो पण्डित होय।।'

जायसी आदि प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों ने भी अलौकिक प्रेम की पयस्विनी प्रवाहित की। उन्होंने प्रेम को जीवनादर्श मानकर प्रेम पूर्ण साहित्य का ही निर्माण किया, जायसी के नागमती के वियोग-वर्णन में प्रेम की आदर्शभावना कूट-कूट कर भरी है।

'पिय से कहो सँदेसड़ा हे! भौंरा हे काग'
सो धनि विरहनि जरि मुई तेइक धुँआ हम लाग।'

× × ×

'यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग गिरि परे, कन्त धरे जहँ पाँव।'

कृष्णमार्गी शाखा के कवियों ने भी प्रेम के उसी मधुर रूप को अपनाया। मीरा और सूर के पदों में प्रेम की सरस व्यंजना है। उनके काव्य का आधार ही प्रेमादर्श है।

'जोगिरा हुई जंगल सब हेरूँ, तेरा नाम न पाया भेस।
तेरी सूरत के कारणे धर लिया भगवा भेस॥'

× × ×

'काटि कलेजो मैं धरूँ, रे कौआ तू ले जाय।
ज्याँ देसाँ म्हारो पिव वसैं रे, वे देखत तू खाय।

—मीरा

तुलसीदास जी की दृष्टि काव्य के सर्वोत्तम आदर्श पर पड़ी। उन्होंने काव्य को पावनतम समझकर उसे मानव जीवन के लोक और परलोक निर्माण का साधन समझा। इसीलिए गोस्वामी जी के काव्य में भक्ति साकार रूप में प्रतिष्ठित हुई है। उन्होंने काव्य का आदर्श ईश्वरोपासना ही समझा। उनका मत था कि जन साधारण के गुणगान से कविता देवी अप्रसन्न हो जाती है—

'कवि कोविद अस हृदय विचारी। गावहिं हरि जस कलिमल हारी।
कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना। सिर धुनि गिरा लगति पछताना।'

यही कारण है कि गोस्वामी भक्त पहले थे, कवि पीछे। उनका उद्देश्य कविता-विवेक-प्रदर्शन नहीं था। वह तो सत्य का उद्घाटन करना चाहते थे—

'कवि न होउँ नहिं चतुर प्रवीना। सकल कला सब विद्या हीना।
कवित्त विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिख कागद कोरे॥'

तुलसीदास जी ने प्रभु-प्रेम में जीवन की सार्थकता समझी। उन्होंने चातक के प्रेम को आदर्श प्रेम माना।

'उपलि बरखि गरजति तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक जलद तजि, कबहुँ आन की ओर॥'

—दोहावली

वस्तुतः बिना प्रेम के जीवन नीरस है। यदि अन्धकारपूर्ण हृदय को कोई आलोकित करने वाली वस्तु है, तो प्रेम। यदि हृदतन्त्री के उलझे हुए तारों को सुलझाने का कोई साधन है तो प्रेम। यदि मुरझाई हुई आशा कलिका को

विकसित करने की शक्ति है, तो प्रेम। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेम ही माधुर्य है, प्रेम ही रस है। प्रेम के कारण भयंकर से भयंकर सर्प, सर्पिणी के समीप आकर शीतल निश्वास छोड़ता है। प्रेम के वशीभूत होकर सहस्रों हिरणियों का रक्तपात करने वाला सिंह अपनी प्रेयसि सिंहनी के चरणों पर लोटता है। प्रेम से मन्त्रमुग्ध होकर ही नीलकण्ठी मयूर अपनी मानस मरालिनी मयूरनी के साथ नृत्य करता हुआ आनन्दमग्न हो जाता है। अतएव प्रेम ही मधुरगीत तथा प्रेम ही सरस राग है। प्रेम के उपासक के लिए संसार में उपास्य ही सर्वस्व है। इसी प्रेम का पावनतम रूप ही भगवान है। अतः भक्ति-काल में काव्यादर्श प्रभुगुणगान ही रहा।

रीतिकालीन कवि काव्यादर्श को भूल बैठे। कविता केवल मनोरंजन का साधन रह गयी। इस युग में अनेक रीति तथा लक्षण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। काव्यशास्त्र के विविध अंगों की पूर्ण विवेचना हुई। भाषा परिष्कार भी हुआ। शृङ्गार रस का बोलबाला रहा। राधा-कृष्ण, शृङ्गार के आलम्बन के रूप में ग्रहण किये जाने लगे। फलतः हिन्दी काव्यादर्श की चिरप्रतिष्ठित भक्तिपूर्ण भावधारा विलुप्त सी हो गयी। हाँ, यत्र-तत्र, यदा-कदा भक्ति का परम्परागत रूप अंकित हुआ।

'मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परत, स्याम हरित दुति होय।'

—बिहारी,

× × × ×

जगत जनायो जिहिं सकल, सो हरि जान्यों नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखियै, आँखि न देखी जाहिं।

'जाके न काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवै नहि छोभ की दाहों।
मोह न जाहि रहै जग बाहिर-मोल जवाहिर ता अति चाहौं।
बानी पुनीत ज्यों देव धुनी रस आरद सारद के गुन गाहौं।
सील ससी सवित छविता कविताहि रचै कविताहि सराहौं॥'

—देव.

रीतिकालीन साहित्य में ऐसे काव्यादर्शपूर्ण स्थल अति अल्प मात्रा में हैं।

वस्तुतः इस युग के काव्य में शील, आचार, मर्यादा आदि का कोई महत्व नहीं रहा। साहित्यकारों का उद्देश्य केवल काव्य निर्माण था। लोक हित की ओर उनकी दृष्टि बिलकुल नहीं गयी। हाँ, सौन्दर्य का चित्रण-हुआ किन्तु उसने नग्न सौन्दर्य का रूप धारण कर लिया। नखशिख वर्णन में यह सौन्दर्य शील की सीमा का अतिक्रमण कर गया। अतः लोक हित के स्थान पर लोकाहित ही हुआ। रीति प्रवृत्ति की सघनता ने कविता को एक संकुचित क्षेत्र में परिवृत कर शब्दों की खिलवाड़ का रूप दे दिया। इस प्रकार रीतिकाल के कलाकार काव्यादर्श का पालन नहीं कर सके।

तदनन्तर उन्नीसवीं शताब्दि (विक्रमीय) की समाप्ति के साथ-साथ रीति प्रवृत्ति की भी समाप्ति हुई। राजनीतिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्यादर्श भी परिवर्तित हुए। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध राष्ट्रकवि मैथिलीशरण, रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद आदि साहित्यकारों ने भारतीय संस्कृति के विस्मृत आदर्शों की पुर्नप्रतिष्ठा की। कहीं देशभक्ति के गीत गाये जाने लगे, कहीं मातृभूमि पर शीश चढ़ाने के लिए वीरों की सेनाएँ सजने लगीं' कहीं अविद्या और अन्धकार को दूर करने के लिए सपथपूर्वक प्रतिज्ञाएँ ग्रहण की जाने लगीं। आधुनिक काल के पूर्व चरण के काव्य-ग्रन्थों में भारतीय साहित्य के चिरविश्रुत आदर्शों की सांगोपांग रूप से प्रतिष्ठा हुई। विश्व की नवीनतम मार्क्सवादी विचारधारा का भारतीय साहित्य पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। हिन्दी काव्य में प्रगतिवादी और यथार्थवादी धाराएँ इसी विश्व व्यापीय विचारधारा का प्रतिफलित रूप है। प्रगतिवाद का उद्देश्य साहित्य और जीवन का समन्वय करना रहा। इसीलिए प्रगतिवादी साहित्यकारों के आदर्श बदल गये। उन्होंने धर्म एवं सामन्तशाही को तिलांजलि देकर दीन, हीन, भूखे, शोषित, दलितवर्ग की सार्वदेशिक प्रगति में योग देना प्रगतिवाद का मुख्यादर्श समझा। भौतिक अभाव और जनता के दारिद्रय को दूर करना उन्होंने शिवत्व के रूप ग्रहण किया।

यथार्थवादी कलाकार प्रगतिवादी कलाकारों से दो पग और आगे निकल गये। उन्होंने जीवन के गर्हित, नग्न एवं अश्लील अंग के चित्रण में भी लोकहित के दर्शन किये। इसीलिए उन्होंने योनिभावना को भी काव्यादर्श के अन्तर्गत

रखना काव्य का परम लक्ष्य समझा । आज का साहित्यकार नित्य नये आदर्श अपनाता अपने पथ पर अग्रसर हो रहा है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि युग की विचारधारा के परिवर्तन के अनुकूल साहित्यिक विचारधारा भी परिवर्तित होती रही हैं । विचार-परिवर्तन ही काव्यादर्श-परिवर्तन का मूलाधार है । अतः प्रत्येक युग में विभिन्न कलाकारों ने विभिन्न आदर्श अपनाये हैं । मूलतः साहित्य के मूलादर्श समान ही हैं । जीवन का यथार्थ चित्रण काव्यादर्श की संज्ञा धारण नहीं कर सकता है । विवेकशीलता मानव संस्कृति का मापदण्ड है । राष्ट्रकवि डाक्टर मैथिलीशरण गुप्त जी का कथन अक्षरशः सत्य है—

हो रहा है जो जहाँ, हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ,
व्यक्त करती है, कला ही यह यहाँ ।'

अतः आदर्शवाद से च्युत काव्य निरर्थक है । लोक मंगल की उपेक्षा करने वाला, सत्य का गला घोंटने वाला तथा भदेस को महत्व प्रदान करने वाला साहित्य कभी साहित्य की संज्ञा धारण नही कर सकता है । हमारा भारतीय साहित्य सदैव से 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' का उपासक रहा है । आदर्शवाद भारतीय साहित्य का प्रमुख एवं स्वाभाविक गुण है । हमारे संस्कृत तथा हिन्दी के सभी प्राचीन काव्यों में आदर्शवाद का पूर्ण पुट है ।

'अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ।।'

—अथर्ववेद

अर्थात् पुत्र को पिता की आज्ञा माननी चाहिये । माता के अनुकूल चलना चाहिए । पत्नी को अपने पति से मीठी और शान्त वाणी बोलनी चाहिए ।

यदि साहित्य व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र का पथ प्रदर्शक है, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे वेद आदर्श के साकार रूप है । मातृभूमि-प्रेम अथवा देश-प्रेम का अनुपम आदर्श दृष्टव्य है :—

'उपस्थास्ते अनमीवा अयक्षा अस्मभ्यं संतु पृथिविप्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम् ।।'

—अथर्ववेद

अर्थात् हे मातृभूमि तेरी गोद में पैदा हुए पदार्थ हमें नीरोग बनाने वाले तथा यक्ष्मा आदि भयंकर रोगों से बचाने वाले हैं । अपनी लम्बी आयु भोगते हुए हम सदैव तेरे लिए अपना बलिदान देने वाले हों ।

तदन्तर संस्कृत ग्रन्थों में वैयक्तिक और सामाजिक आदर्शवाद की पूर्ण झाँकी होती है । हमारे पौराणिक ग्रन्थ, स्मृतियाँ, रामायण, महाभारत विशेष आदर्शों को लेकर ही लिखे गये हैं । उनमें आदर्शवाद के मूलाधार आचार, नीति एवं मर्यादा आदि की पूर्ण प्रतिष्ठा की गयी है । संस्कृत के पश्चात् पाली, प्राकृत आदि भाषाओं में आदर्शवाद की उसी परम्परा का निर्वाह हुआ है । बुद्ध जाति के आदर्शवाद के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं । उन्हें आचार शास्त्र की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त होगा । अपभ्रन्श काल में आदर्श पूर्ण साहित्य निर्मित नहीं हुआ । इस युग में आदर्श बन्धन कुछ शिथिल पड़ गये । भक्ति युग में पुनः पुरातन आदर्शों का दृढ़ता से प्रतिपादन किया गया । गोस्वामी तुलसीदास आदर्शवाद के प्रतिनिधि कवि हैं । रामचरित मानस में मानवता के वांछनीय एवं कल्याणप्रद आदर्शों का अद्भुत समन्वय है । सभी धर्मों ने 'माता-पिता' की आज्ञा मानना' परम धर्म माना है । तुलसी भगवान राम में उसी गुण की प्राणप्रतिष्ठा करते हैं—

'पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू । जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू ।'

इसीलिए तुलसी के मुखारिविन्द से कैसे हृदयस्पर्शी शब्द निकलते हैं—

'अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहिं पितु बैन ।
ते नर भाजन सुयश के, वसहिं अमरपुर ऐन ।'

हमारा साहित्य पितृभक्ति के ऐसे अनेक आदर्शों से भरा है—

'परशुराम पितु आज्ञा राखी । मारिअ मातु लोग सब साखी ।'

× × ×

तनय जजातिहु यौवन दयऊ । पितु आज्ञा अघ अजसि न भयऊ ।

इसी प्रकार भारतीय साहित्य में नारी आदर्श अति पावन हैं । नारी लोक

हित को मूलाधार है, शान्ति का अलौकिक स्रोत है। उसके पतिवृतत्व में मङ्गल भावना है। जायसी जी ने नारी को पूर्ण रूप से समादृत किया है—

'जियत कंत तुम हम्ह गर लाई। मुए कंठ नहिं छोड़हिं साँई॥
औ जो गाँठि कंत तुम जोरी। आहि अंत लहि जाइ न छोरी।
यह जग काह जो अछहि न आथी। हम तुम, नाह दूँहू जग साथी॥
गिरि पावक शशि मेघ रवि सहि न सकहिं वह आगि।
मुहम्मद सती सराहिये, जरै जो अस पिउ लागि।'

—पद्मावत

बन-गमन के समय सीताजी के मुख से निकले शब्दों में भी वही आदर्श कूट-कूट कर भरा है—

'जहँ लगि नाथ नेहु अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनि ते ताते।
तनु धनु धामु धरनि पुरु राजू। पति विहीन सब सोक समाजू॥'

—रामचरितमानस

इसी प्रकार हमारे हिन्दी साहित्य में वैयक्तिक आदर्श पूर्ण रूप से भरे हैं। तुलसीकृत राम चरितमानस विभिन्न आदर्शों का अक्षय भंडार है। भरत जी समाज में पापी व्यक्ति का उल्लेख करते हुए कहते हैं :—

बेचहिं वेद धरम दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं॥
कपटी कुटिल कलह प्रिय-क्रोधी। वेद विदूषक विश्व विरोधी॥
लोभी लम्पट लोलुप चारा। जे ताकहिं परधन परदारा॥

× × × ×

जे नहिं साधु संग अनुरागे। परमारथ पथ विमुख अभागे॥
जे न भजहिं हर नर तनु पाई। जिनहिं न हरि हर सुजस सुहाइ॥
तजि श्रुति पंथ बाम पथ चल हीं। बंचक बिरचि वेष जग छलहीं॥

—अयोध्याकाण्ड

भक्तियुग तक आदर्शवाद का समुचित निर्वाह होता रहा।

रीतिकालीन साहित्य में आदर्शवाद का नितान्त अभाव दिखाई देता है। कहीं-कहीं व्यक्तिगत रुचि अनुकूल रीतिकालीन कलाकार आदर्शों को अपनाते प्रतीत होते हैं। महाकवि देव का विश्व वन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत एक

अनुपम आदर्श देखिए। छुआछूत दूर करने के लिए उनका कथन देखिए :—

'हैं उपजे रज-बीज ही तें,
विनसे हू सबै छिति छार के छाँड़े।
एक से देखु कछू न विसेखु
ज्यों एक उन्हार कुम्हार के भाँड़े।
तापर ऊँच औ नीच बिचारि,
क्या बकिवाद बढ़ावत चाँडे।
वेदन मूँदि करी इन दूँदि,
कि सूद्र अपावन, पावन पाँड़े।।''

तदनन्तर आधुनिक युग में आदर्शवाद पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित प्रतीत होता है। आज के साहित्य की एक मात्र कसौटी आदर्शवाद का अक्षरशः पालन करना है। सत्यं, शिवं, सुन्दरं के गुणों से रहित साहित्य, साहित्य की श्रेणी में नहीं आ सकता है। प्रगतिवादी, गान्धीवादी आदि विचारधाराओं से आदर्शवाद की पूर्ण झाँकी होती है। यही नहीं मानवतावाद भी आदर्शवाद की आधार शिला पर विकसित हुआ है। आज के कलाकार के समक्ष सर्वप्रथम 'जन हिताय' का प्रश्न है। इसलिए प्रत्येक साहित्यकार लोक कल्याण का उद्देश्य लेकर ही आगे बढ़ता है। वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्द 'पर-हित सरिस धर्म नहिं भाई', लोक हित के सत्य का ही उद्घाटन करते हैं। अतीत और अनागत की विभाजक रेखा पर खड़ा हुआ मानव बीती हुई मानवता का उत्तराधिकारी है और आने वाले समाज के लिए नव मानवता का निर्माणक है। उसने जन्म, पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि सुविधाएँ समाज से अधिकारों के रूप में प्राप्त की हैं, उन्हें उसे कर्तव्यों के रूप में चुकाना है। मानव सेवा द्वारा अपने कर्तव्यों का पालन करता हुआ मानव व्यक्तिगत रूप से एक ओर जहाँ कुछ समाज को देता है, दूसरी ओर उससे अधिक सामूहिक रूप में ग्रहण कर लेता है। अतएव मानव जीवन की सार्थकता लोक-कल्याण में ही है। साहित्यकार समाज का सबसे अधिक संवेदनशील, सहृदय तथा समझदार व्यक्ति है। अतः साहित्यकार का पावन कर्तव्य लोक-सेवा, मानव-कल्याण एवं जनहित ही है। सारी सृष्टि में सारे प्राणी दुःखी हैं। कवि की इच्छा उसी दुख को दूर करने तथा पीड़ा को हरने की है।

सुमित्रानन्दन पन्त की आन्तरिक कामना में प्रत्येक कलाकार की कामना निहित है।

'जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित है अति सुख से,
मानव जग में मिल जायें,
सुख दुख से और दुख सुख से।'

अन्य साहित्यकारों की मानव कल्याण सम्बन्धित आदर्शवाद पूर्ण भावनायें देखिए :—

१— 'मैं निडर हूँ, मौत से डरता नहीं।
सत्य हूँ मिथ्या डरा सकती नहीं।
मैं निडर हूँ सत्य का क्या काम है?
मैं अहिंसक हूँ, न कोई शत्रु है।'

—रामनरेश त्रिपाठी

२— 'हमारी असि न रुधिर रत हो।
न कोई कभी हता हत हो।
शक्ति से शक्ति न अवनत हो।
भक्तिवश जगत एकमत हो।
वैरियों का वैर क्षय हो।
दयामय भारत की जय हो।'

—मैथलीशरण गुप्त

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक साहित्य अनेक आदर्शों से पूर्ण है। मैथिलीशरण गुप्त के साकेत की 'उर्मिला', यशोधरा की 'यशोधरा' तथा हरिऔध के प्रियवास की 'राधिका' अपने विशिष्ट आदर्श रखती हैं। प्रसाद जी के नाटकों में आदर्श कूट-कूट कर भरा है। स्कन्दगुप्त नाटक में 'देव सेना' का चरित्र निष्काम, निर्मल एवं निस्वार्थ प्रेम का आदर्श है। देव सेना के प्रेम के क्रिया कलापों की सीमा कितनी सरल, शान्त एवं मौन है वह कहती है—

'मैंने कभी उनसे प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है। नीरव-जीवन और एकान्त व्याकुलता कचोटने का सुख मिलता है। जब हृदय में

रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी में सब छिप जाता है।

—प्रसाद-स्कन्दगुप्त

आधुनिक काल में अनेक उपन्यास, कहानियाँ आदि भी सामाजिकता, धार्मिकता तथा राष्ट्रीयता आदि के आदर्श लेकर लिखे गये हैं। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों और कहानियों में कर्तव्यपरायणता, देश-प्रेम, सेवा-भाव आदि के अनेक आदर्शों की सजग व्यञ्जना हुई है। उनके 'गवन' में राष्ट्र-प्रेम, 'सेवा-सदन' में सेवाभाव, 'काया कल्प' में त्याग तथा ' रङ्गभूमि' में कर्तव्यनिष्ठा आदि आदर्श मूर्तिमान हो उठते हैं। इसी प्रकार अन्य कलाकार भी विशेषादर्श प्रतिष्ठित कर सके हैं। भारत भाग्योदय के इस पुनीत जागरण की मधुर वेला में अनेक तरुण और प्रौढ़ कलाकार आदर्शवाद का अक्षरशः पालन कर रहे हैं। अतः आज के आदर्श पूर्ण साहित्य में लोक-कल्याण के चिन्ह सुस्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। यह ठीक भी है। क्योंकि

जन-जन का हित-कर्त्ता,
हर्त्ता पीड़ा, दुख, अवसाद।
सत्य प्रतिष्ठित, सुन्दर शोभित,
वह है, अनुपम आदर्शवाद।

—रामजीलाल वधौतिया

यथार्थवाद

कवि अथवा कलाकार हमारे समक्ष एक चित्र उपस्थित करता है। एक सजीव चित्र, वास्तिविक चित्र, स्वाभाविक चित्र तथा जैसे का तैसा चित्र। कवि जैसा चित्र देखता है अथवा जिस रूप में चित्र देखता है, वैसा ही चित्र अथवा उसी रूप में चित्र, हमारे सामने रख देता है। कवि न उस चित्र में कोई परिवर्तन करता है ; न घटाता है और न बढ़ाता है। वह तो किसी वस्तु का, चरित्र का अथवा परिस्थिति का यथातथ्य अनुकरण करता है। वह अनुकरण चाहे किसी को प्रिय लगे अथवा अप्रिय। कवि अथवा कलाकार की अभिव्यक्ति की इस शैली को, हम यथार्थवाद की संज्ञा दे सकते हैं। यथातथ्य के अनुकरण की इस प्रवृत्ति का नाम ही यथार्थवाद है। वस्तुतः वह धारणा, जिससे अनुप्राणित होकर कलाकार शिव-अशिव, सुन्दर-असुन्दर का किञ्चिन मात्र भी ध्यान न रखते हुए, नित्य प्रति देखे सुने, सतत साहचर्य्य में आये, सभी चरित्रों एवं परिस्थितियों का चित्रण करता है, साहित्य में यथार्थवाद कहलाती हैं।

यथार्थवाद, आदर्शवाद से नितान्त भिन्न है। आदर्शवादी कलाकार अथवा कवि मानव समाज के लिए अनुकरणीय चरित्रों एवं परिस्थितियों का समावेश करता है। वह शिव-अशिव, सुन्दर-असुन्दर का पूर्ण ध्यान रखता है। अभाव, असामंजस्य, अस्वाभाविकता तथा अन्याय दिखाई देने पर वह अपने चित्र में परिवर्तन कर लेता है। आदर्शों के अनुसार अपनी रचनाओं में सुधार करने के लिए आदर्शवादी कवि स्वतन्त्र है। संक्षेप में सत्यं, शिवं, सुन्दरं—महावाक्य का अक्षरशः पालन करना ही आदर्शवाद का सिद्धान्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव-चित्रण शैली के दो रूप हैं—प्रथम यथार्थवाद और द्वितीय आदर्शवाद। स्वाभाविक, सरल, स्पष्ट तथा निर्भीक चित्रण—यथार्थवाद का सबसे प्रमुख गुण है। सत्य, नीति, न्याय की विजय कामना-आदर्शवाद का पावन उद्देश्य है। वास्तव में यथार्थवाद तथा आदर्शवाद दोनों ही साहित्य की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ हैं। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी जी के कथानानुसार

"यथार्थवाद तथा आदर्शवाद दोनों ही चित्रण शैली के दो स्थूल विभाग मात्र हैं दोनों ही शैलियाँ लेखक के दृष्टिकोण पर अवलम्बित रहती हैं। कला की सौन्दर्य-सत्ता की ओर दोनों का झुकाव रहता है। आदर्शवाद में विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित होता है। यथार्थवाद में सामान्य अभीष्ट के चित्रण द्वारा इष्ट की व्यंजना होती है।" कवि-सम्राट स्वर्गीय जयशंकरप्रसाद जी के मतानुसार यथार्थवाद 'जीवन की अभिव्यक्ति' और आदर्शवाद 'अभावों की पूर्ति है। श्री शिवदानसिंह ने आदर्शवाद को 'पलायनवाद' माना है। प्रगतिवादी लेखकों के मतानुसार यथार्थवाद ही सच्चा साहित्य है।

साधारणतया जो नित्य हमारे नेत्रों के सामने घटता है, वही यथार्थवाद है। उसमें जीवन और जगत का वास्तविक अङ्कन होता है। उसमें पाप-पुण्य, आशा-निराशा, जय-विजय, सत्य-असत्य, सुख-दुख आदि सभी अपने यथार्थ रूप में अङ्कित होते हैं। उसमें 'भुलावा देकर' कवि अपने को स्वर्गिम देश में लेजाने के लिए प्रार्थना नहीं करता है। वह तो सत्य का चिरसेवी तथा उपासक होता है। वह असत्य का आवरण डालकर सत्य का गला घोंटना नहीं चाहता है। वह असत्य के साधन द्वारा असुन्दर को सुन्दर बनाना नहीं चाहता है। उसमें सत्य हरिश्चन्द्र जैसा साहस होता है। इसीलिए वह कठोर तथा अप्रिय सत्य कहने में नहीं हिचकिचाता है। यथार्थवादी कवि, संसार अथवा समाज की कलुष-कालिमा के नग्न चित्रण में अति आनन्द लेता है। वह किसी चित्र की अस्वाभाविकता एवं असुन्दर को असत्य कल्पना से रंजित कर दूर करना नहीं चाहता है। कारण वह वास्तविकता एवं स्वाभाविकता का पुजारी है। इसप्रकार यथार्थवाद दर्पण की भाँति जीवन के वास्तविक रूप को हमारे समक्ष रखता है। यदि साहित्य को जीवन का दर्पण कहा जाए, तो यथार्थवादी कवि वास्तव में कवि कहलाने का अधिकारी हो सकता है। पाश्चात्य साहित्य में तो यथार्थवाद कूट-कूट कर भरा है। टोमसहार्डी का कथन देखिए :—

'Let there be Truth at last, even if despair.'

अर्थात् निराशा में भी सत्य हो, तो अति उत्तम है। आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान को सौन्दर्य एवं शिव से कोई सम्बन्ध नहीं है। वैज्ञानिक की दृष्टि में सौन्दर्य तथा शिव दोनों गौणातिगौण हैं। वह तो सत्य का उपासक

है, निरावरण सत्य का संक्षेप में विज्ञान सत्य के अधिक समीप है। अतएव साहित्य में भी सत्यता, यथार्थता आदि गुण जीवन में वास्तविकता अंकुरित कर सकते हैं। यथार्थवादी साहित्य की वृद्धि एवं लोकप्रियता इस बात का जीता-जागता उदाहरण है। यथार्थवाद में आधुनिक जीवन की अनुरागपूर्ण झाँकी पूर्णरूपेण लक्षित होती है। कारण—यथार्थवादी कवि स्पष्ट एवं निर्भीक कलाकार है। उसका सिद्धान्त अलौकिक है—

'नभ टूटे, पृथ्वी गले, नहिं छोड़ेंगे सत्य।'

सत्यपालन यथार्थवादी कवि के जीवन का परमलक्ष्य है। यथार्थवादी कवि जानता है—सत्य ही प्रकाश है। सत्य ही सुख है, सत्य अटल है, अजर है, अमर है। वह देखता है—प्रकृति में ऐसी कोई वस्तु नही जो सत्याश्रित न हो। उसकी सारी वस्तुएँ सत्य का पालन करती हैं। रवि नित्य ही नियमित रूप से उदित होता है। चन्द्र सदैव ही शीतलता प्रदान करता है। तारे सदैव ही अपने प्रकाश पुञ्ज से विभावरी के अंधकार के आवरण को दूर हटाने का प्रयास करते हैं। वायु सदैव ही अखिल विश्व के जीवधारियों को जीवन प्रदान करती है। कल्लोलिनी नित्य ही कल-कल की ध्वनि करती हुई अपने पथ पर अग्रसर होती चली जाती है। वस्तुतः यथार्थवादी कवि की दृष्टि में सत्य ही गति है तथा सत्य ही प्रगति। सत्य ही काव्य है, सत्य ही दर्शन। इतिहास का आधार सत्य है। विज्ञान का ज्ञान सत्य है। सत्य ही रहस्य है तथा सत्य ही आश्चर्य। सत्य ही वह देखता है, सत्य ही तोलता है, सत्य ही खोजता है। उसके जीवन में सबसे महान कर्तव्य, सत्य का शोधन करना है। किसी कवि के शब्द यथार्थवाद के परमपोषक हैं—

'आग्रह करके सदा सत्य का जहाँ कहीं हो शोध करो,
डरो न कभी प्रगट करने में अनुभव जो भी बोध करो।'

अतः जैसी को तैसी कहना ही यथार्थवाद है। यथार्थवाद की सबसे बड़ी विशेषता सत्यप्रियता ही है। सत्य का हनन करना यथार्थवादी कवि के लिए सबसे बड़ा पाप है। साहित्य का आदर्शवाक्य है 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं।' यथार्थवाद केवल सत्य को, निरावरण सत्य को प्राथमिकता देता है। उसे शिवं अथवा सुन्दरं से कोई द्वेष नहीं, चिढ़ नहीं। कामना यथार्थवादी कवि की भी रहती है

कि उसके काव्य में शिवं तथा सुन्दरं के गुणों का समावेश हो किन्तु उसकी दृष्टि में सत्यं की अपेक्षा इनका स्थान गौणातिगौण है। उसका अमर विश्वास है कि शिवं तथा सुन्दरं सत्य के अनुगामी हैं। इसप्रकार यथार्थवाद विज्ञान के अथवा आधुनिक युग के अधिक समीप है। उस पर आधुनिक सामयिक विचार धारा की सुस्पष्ट छाप है।

प्रश्न विचारणीय है कि हिन्दी में यथार्थवाद का उद्भव कब हुआ? कतिपय विद्वानों की धारणा है कि 'साहित्य समाज का दर्पण है।' इस दृष्टिकोण से प्रत्येक साहित्य तत्कालिक युग का चित्रण करता है। अतः सभी साहित्यकारों की कृतियों में मूलतः यथार्थ चित्रण ही होता है। साहित्यकार समाज से पृथक कोई सत्ता नहीं रखता है। वह समाज से भिन्न प्राणी नहीं है। वह भी समाज की इकाई है। सामाजिक भावनाओं, मनोवृत्तियों आदि का साहित्यकार के संवेदन-शील हृदय पर प्रभाव पड़ता है। सामाजिक भावनाओं की सहानुभूति से साहित्य-कार के मानस में जो भाव अंकुरित होते हैं, वही भाव साहित्य में एतादृशः चित्रित कर दिये जाते हैं। साहित्यकार के हृदयरूपी तालफलक के माध्यम द्वारा सामाजिक भावनाएँ साहित्य का रूप धारण कर लेती हैं। साहित्यकार की अनुभूति वास्तविक एवं यथार्थ होती है। अतएव यह स्पष्ट है कि प्रत्येक युग में यथार्थवादी साहित्य का सृजन होता है। यह सत्य है कि विभिन्न युगों में साहित्यिक विचारधाराएँ भी विभिन्न रहती हैं। युग बदलता है। विचारधाराएँ बदलती हैं। समाज बदलता है। अतः साहित्य का बदलना भी स्वाभाविक है। किन्तु इस बदलते हुए साहित्य में भी यथार्थ की झाँकी प्रचुरता से होती है। विश्व के विभिन्न साहित्य इस बात के प्रमाण हैं।

अन्य विद्वानों के मतानुसार यथार्थवाद नितान्त नवीनतम विचारधारा है। यह आधुनिक युग की देन है। छायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में यथार्थवाद का जन्म हुआ। छायावाद की अतीन्द्रियता, अमूर्तसाधना, रहस्यभावना, कल्पनासृष्टि आदि छायावाद के पतन के मुख्य कारण हुए। इसके अतिरिक्त छायावाद में अध्यात्म का अभाव था। फलतः पलायनवृत्ति छायावाद की एक विशेषता बन गयी। परिवर्त्तन प्रिय कवियों ने इस अवसर का लाभ उठाया। उन्होंने प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि आधुनिक जीवन की सफल अभिव्यक्ति के लिए

वायवी भाव वस्तु पूर्ण शैली अनुपयुक्त है। छायावाद की एकान्त, अन्तर्मुखी आकाश चारिणी कविता वास्तविक जीवन के अंचल को स्पर्श करने में नितान्त असमर्थ है। यथार्थवादी साहित्य जीवन के अधिक निकट है। अतः यथार्थवाद के प्रादुर्भाव का मुख्य कारण छायावाद का पतन ही कहा जाएगा। कविवर पन्त ने स्वीकार किया है कि छायावाद, नये युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका। उसमें व्यावसायिक क्रान्ति और विकासवाद के बाद का भावना-वैभव तो था पर महायुद्ध के बाद की 'अन्नवस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी। उसके 'ह्रास-अश्रु', 'आशाऽकाँक्षा,' 'खाद्य-मधुपानी' नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ़, रहस्यात्मक, भावप्रधान (सबजेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेकनीक आवरणमात्र रह गया।"

इसके अतिरिक्त फ्राइड और डार्विन की विचारधाराएँ भी यथार्थवाद के आविर्भाव का कारण हुई। युगपरिवर्तन के कारण भारतीय साहित्य के आदर्शवाक्य, 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का आशय भी परिवर्तित हो गया। इस पर विश्व के परिवर्तित दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ा। अब सत्य का अर्थ भौतिक वास्तविकता के अर्थ में ग्रहण किये जाने लगा। जो स्वाभाविक अथवा प्रकृत है, वह सुन्दर समझा जाने लगा। शिव का अभिप्राय भौतिक जीवन एवं सामाजिक विकास के सहायक के अर्थ में लिये जाने लगा। फलतः प्राचीन दार्शनिक दृष्टिकोण भी बदल गया। अब तक साहित्य इन्द्रियों के दमन और शमन का उपदेश देता था। अब दृष्टिकोण के परिवर्तन से मानव प्रवृत्तियों की क्षुधा को शान्त करने का साधन समझा गया। अतः यथार्थवादी साहित्योदय का अन्य कारण फ्राइड का सैक्सवाद तथा डार्विन का विकासवाद भी है।

विज्ञान के विकास से सारा विश्व एक सूत्र में सम्बन्धित हो गया। सुदूरवर्ती भूमिखण्ड एक हो गये। सभ्यता, संस्कृति, साहित्य तथा शिक्षा के परस्पर आदान-प्रदान हुए। एक देश की विचारधारा का दूसरे देश की विचारधारा पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। भारत भी इसका अपवाद नहीं रहा। रूस से प्रसिद्ध कवि मायकावस्की के उद्गार :—

'श्रीमान् कवियों,
क्या तुम नहीं थके
इन महलों, राजकुमारियों, प्रेम और नरगिस के गुच्छों से ?
अगर जैसे तुम हो
वैसे ही कलाकार होते हैं,
तो मैं कविता पर थूकता हूँ ।'

भारतीय आदर्शवाद के लिए घातक सिद्ध हुए । रूस की विश्व-व्यापी लहर का भारत पर पूर्ण प्रभाव पड़ा । यहाँ शुष्क तथा कोरी कल्पना पूर्ण आदर्शवादी कविता को अस्वाभाविक एवं असामयिक समझा गया । अतः यथार्थ-वादी कविता के उद्‌भव का कारण रूस की व्यापक मार्क्सवादी विचार-धारा भी कही जा सकती है ।

वस्तुतः हिन्दी में यथार्थवादी कविता का आविर्भाव व्यापक रूप से उस महान् आदर्शवाद के विरोध में हुआ, जिससे समस्त भारतीय साहित्य सदा से अनुप्राणित रहा है । आधुनिक युग में, पाश्चात्य देशों की संस्कृति, सभ्यता, शिक्षा आदि का भारतीय विचार-धारा पर सम्यक् प्रभाव पड़ा । फलतः सभी भारतीय आदर्श शिथिल हो गये । भारतीय-धार्मिक आदर्शों के बन्धन ढीले पड़ गये । धर्म में आस्था विलीन होने लगी । नैतिक सिद्धान्तों का स्तर भी गिरने लगा । चारित्रिक बन्धनों को चरित्र की दुर्बलता समझा गया । प्राचीन भारतीय धार्मिक ग्रन्थों को ब्राह्मणों का आडम्बर वाद समझा गया । सामाजिक दृष्टिकोण परिवर्तित होने से साहित्यिक विचार-धारा भी परिवर्तित हो गयी । अतः हिन्दी में यथार्थवादी कविता का जन्म, पाश्चात्य यूरोपीय विचार-धारा का प्रतिफल ही कहा जाएगा ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यथार्थवाद के प्रादुर्भाव के विषय में विद्वानों की विभिन्न धारणायें है । यथार्थतः यथार्थवाद हमारे भारतीय साहित्य में सहसा कोई नवीन वस्तु नहीं है । हमारे संस्कृत-साहित्य में यथार्थवाद की स्पष्ट झाँकी होती है । संस्कृत काव्याचार्यों के एक विशेष वर्ग ने 'स्वाभावोक्ति' अलंकार को कविता का मुख्य गुण माना है । 'स्वाभावोक्ति रसौचारुः यथावत वस्तु वर्णनम्', अर्थात् किसी वस्तु का यथावत् दूसरे शब्दों में यथार्थ चित्रण ही

सरसता है । अतएव स्पष्ट है कि यथार्थवाद हमारे भारतीय साहित्य की मौलिक विचार-धारा है । हमारे पौराणिक ग्रन्थों में अनेक कथाएँ यथार्थवाद की सुस्पष्ट झाँकी कराती हैं । रामायण युग में अयोध्या नरेश महाराज दशरथ की बहु-पत्नियों के कारण राम वनवास तथा राजा के स्वर्गवास आदि की कथाएँ यथार्थवाद का चित्रण ही करती हैं । इसी प्रकार महाभारत काल में द्यूतक्रीड़ा के दुर्व्यसन तथा कौरव वंश की उत्तराधिकार परम्परा के दोष से भीषण महा-भारत के युद्ध का उल्लेख यथार्थ-चित्रण ही कहा जा सकता है । वीरगाथा काल में भारत में सामूहिक शक्ति के अभाव, पारस्परिक मलोमालिन्य तथा स्वयंवर अथवा डोला की प्रथा द्वारा जो असंख्य घातक गृहयुद्ध हुए तथा यवन, आक्रमणकारी भारत आये—इन सबका विस्तृत उल्लेख वीरगाथा काल की रचनाओं में मिलता है । इन रचनाओं में तत्कालीन भारतीय सामाजिक पतन तथा मिथ्याभिमानी राजाओं की अपूर्ण राजनैतिक दृष्टि तथा अदूरदर्शिता का यथार्थ-चित्रण मिलता है । इस प्रकार हिन्दी साहित्य अपने इतिहास के आदि काल से यथार्थवाद का पोषक रहा है ।

भक्ति-काल में यथार्थवाद की अविच्छिन्न धारा अधिक स्पष्ट हो गयी है । कतिपय साहित्यिक महारथियों का मत है कि हिन्दी में यथार्थवाद का श्रीगणेश ही भक्ति युग से हुआ है । संत कवियों की रचनाओं में यथार्थ उक्तियों का पूर्ण समावेश है । कबीर की अटपटी वाणी में यथार्थवाद कूट-कूट कर भरा है ।

दिन भर रोजा रहत हैं, रात हनत हैं गाय ।
यह तो खून वह बंदगी, कैसे खुशी खुदाय ।।

× × ×

बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल ।
जो नर बकरी खात है तिनका कौन हवाल ।।

× × ×

अपनी देखि करत नहिं अहमक, कहत हमारे बड़न किया ।
उसका खून तुम्हारी गरदन जिन तुमको उपदेस दिया ।।

× × ×

दुनिया ऐसी बावरी पत्थर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजे, जाका पीसा खाय।।

× × ×

मूँड मुड़ाये हरि मिले, तो हर कोइ लेय मुड़ाय।
बार-बार के मूँड ते भेड़ न बैकुंठ जाय।।

अतएव स्वीकार करना पड़ेगा कि कबीर के स्वर में रोजा नुमाज, कर्मकाण्ड, और जप-तप के विरोध में निर्भीकता एवं यथार्थता कूट-कूट कर भरी है। यह यथार्थता कबीर के युग की माँग थी। इसीलिए कबीर तथा उनके परवर्ती कवि अधिक विद्रोही, प्रगतिशील तथा स्पष्ट वक्ता प्रतीत होते हैं।

मृत्यु जीवन का कटुतम सत्य है। कबीर ने ऐसे स्थलों पर भी यथार्थता का चित्रण किया है।

'हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी-केस जरें ज्यों घास।
सब तन जरता देखिके, कबिरा भया उदास।।'

प्रायः सभी संत कवियों की वाणी का आधार ही समाज का यथार्थ-चित्रण रहा। तत्कालीन समाज के दोषों, दुर्गुणों, तथा दुर्व्यवस्थाओं की यथार्थता की ओर जन-साधारण को आकृष्ट कर ही, संत कवि अपने धार्मिक सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित कर सके। इसीलिए इन कवियों के उपदेशों में यथार्थता का पूर्ण पुट है।

ज्ञानाश्रयी शाखा के संत कवियों के पश्चात् प्रेममार्गी संत कवि अवतरित हुए। ये कवि प्रेम की साकारिता का पाठ पढ़ाने के लिए अपनी रचनाएँ करते थे। अतएव इन कवियों की रचनाओं में अप्रिय सत्याश्रिय यथार्थता का अभाव प्रतीत होता है। सगुण भक्ति के कवि भी जीवन के उस पार के ही गीत गा सके। हाँ सूरदास तथा तुलसी आदि कवियों की रचनाओं में कुछ अंशों में यथार्थता के दर्शन हुए। सूरदास जी ने विनय के पदों में तथा गोपी उद्धव संवाद में यथार्थता को ग्रहण किया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कलियुग की सामाजिक एवं धार्मिक विषमताओं का उल्लेख कर तत्कालीन भारतीय समाज का यथार्थ चित्रण किया है। कलि वर्णन में यथार्थवाद कूट-कूट कर भरा है।

'बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर-नारी ॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन ॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पण्डित सोइ जो गाल बजावा ॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई ॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी ॥
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना ॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी ॥
जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला ॥
असुभ वेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं ॥

[अर्थात् कलियुग का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि कलियुग में न वर्णधर्म रहता है, न चारों आश्रम रहते हैं। सब पुरुष-स्त्री वेद के विरोध में रहते हैं। ब्राह्मण वेदों के बेचने वाले और राजा प्रजा को खा डालने वाले होते हैं। जिसको जो अच्छा लगे, वही मार्ग है। जो डींग मारता है, वही पण्डित है। जो मिथ्या आडम्बर रचता है और जो दम्भ में रत है, उसी को सब कोई सन्त कहते हैं। जो दूसरों का धन हरे, वही बुद्धिमान है। जो दम्भ करे, वही चरित्रवान् है। जो झूँठ बोले, मजाक करे, वही गुणवान है। जो चरित्रहीन है, वेदों को छोड़े है, वही ज्ञानी तथा वैराग्यवान। जो बड़े नाखून और लम्बी जटाएँ रक्खे, वही प्रसिद्ध तपस्वी है। जो अशुभ वेष धारण करे, अशुभ गहने पहने, न खाने योग्य भोजन करे, वही योगी तथा वही पूजने योग्य है।]

कहीं-कहीं तो उनके काव्य की स्वाभाविकता एवं यथार्थता को देखकर हम मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं।

अबला कच भूषन भूरि छुधा। धनहीन दुखी ममता बहुधा ॥
सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता। मति थोरि कठोरि न कोमलता ॥

× × ×

कलि काल बिहाल किये मनुजा। नहिं मानत को अनुजा तनुजा।
नहिं तोष विचार न सीतलता। सब जाति कुजाति भए मगता।

आज के नैतिक पतन, चरित्रहीनता तथा वासनापूर्ण विचारों का कैसा सजीव चित्रण है ।

तदनन्तर रीतिकालीन कविता जीवन से बहुत दूर है । उसमें नायिकाभेद, शृङ्गाररस, कल्पना, माधुर्य, अलंकृत सज्जा तथा विरह मिलन के चित्रों का प्राधान्य है । उसमें न आदर्शवाद का पालन ही हो सका है और न यथार्थवाद का अंकन । उसमें 'राधाकृष्ण' की ओट लेकर नग्नवाद एवं भोगवाद का चित्रण हुआ है । कहीं-कहीं अन्योक्तियों का अवलम्बन लेकर कवियों ने यथार्थता को अव्यक्त रूप से अंकित करने का प्रयास किया है । बिहारीलाल जी के निम्नलिखित दोहों में यथार्थता एवं स्पष्टता का अंकन ही है---

'नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल ।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल ।'

× × × ×

'स्वारथ, सुकृत न श्रम विथा, देखि विहंग विचार ।
बाज पराये पान परि तू पर पंछीन न मार ।।'

महाकवि भूषण के काव्य में यद्यपि अतिशयता है फिर भी तत्कालीन हिन्दू समाज का यथार्थ चित्रण है । जब वह शिवजी की वीरता का वर्णन करते हैं, तो स्वाभाविकता झलकती हुई दिखाई देती है । यथार्थवाद की स्पष्टतर झाँकी अवलोकनीय है---

'सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे ।
जानि गैर-मिसिल गुसीले गुसा धारि उर,
कीन्हों न सलाम, न बचन बोले सियरे ।।
भूषन भनत महावीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गये जियरे ।
तमक तें लाल मुख सिवा को निरखि भयो,
स्याह मुँह नौरंग, सिपाह-मुख-पियरे ।।'

इसके पश्चात् आधुनिक काल का श्रीगणेश होते हुए एक स्वर उभरता है जो "स्पष्टतः हिन्दी काव्य में नवीन चेतना, नवीन विचारधारा तथा नवीन शैली के

आगमन का द्योतक है। वह स्वर भारतीमाता के सपूत भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का है। उनकी वाणी में यथार्थवाद कूट-कूट कर भरा है। निम्नलिखित पद में ज्ञान के सुविख्यात स्थान काशी के धर्म, मर्यादा आदि की आलोचना यथार्थ रूप में हुई है—

'देखी तुमरी कासी लोगो, देखी तुमरी कासी।
जहाँ विराजै विश्वनाथ विशेश्वर जी अविनासी।।
लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे वे विश्वासी।
महा आलसी झूठे शुहदे वे फिकरे बदमासी।।
अमीर सब झूठे औ निन्दक करें घात विश्वासी।
साहेब के घर दौड़े जावें चंदा देहिं निकासी।।
चढ़ै बुखार नाम मंदिर का सुनतहि होय उदासी।
घालि रुपैया काढ़ि दिवाला माल डकारें ढाँसी।।
राम नाम मुँह से नहिं निकसे सुनतहि आवे खाँसी
देखी तुमरी कासी मैया, देखी तुमरी कासी।।'

—भारतेन्दु—प्रेमयोगिनी नाटिका

स्पष्टवादिता, निर्भीकता तथा यथार्थता भारतेन्दु जी के काव्य के सबसे बड़े गुण हैं। उनके व्यंग्यबाण यथार्थ थे। उनके निबन्धों में जैसे 'अँग्रेज स्तोत्र' में, उनके नाटकों में, यथा अँधेरनगरी आदि में उनकी कविताओं में यथार्थवाद का पूर्ण समावेश परिलक्षित होता है। समाज, संस्कृति, धर्म, सरकार आदि सभी पर उन्होंने व्यंग्यबाणों की वर्षा की है। व्यंग्यबाण सार्थक, अर्थगर्भित, मर्मस्पर्शी तथा यथार्थ हैं। सन् १८७४ की होली के अवसर पर लिखी भारतेन्दु जी की कविता में यथार्थवाद का पुट द्रष्टव्य है।

'भारत में मची है होरी।
इक ओर भाग-अभाग, एक दिसि होय रही झकझोरी।
अपनी-अपनी जय सब चाहत, होड़ परी दुँह ओरी,
दुंद सखी बहुत बढ़ौ री!
फूँक्यौ सब कुछ भारत ने कछु हाथ न हाय रहो री;
सत्र रोअन मिस चैती गाई, भली भई यह होरी,
भलो तेवहार भयो री,

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु जी प्रथम कवि थे जिन्होंने रीतिकालीन समस्त कल्पना विलास, कोमल कान्त पदावली तथा राज-दरबारों के अश्लील एवं नग्न चित्रण पर पर्दा डालने का प्रयास किया। इसीलिए काव्य में व्यंग्यवाण अति अचूक तथा यथार्थ है। उनके समकालीन साहित्यकारों में भी वही स्पष्टवादिता दिखाई देती है। उस काल के लेखक किसी न किसी पत्र से येन-केन प्रकारेण सम्बन्धित थे। अतएव उनमें यथार्थता पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित प्रतीत होती है। यह युग रीतिकाल तथा आधुनिक काल का मिलन बिन्दु था। उस समय आर्थिक विषमताएँ भी इतनी नहीं थीं। सेक्स की विकृति यह रूप धारण नहीं कर पायी थी। अतः उस काल का यथार्थवाद एकांगी ही कहा जा सकता है।

तदनन्तर महावीर प्रसाद द्विवेदी युग का प्रारम्भ होता है। द्विवेदी सुधारवादी तथा आदर्शवादी दृष्टिकोण लेकर साहित्य क्षेत्र में अवतरित हुए थे। उनके काव्य का उद्देश्य देशवासियों की दशा सुधारने तथा उनको उन्नत पथ पर लाने का था। द्विवेदी जी तथा उनके समकालीन लेखकों की यही प्रवृत्ति रही। अतएव इस युग के कवियों की रचनाओं में तत्कालीन देश की दुर्गति, दुर्व्यवस्था, दुःख तथा दरिद्रता आदि का यथार्थ चित्रण है। देश की दुर्दशा का चित्रण कर के ही ये कवि देशवासियों में चेतना का मन्त्र फूकना चाहते थे—

'गली-गली कंगाल पेट पर हाथ दोऊ धरि धावैं।
अन्न-अन्न, पानी-पानी कहि घोर प्रचंड मचावैं।।
बालक, युवा, जरठ नारी-नर भूख भूख कहि गावैं।
अविरल अश्रु धार आँखिन ते बारम्बार बहावैं।।

—द्विवेदी काव्यमाला

मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय आदि कवियों ने भारतीय समाज की कारुणिक अवस्था के सजीव चित्र अङ्कित किये हैं। गुप्त जी की 'भारतभारती' में यथार्थवाद का अंकन अत्यन्त ही हृदय स्पर्शी है। यद्यपि इस युग के लेखकों की मूल प्रवृत्ति सुधारवाद की है किन्तु सुधारवाद के मूल में भी यथार्थवाद के प्राण मुखरित हैं।

छायावादी युग में छायावादी कुंठाओं आदि ने यथार्थवाद पर एक प्रकार

का आवरण सा डाल दिया है। प्रत्येक बात अव्यक्त एवं अबोधगम्य रूप में व्यक्त किये जाने लगी। सुधारवाद तथा आदर्शवाद के व्यापक दृष्टिकोण ने कवि की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति पर नियन्त्रण लगा दिया। द्विवेदी कालीन कविता की इतिवृत्तात्मकता से कविता लोकानुभूति के स्वाभाविक गुण को खो बैठी। अतः छायावाद का प्रादुर्भाव द्विवेदी युग की साहित्यिक मान्यताओं के विरोध में खड़ा हुआ। फलतः छायावाद में यथार्थता का पूर्णाभाव रहा। इस काव्य को रीति-कालीन शृङ्गारपरक काव्य का आधुनिक कलात्मक संस्करण मान सकते है। जिस प्रकार रीतिकाल की कविता जीवन से अति दूर की वस्तु रही, इसी प्रकार छायावाद की कविता भी लोक के उस पार की वस्तु रही। इसीलिए कतिपय विद्वानों ने छायावाद को 'पलायनवाद' की संज्ञा दी। तात्पर्य यह है कि छाया-वाद के युग में यथार्थ चित्रण न हो सका।

छायावाद के पश्चात् हिन्दी साहित्य में वादों का युग आया। विभिन्न वादों के रूप में हिन्दी कविता-स्रोत निसृत हो उठे। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि इनमें प्रधान थे। प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव, मजदूर, कृषकों तथा शोषितवर्ग के प्रति सहानुभूति की भावना से हुआ था। साम्यवादी विचारधारा का प्रगति-वाद पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। शोषक का शोषण तथा शोषित का पोषण ही साम्यवाद चाहता है। फलतः प्रगतिवादी काव्य में मजदूर, दीन, दुखी, तथा पीड़ित समाज के चित्रण में यथार्थवाद का चित्रण होने लगा। निराला जी की रचना—

'वह तोड़ती पत्थर
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर।'

से यथार्थवाद का श्री गणेश हुआ। तदनन्तर सर्वहारा वर्ग के प्रति कवियों की संवेदना की अभिव्यक्ति होने लगी। वस्तुतः यथार्थवादी कविता का सूत्रपात यहीं से हुआ। निराला जी द्वारा भिक्षुक चित्र में यथार्थता का पूर्ण पुट है—

'वह आता।
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक

मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को ।
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता ।
वह आता ।'

भगवती चरण वर्मा ने 'भैंसा गाड़ी' नामक कविता में भूखे, नग्न किसानों का हृदयद्रावक एवं यथार्थ चित्र अंकित किया है—

'वे भूखे अधखाए किसान,
भर रहे जहाँ सूखी आहें ।
नंगे बच्चे चिथड़े पहने,
माताएँ जर्जर डोल रही ।
है जहाँ विवशता नृत्य कर रही,
धूल उड़ाती हैं राहें ।

उदयशंकर भट्ट ने एक श्रमिक का मर्मभेदी यथार्थ चित्र उपस्थित किया है—

'मेरी बरसातें आँसू से मेरा बसन्त पीला शरीर,
गरमी झरनों सा स्वेद, मेरे साथी दुख दर्द पीर ।
दिन उनको मुझको रात मिली, श्रम मुझे उन्हें आराम मिला,
बलि दे देने को प्राण मिले, हुण्टर को सूखा चाम मिला ।

दिनकर जी की कविताओं में भी यथार्थवाद का पूर्ण समावेश है—

'श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं ।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं ।
युवती के लज्जावसन बेच, जब ब्याज चुकाये जाते हैं ।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं ।

केदारनाथ अग्रवाल की निम्नलिखित कविता में यथार्थवाद का सजीव चित्रण है—

'चंद्रू चना चबैना खाता ।
मुफ्त मिले अपने जीवन के
घण्टों मिनट सैकड़ों को गिन
कभी नहीं वह दाम लगाता ।
भीख माँगते पैसा पाता ।
× × ×

कहीं एक कोने में बैठा
हाथ चरस की चिलम दबाये
शेष आयु का धुँआ उड़ाता
चन्दू चना चबैना खाता।

रामचन्द्र वर्मा की 'गाँव की हाट' शीर्षक कविता में यथार्थता का सजीव अंकन देखिए—

'आगे मैली सी चादर पर
बेनी हलवाई रक्खे है
कुछ गट्टे, तिलकुट और
जलेबी चोटे की।
गुड़पली और बताशा भी,
मक्खी, हड्डे औ गर्दे का
उसको कुछ भी ध्यान नहीं
वह छोटा अधनंगा बालक
निज माता की उँगली पकड़े
औ अपनी बहती नाकसुरक
है बड़े चाव से धेले की
उस पट्टी का रस चूस रहा
अपनी जवान चटकार रहा

बालकृष्ण जी 'नवीन' को भी आर्थिक दुर्दशा के कारुणिक चित्र उपस्थित करने में पूर्ण सफलता मिली है—

'लपक चाटते झूठे पत्ते जिस दिन मैंने देखा नर को।
उस दिन सोचा क्यों न लगादूँ आग आज इस दुनिया भर को।
यह भी सोचा क्यों न टेंटुआ घोंटा जाय स्वयं जगपति का।
जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृति का।'

कविवर पन्त भी यथार्थवाद के व्यापक प्रभाव से न बच सके। गाँव के बालकों के चित्रण में यथार्थता का पूर्ण पुट है—

मिट्टी से भी मटमैले तन
अध फटे कुचैले जीर्ण वसन
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए
ये गँवई लड़के, भू के धन।
कोई खंडित, कोई कुंठित
कृश बाहु पसलियाँ रेखांकित,
टहनी-सी टाँगें बढ़ा पेट
टेढ़े मेढ़े विकलांग घृणित !
जग जीवन धारा में बहते
ये मूक पंगु बालू के कण।'

प्रयोगवादी कविताओं में भी कहीं कहीं व्यंग्यनाओं अथवा नवीन अभि-व्यञ्जना के रूपों में यथार्थता पूर्ण रूप से लक्षित होती है। नागार्जुन ने आजकल के अफसरों पर कैसी चुटकी ली है।

'गांधी नेहरू से गुंजित है मन मन्दिर का आँगन,
यही चलाते पटना दिल्ली का हनुमनी इंजन ।
पहले के आई सी एस ठहरे, हो आए हैं लंदन ।
पहली बी पाते हैं साढ़े तीन हजारी वेतन,
मुंसिफ बना दमाद, भतीजे ने पाया 'प्रोमोशन'।
बेटे ने पकड़ा दामोदर वैली कार्पोरेशन,
ए० डी० ओ० थे ब्यालिस में, गोली चलवाई दन दन ।
अब तो करते रहते, निशिदिन नेताओं का कीर्तन ।'

आधुनिक युग भौतिकवादी युग है। धर्म, नीति मर्यादा की अपेक्षा आज मानव विलासिता की ओर अधिक आकर्षित है। यही कारण है कि अनेक कवियों द्वारा वासनापूर्ण, मर्यादाहीन चित्र चित्रित किये जारहे हैं। ऐसे चित्रों में प्रेम की अभिव्यक्ति अत्यन्त स्थूल एवं मांसल है। उसमें शृङ्गारिक नग्नता पर किसी प्रकार के आवरण डालने का प्रयत्न नहीं किया गया है।

'उन धान के कटे हुए खेतों के उस पार,
भैंस के पीछे एक काली सी किसान कन्या।

नाटे से बरगद की घनी उस छाँह में,
पास में मोटा सा लट्ठ लिये एक युवक
भैंस की पीठ पर कुहनी टिकाए हुए
देखते-ही देखते चिकौटी काटी उसने,
छातियाँ मसल दी और················

—मंगलमोहन

पंत जी की 'होली का हुड़दंग' आदि कविताओं में ग्राम-जीवन के उल्लास का चित्र यथार्थ ही है—

'सरकाती पट
खिसकाती लट
शरमाती झट
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट।
हँसती खलखल
अबला चंचल
ज्यों फूट पड़ा हो स्रोत सरल
भर फेनोज्वल दशनों से अधरों के युग तट।

उपर्युक्त विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यथार्थवाद का अंकन हमारे भारतीय साहित्य में आदिकाल से ही होता आया है। आधुनिक काल में पाश्चात्य संस्कृति, साहित्य और विचारधारा के प्रभाव से यथार्थवाद के दृष्टिकोण में किञ्चित परिवर्तन प्रतीत होता है। आज के यथार्थवाद की शैली केवल वर्णन प्रधान न होकर भाव-प्रधान भी है, फलतः आज का यथार्थवादी साहित्य वास्तविकता से बहुत दूर है। वह मानव की रागात्मक प्रवृत्ति को समुन्नत करने में असमर्थ है। भारतीय साहित्य के आदर्शवाक्य, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का पालन करने में अशक्त होने के कारण आधुनिक यथार्थवादी साहित्य के मूलोद्देश्य का भी परित्याग कर चुका है। उसमें नीरसता तथा शुष्कता का आधिक्य है। कतिपय साहित्याचार्य तो यथार्थवादियों पर अश्लीलता का आरोप लगाते हैं। वस्तुतः यथार्थवाद का कठोरतम सत्य कल्याणकारी सिद्ध नहीं होता है। कल्पना के अभाव में यथार्थवाद इतिहास का कलेवर धारण करता हुआ प्रतीत

होता है। अतः हिन्दी साहित्य को सशक्त बनाने के लिए यथार्थ के साथ आदर्श का समन्वय भी अति आवश्यक है। कविवर मैथिलीशरण जी के 'साकेत' में कहे हुए शब्द इसी मत का समर्थन करते हैं :--

'हो रहा है जो जहाँ पर हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिए कब क्या, कहाँ
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।
मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
वह तुम्हारे और तुम उसके लिये,
चाहिये पारस्परिकता ही प्रिये।'

गांधीवाद

गान्धीवाद महात्मा गान्धी की चिन्तन पद्धति का व्यापक नाम है। डाक्टर नगेन्द्र के मतानुसार गान्धीवाद दार्शनिक शब्दावली में आध्यात्मिक मानवतावाद कहा जा सकता है। वस्तुतः गान्धी जी के व्यक्तित्व के अनेक पक्ष थे। वह महान् विचारक, अद्भुत चिन्तक, कुशल राजनीतिज्ञ, सच्चे समाज सुधारक, शिक्षा-शास्त्री, अर्थ वेत्ता और धर्मोपदेशक थे। उनका ज्ञान अपार था एवं अनुभव असीमित। वह कर्मवीर थे। क्रियात्मकता में अमर विश्वास रखते थे। अतः गान्धी जी के स्वानुभूत व्यवहार-दर्शन एवं अभिव्यक्त विचारसरणि का नाम ही गान्धीवाद है।

गान्धी-विचारधारा के तीन मूलाधार हैं—सत्य, अहिंसा और सेवा। गान्धी जी के शब्दों में सत्य शब्द का मूल सत् है। सत् के माने है होना, सत्य अर्थात् होने का भाव। वह सत्य अखण्ड एवं एक रस है। सम्पूर्ण चर-अचर मे इसी की सत्ता व्याप्त है। सत्य का दूसरा नाम परमेश्वर है।······इसलिए परमेश्वर का सच्चा नाम सत् अर्थात् सत्य है। उसी एक सत् अथवा सत्य से अनुप्राणित सभी प्राणी समान अस्तित्व रखते हैं। गान्धीजी ने व्यक्त किया है—'मैं ईश्वर की और इसलिए मानवता की नितान्त एकता में विश्वास करता हूँ।·········मैं मनुष्य की और इसलिए सभी जीवधारियों की परम आवश्यक एकता में विश्वास करता हूँ।'

'ईश्वरऐक्य और ईश्वर में सम्पूर्ण जीवन के ऐक्य' की इसी स्वीकृति अथवा दूसरे शब्दों में आत्मा की इस चरम एकता के सिद्धान्त से गान्धी जी को विश्व-बन्धुत्व तथा अनिवार्य प्रभाव के दो मौलिकतत्वों की अनुभूति हुई। समबुद्धि के परम सिद्धान्त से गान्धी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'यह महान् सत्य मनुष्य को ईश्वर की सृष्टि का स्वामी नहीं सेवक बनाता है।' अनिवार्य प्रभाव के सम्बन्ध में गान्धीजी ने यह व्यक्त किया कि मनुष्य अपने मूल रूप में आत्मा है। इसलिए 'जो घटना एक शरीरधारी पर घटती है उसका समग्र जड़ पदार्थ पर

और उसकी आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि यदि एक मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होता है तो उससे सारे संसार का लाभ होता है और यदि एक मनुष्य का पतन होता है तो उस अंश में सारे संसार का पतन होता है।' गान्धीजी ने परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सत्य को प्रथम स्थान दिया है। प्रत्येक स्थिति में सत्य का ही ग्रहण और सत्य का ही आचरण करना चाहिए। सत्य की रक्षा अपने प्राण देकर भी करना चाहिए।

अहिंसा सत्य का द्वितीय पक्ष है। वस्तुतः सत्य के साक्षात्कार से विश्वबन्धुत्व अथवा समबुद्धि की भावना का उदय होता है और समबुद्धि से अहिंसा का स्वाभाविक प्रादुर्भाव। अहिंसा हिंसा का निबंधमात्र नहीं, उसमें प्रेम की सम्प्राप्ति भी है। 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' अर्थात् अहिंसा के प्रतिष्ठा से वैरभाव का लोभ होता है। गान्धी जी का उपदेश है कि —'यदि मैं अपने विरोधी को मारूँ तो वह हिंसा है। सच्चा अहिंसक बनने के लिये मुझे उससे प्रेम करना चाहिए और वह मुझे मारे तो भी उस के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।' अतः अहिंसा में अभावात्मक वैरत्याग, भावात्मक चराचर प्रेम तथा पूर्ण निष्काम भाव का समन्वय है। यह स्वार्थ मोह, आसक्ति आदि से भिन्न है।

अहिंसा की प्राप्ति के लिए आत्मशुद्धि परमावश्यक है। आत्मशुद्धि के लिए अहंकार के पूर्ण उत्सर्ग की आवश्यकता है, अहंकार से मुक्त होने के लिए तप और भगवत् भक्ति अति वाञ्छनीय है। तप का अर्थ है रागभोग का त्याग तथा आत्म-पीड़न। पीड़ा के ताप से अहंकार विलीन हो जाता है और आत्मा कञ्चन के सदृश निर्मल हो जाती है भगवद् भक्ति ईश्वर के अमर विश्वास तथा अनुग्रह से सुलभ है इसीलिए गान्धी जी का विश्वास था कि —'मैं बिना हवा-पानी के रह सकता हूँ लेकिन बिना ईश्वर के नहीं।' इस प्रकार आत्म शुद्धि में व्यष्टि-हित ही नहीं अपितु समष्टि हित निहित है। इससे व्यक्ति का उत्थान तो होता ही है, समाज और राष्ट्र का भी इस विवेचन से अहिंसा की महिमा पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है।

गान्धीवाद त्याग और तप का समर्थन करता है तथा भोग का तिरस्कार। तप से हमारे पाप का ही नाश नहीं होता है पाप मात्र का नाश होता है।

गांधीवाद अध्यात्मिक दृष्टि से निर्गुण भक्ति की परम्परा में आता है किन्तु सगुण भक्ति का उस पर पूर्ण प्रभाव है। उसमें भगवान की सगुणता का पूर्ण आग्रह है किन्तु वह भगवान के लीलामय व्यक्ति रूप को स्वीकार नहीं कर पाया। इसीलिए गान्धीवाद में भोग एवं आनन्द की उपेक्षा कर मुक्ति कामना है। सेवा मुक्ति की प्राप्ति के लिए उपेक्षित साधन है। अतः मुक्ति साध्य और सेवा साधन। वस्तुतः सत्य और अहिंसा की पूर्ति सेवा से ही होती है। सत्य अहिंसा की पुनीत भाव शिला पर सेवा को प्रश्रय मिलता है। त्याग और तप सेवा की उत्कृष्टता के द्योतक हैं। इसीलिए गान्धी जी पर-पीड़ा हरण में ही वैष्णवता की सार्थकता मानते हैं। वही सच्चा वैष्णव है जो दूसरे के शोक पर द्रवित हो जाता है—

'वैष्णव जन तो तेने कहिए, पीर पराई जाने रे।'

इस प्रकार सत्य, अहिंसा और सेवा गान्धीवाद के मूलाधार है। गन्तव्य तक पहुँचने के लिए तीनों विशिष्ट साधनों का प्रयोग आवश्यक है। अभीप्सित हेतु तीन का उपयोग अति वाञ्छनीय है। गान्धीवाद की प्रमुख दैन यह है साध्य के साथ-साथ साधन की पवित्रता भी होना चाहिए साध्य और साधन-दोनों की पवित्रता पर ही सर्वोदय सम्भव है। सर्वोदय का अर्थ है सब की उन्नति, उसका ध्येय है हृदय परिवर्तन। सर्वोदय के लिए सत्य अनिवार्य है अतः सत्याग्रह जीवानादर्श। रामराज्य की संकल्पना सत्याग्रह और सर्वोदय पर ही अवलम्बित है। संक्षेप में सत्याग्रह गान्धीजी का जीवनादर्श है। सर्वोदय समाजादर्श और शासनादर्श।

गान्धीवाद का विवेचन करते हुए किशोरलाल मशरूवाला ने उनके सिद्धान्तों को तीन भागों में विभक्त किया है-वर्णव्यवस्था, ट्रस्टीशिप और विकेन्द्रीकरण। आचार्य विनोवाभावे की व्याख्या के अनुसार गांधीजी का विचार समाज की बंधी हुई कल्पनाओं को तोड़ने के स्थान पर समाज को परिष्कृत तथा विकसित करने का था। गान्धी जी ने स्वमान्य वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत—पारिश्रमिक की समानता, प्रतिद्वन्द्वता के अभाव तथा आनुवंशिक संस्कार से लाभ उठाने वाली शिक्षण योजना के प्रसार को हितकर समझा। ट्रस्टीशिप के अन्तर्गत आत्म-विश्वास के साथ अखिल जीवमात्र के हित के लिए शिवमय कार्य करने का आदेश दिया है। विकीन्द्रीकरण के अन्तर्गत केवल गाँवों को विकेन्द्रित करना

ही नहीं, राजसत्ता का विकेन्द्रीकरण भी है।

इस प्रकार गान्धीवाद में लोक-कल्याण की भावना प्रमुख है। इसीलिए गान्धी जी ने कला को अनिवार्य्यतः लोक कल्याण के साधन के रूप में स्वीकार किया। वस्तुतः उन्होंने कला के सत्य और शिव रूप को ही माना। सौन्दर्य के प्रति वह अन्यमनस्क से रहे, फलतः उनकी दृष्टि में नीति, हितकारिता तथा उपयोगिता---कला के स्वाभाविक गुण हैं। यही कारण है कि गान्धी जी का कला पर सीधा प्रभाव नहीं पड़ा। अप्रत्यक्ष रूप से आधुनिक भारतीय साहित्य पर उनकी स्पष्ट छाप है। साधारणतः जिन आदर्शों, भावनाओं एवं विचारों ने भारतीय जीवन को अनुकरणीय एवं स्पृहणीय बनाया, गान्धी जी उन्ही की पुनर्व्यवस्था के लिए देवदूत के रूप में दर्शन देते हैं। फलतः हिन्दी साहित्य में गान्धीवाद की पूर्ण छाप हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में सत्याग्रह हृदय परिवर्तन, स्वाधीनता संग्राम, सत्य-अहिंसा के शस्त्रों का प्रयोग, आश्रमों की स्थापना, नारी सुधार आदि द्वारा गान्धीवाद की अनेक भावनाओं, विचारों एवं आदर्शों का अभिव्यक्त किया गया है। सेवा सदन, प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, रंगभूमि, गबन आदि उपन्यासों में गान्धीवाद के विविध पक्ष व्यक्त किये गये हैं। इसी प्रकार नमक का दरोगा, समर यात्रा, जुलूस, लागडाट आदि कहानियों में गान्धीवाद के व्यवहार पक्ष को अपनाया गया है।

सुदर्शन, कौशिक, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, सियारामशरण गुप्त आदि कथाकारों ने भी गान्धीवाद की परिस्कृति को पूर्णतः स्वीकार किया है। इनमें से सियारामशरण गुप्त तथा जैनेन्द्र जी पर गान्धीवाद का विशेष प्रभाव है। जैनेन्द्र जी की स्वीकृति एकान्त और बौद्धिक है। वह गान्धीदर्शन के शम, सात्विक प्रभाव को स्वीकार नहीं कर पाये है। सियारामशरण गुप्त में गान्धीदर्शन के प्रतिपूर्ण आस्था है। उनके हृदय और बुद्धि-दोनों का गान्धीदर्शन के साथ पूर्ण सामंजस्य है।

कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, सुमित्रानन्दन पन्त, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी, माखन लाल चतुर्वेदी, हरिवंशराय बच्चन रघुवीर शरण मिश्र आदि ने गान्धीवाद को काव्य

की वाणी दी है। मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा और साकेत में गान्धीदर्शन की सशक्त अभिव्यक्ति है। उनकी अन्य रचनाओं में भी गान्धीवाद की पावन झाँकी होती है। निम्नलिखित पदों में अहिंसा का अभिनन्दनीय रूप अंकित है—

"हमारी असि न रुधिर रत हो।
न कोई कभी हताहत हो।
शक्ति से शक्ति न अवनत हो।
भक्तिवश जगत एतमत हो।
वैरियों का वैर-क्षय हो।
दयामय भारत की जय हो।"

× × ×

"निज हिंसा को, लो हुसैन का माँस खिलाओ।
मेरे रुधिर पियासु! इसे तो नीर पिलाओ।"

—मैथिलीशरण गुप्त।

रामनरेश त्रिपाठी में भी सत्य और अहिंसा के प्रति पूर्ण निष्ठा है—

'मैं निडर हूँ, मौत से डरता नहीं।
सत्य हूँ मिथ्या डरा सकती नही।
मैं निडर हूँ सत्य का क्या काम है?
मैं अहिंसक हूँ न कोई शत्रु है॥'

—रामनरेश त्रिपाठी

पन्त जी छायावाद से समाजवाद की ओर बढ़ते गान्धीवाद की आध्यात्मिकता को अपनाते जा रहे हैं। उन्होंने युगवाणी में गान्धीवाद का सुन्दर विवेचन किया है—

"गान्धीवाद जगत में आया ले मानवता का नव मान।
सत्य, अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण।
गान्धीवाद हमें देता जीवन पर अन्तर्गत विश्वास।
मानव की निःसीम शक्ति का मिलता उससे चिरआभास।
व्यक्ति पूर्ण बन, जगजीवन में भर सकता है नूतन प्राण।
विकसित मनुष्यत्व कर सकता पशुता से जनका कल्याण।

मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गान्धीवाद ।
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद ।''

माखनलाल चतुर्वेदी जी की रचनाओं में भी गान्धीवाद की स्पष्ट एवं सशक्त अभिव्यक्ति है । श्री सोहनलाल द्विवेदी जी की रचनाओं में गान्धीवाद का पूर्ण पुट है तथा उन्हें गान्धीवादी कवि के नाम से ही सम्बोन्धित किया जाता है । उनका 'कुणाल' खण्ड काव्य अहिंसा की पवित्र संकल्पना तथा उसकी अमर विजय का अद्वितीय ग्रंथ हैं ।

हरिकृष्ण प्रेमी ने 'वन्दना के बोल' में गान्धी जी का अभिनन्दन पूर्ण श्रद्धा एवं सम्मान से किया है—

'ईश के सब पूत पावन है बड़ा छोटा न कोई ।
फिर बताया हिन्दुओं को चिर पुरातन ज्ञान तूने ।
मानवोचित हरिजनों को फिर दिलाया स्थान तूने ।
कर्म कोई है न ऊँचा, कर्म कोई है न नीचा ।
उच्च वर्णों के हृदय का कम किया अभिमान तूने ।
मानवोचित हरिजनों को फिर दिलाया स्थान तूने ।'

सियाराम शरण गुप्त पर गान्धीवाद के सिद्धान्तों की अमिट छाप है । मानवता के लिए गांधीजी की सबसे बड़ी देन-'अभयदान' है । सियाराम शरण जी गुप्त ने स्वकृति 'बापू' में गान्धी जी के उस अमर वरदान का सुन्दर चित्रण किया है—

जिसने किया है महातंक छिन्न
विश्व के प्रपीड़ितों के अन्तर से;
बोध का प्रदीप दीप्त करके
जिसने दिखाया-दीन दुर्बल नहीं है हीन,
वह है निरस्त्र भी महत्वासीन,
अपने अजेय आत्मबल से;
अन्य के अपार शक्ति-छल से
रिक्त सर्वथैव वह एक मात्र स्वेच्छाधीन ।

इसी प्रकार 'उन्मुक्त' में कवि ने हिंसा पर अहिंसा की विजय दिखलायी है—

हिंसानल से शान्त नही होता हिंसानल
जो सबका है, वही हमार भी मंगल है,
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।'

'नोआखाली' और 'जयहिन्द' में कविवर गुप्त गान्धीदर्शन का अभिनन्दन करते हुए दिखाई देते हैं। यही नहीं गुप्त जी ने 'पुण्यपर्व' नाटक में भी हिंसा-अहिंसा के संघर्ष को दिखाते हुए आत्मबल द्वारा पशुबल पर विजय दिखाई है। बलि की व्याख्या मार्मिक है—

'बलि का अभिप्राय यह नहीं कि हम अपनी या किसी दूसरे की हत्या कर डालें। हमारे भीतर जो अहंभाव है, भगवान चरणों मे उसी की बलि देना ही सबसे बड़ी बलि है।'

संक्षेप में सियारामशरणगुप्त ने गान्धी जी के तात्विक पक्ष को पूर्ण रूपेण अपनाया है। उन्होंने अपने अहंकार को पूर्ण रूप से पीड़ा में मिला दिया है। इसीलिए उनकी कविता का मूल गुण संवेदन शीलता है जिसमें गान्धीवाद कूट-कूट कर भरा है।

रघुवीर शरण मित्र ने गान्धी जी के जीवन पर 'जननायक' महाकाव्य का प्रणयन किया है। उसमें गान्धी जीवन एवं गाँधी दर्शन की मार्मिक एवं साँगोपागीय व्याख्या है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गाँधी विचारधारा हमारे हिन्दी काव्य में पूर्णरूप से व्यक्त हुई है। साहित्य के विभिन्न अङ्कों—कविता, नाटक, उपन्यास, कहानियों आदि सभी में गान्धी दर्शन की विशिष्ट मान्यताएँ यत्र-तत्र अत्यन्त आकर्षक रूप में चित्रित की गयी है। फलतः अधिकांश हिन्दी साहित्य पर गान्धीवाद का गहन और अन्तर्व्यापीय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।